हिंदी कथा साहित्य का नाट्य रूपान्तरण और हिंदी रंगमंच का विकास

में पीएच. डी. हिंदी उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध

शणै गोंयबाब भाषा एवं साहित्य महाशाला

हिंदी अध्ययन शाखा

गोवा विश्वविद्यालय

शोधार्थी

चन्दन कुमार

जुलाई 2023

DECLARATION

I, Chandan Kumar hereby declare that this thesis entitled **'हिंदी कथा साहित्य का नाट्य रूपान्तरण और हिंदी रंगमंच का विकास'** **'Hindi katha sahitya ka natya roopantaran aur Hindi rangmanch ka Vikas'** represents work which has been carried out by me and that it has not been submitted, either in part or full, to any other University or Institution for the award of any research degree.

Place: Taleigao Plateau
Date:

CHANDAN KUMAR
Research Scholar
Shenoi Goembab School of
Language & Literature
Hindi Discipline
Goa University

CERTIFICATE

I, hereby certify that the above Declaration of the candidate, Chandan Kumar is true and the work was carried out under my supervision.

Prof. Vrushali Mandrekar
Vice Dean (Academic)
Shenoi Goembab School of Language & Literature
Hindi Discipline
Goa University
Goa-403206

प्राक्कथन

भारतवर्ष में कथा कहने की प्रथा अति प्राचीन है। इन कथाओं में समाज दर्शन और जीवन जीने के साथ-साथ नैतिक शिक्षा पर ज्यादा बल दिया जाता है। इन कथाओं में पौराणिकता की झलक ज्यादा रहती है। साथ ही कथा को अभिव्यक्त करने की शैली भी विभिन्न है। भारतवर्ष में पौराणिक कथाओं का रूपांतरण उसकी संप्रेषणीयता और लोकप्रियता, पाठ से अधिक प्रदर्शन में निरुपित होती थी, कहने का आशय यह है कि पाठ्य को जब दृश्य-श्रव्य विधा में परिवर्तित किया जाता था, तब वह सामान्य वर्ग के लिए बन जाता था।

हिंदी साहित्य और इतिहास की कथाओं में भाव को समझाने के लिए नाट्य शैली का प्रयोग किया जाता है, इस प्रयोग में उपकरणों के प्रयोग से उसे और भी प्रभावी बनाया जाता है। रामलीला, रासलीला और पौराणिक कथाओं का नाट्य रूपांतरण अपने कथानक, वेशभूषा, रूपसज्जा, दृश्यबंध, संकलनत्रय, संवाद, गीत-संगीत से युक्त होकर कथा को नया रूप देता है और साहित्य रूपांतरण एक रूप से दूसरी विधा का पुनः सृजन होता है। यह पुनः सृजन नए भाव बोध के साथ-साथ दृश्य बोध की भी उत्पत्ति करता है। पहले संस्कृत में और आधुनिक साहित्य में हिंदी रंगमंच पर साहित्य की विविध विधाओं का नाट्य रूपांतरण हो रहा है।

पहला अध्याय **नाट्यरूपान्तरण के स्वरूप और विकास** पर केन्द्रित है। इस अध्याय में रूपांतरण के साहित्यिक रूप और प्रक्रिया के साथ साथ कथा साहित्य और रंगचेतना के सम्बन्धों को भी बारीकी से देखा गया है। कथा साहित्य के नाट्य रूपान्तरण की वर्तमान स्थिति पर भी शोध किया गया है। साधारण भाषा में परिवर्तित रूप के सकारात्मक पक्ष को विकास कहा जाता है, साहित्य में किसी कथा के पाठक वर्ग के विकास को दर्शक रूप में देखा जाता है और इसे ही रूपान्तरण की संज्ञा दी जाती है। इस अध्याय में रूपान्तरण के प्रकार के विषय में बताया गया है। रामलीला और रासलीला का संक्षिप्त इतिहास भी बताया गया है। किसी कहानी को मंच पर ले जाने तक नाट्य रूपान्तरण करने वाले और निर्देशक को चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। कहानी के रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण में भेद को भी इस अध्याय में बताया गया है।

दूसरा अध्याय **हिंदी रंगमंच का स्वरूप एवं विकास** पर केन्द्रित है। नाट्यशास्त्र की परिभाषा से लेकर वर्तमान समय में उन परम्पराओं और रूढ़ियों को किस तरह से दिखाया जाता है, पर चर्चा की गई है। रंगमंच में किए नवीन प्रयोगों को भी देखा गया है। रंगमंच में आए नए बदलावों के साथ-साथ नाट्य संस्थाओं के विषय में भी लिखा गया है। वर्तमान दौर में इस क्षेत्र में कई मुख्य

संस्थाएं रंगमंच के लिए कार्य कर रही हैं उन पर भी चर्चा की गई है। इस अध्याय में हिंदी रंगमंच के विकास से सम्बन्धित मुद्दों को रेखांकित किया गया है।

तीसरा अध्याय **हिंदी कहानी का नाट्य रूपांतरण** पर आधारित है। वर्तमान समय में नाट्य रूपांतरण को एक सशक्त विधा के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। विगत समय में कविता, कहानी और उपन्यास का नाटक में, नाटकों का फिल्मों में रूपांतरण हो रहे हैं। जब कहानियां मंच पर उतरती हैं तो उनका स्वरूप भी पहले से कुछ विलग सा होता है। यह समझने में कोई आश्चर्य नहीं कि पढ़ने के बजाए देखी गई चीजें हमें ज्यादा याद रहती हैं शायद इसीलिए कहानी की तुलना में नाटक अधिक प्रभावशाली माध्यम माना जाता है। जब कहानियां मंच पर जाती है तब इनमें संवाद की विविधता, प्रकाश विन्यास, रूप सज्जा, संगीत और एक साथ कई सौ दर्शकों को कहानी का रसास्वादन मिलता है।

चौथा अध्याय **हिंदी उपन्यास का नाट्य रूपान्तरण** पर केन्द्रित है। किसी भी कथा को पढ़ते-सुनते हुए पाठक या श्रोता के मन की आंखों के सामने जो दृश्य जगत बनता चलता है, उसे ज्यों-का-त्यों मंच पर साकार करने से ही कहानी या उपन्यास के मंचन का सरोकार है। रूपान्तरण में स्थान और समय के आधार पर कथाओं का विभाजन कर के दृश्यों को लिखा जाता है। यह देखना आवश्यक है कि प्रत्येक दृश्य का कथानक के अनुसार औचित्य हो। 'कथा का रंगमंच' में कथा और रंगमंच एक-दूसरे से अलग होते हुए भी अपनी रचना और प्रस्तुति प्रक्रिया में इतने निकट आ जाते हैं कि कथा में रंगमंच है अथवा रंगमंच पर कथा है, यह भेद करना कठिन हो जाता है। अध्याय लेखन में मूल कृति का नाट्य रूपान्तरण से तुलनात्मक अध्ययन तथा नाट्य रूपान्तरण एवं नाट्यमंचन विश्लेषण भी किया गया है।

पांचवा अध्याय **हिंदी रंगमंच के विकास में कथा साहित्य का योगदान** पर केन्द्रित है। वर्तमान समय में रंगमंच के साथ सिने रंगमंच का भी प्रादुर्भाव हुआ है अर्थात रंगमंच के विविध आयामों के विषय में अध्ययन किया गया है। कथा साहित्य में आए नाटकीय तत्वों के विषय में भी चर्चा की गई है। जब किसी कथा को रंगमंचीय शैली में परिवर्तित किया जाता है, उसमें रंग चेतना और उसके प्रभाव को भी अध्याय का आधार बनाया गया है। अंत में उपसंहार दिया गया है।

प्रस्तुत शोधकार्य निर्देशक प्रो. वृषाली मान्द्रेकर के उत्साहवर्धन, मार्गदर्शन व सानिध्य में संपन्न हुआ। इस शोध की यात्रा अंतर्मन से बाहर की ओर तथा बाहर से भीतर की ओर की यात्रा रही है। कई बार इस यात्रा में पैर डगमगाए लेकिन शोध निर्देशक ने जड़ की भांति थामे रखा। आपके

अमूल्य परामर्श, कुशल निर्देशन, कठोर परिश्रम एवं नियमित प्रेरणा के फलस्वरूप ही मेरा शोधकार्य प्रस्तुत हो सका है। आपकी विद्वता और प्रोत्साहित करने वाली प्रवृति सदैव प्रेरणा देती रहेगी। मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। मैं विभाग के स्वर्गीय प्रो. रविद्रनाथ मिश्र, प्रो. इशरत बी खान, डॉ. रमिता गुरव, डॉ. बिपिन बिहारी तिवारी का भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मार्गदर्शन किया। मैं अपने माता-पिता और मित्रों को भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे मानसिक रूप से पूर्ण सहयोग प्रदान किया। मैं कृतज्ञ हूँ अपनी जीवन संगिनी नित्या के प्रति जिनके स्नेह, उत्साहवर्धन तथा पूर्ण सहयोग ने शोध कार्य की पूर्णता में एक अभिप्रेरक की भूमिका का निर्वहन किया। मैं अपने सभी सहयोगियों का भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

अनुक्रमणिका

1 नाट्य रूपान्तरण का स्वरूप और विकास

1.1 रूपान्तरण : परिभाषा एवं विभिन्न रूप
1.2 रूपान्तरण का साहित्यिक रूप और प्रक्रिया
1.3 कथा साहित्य और रंग चेतना का अंतः सम्बन्ध
1.4 नाट्य रूपान्तरण : प्रकृति, तकनीक और कला
1.5 नाट्य रूपान्तरण की वर्तमान स्थिति

2 हिंदी रंगमंच का स्वरूप और विकास

2.1 भारतेंदु पूर्व रंगमंच
2.2 भारतेन्दुकालीन हिंदी रंगमंच
2.3 प्रसादयुगीन हिंदी रंगमंच
2.4 मोहन राकेश और हिंदी रंगमंच का विकास
2.5 प्रसादोत्तर हिंदी रंगमंच
2.6 साठोत्तरी हिंदी रंगमंच
2.7 इक्कीसवीं सदी का रंगमंच

3 हिंदी कहानी का नाट्य रूपान्तरण

3.1 पंच परमेश्वर
3.1.1 कथानक के स्तर पर
3.1.2 संवाद के स्तर पर
3.1.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर
3.1.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

3.2 चीफ की दावत
3.2.1 कथानक के स्तर पर
3.2.2 संवाद के स्तर पर
3.2.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर
3.2.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

3.3 तीसरी कसम

3.3.1 कथानक के स्तर पर

3.3.2 संवाद के स्तर पर

3.3.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

3.3.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

3.4 तीन एकांत

3.4.1 कथानक के स्तर पर

3.4.2 संवाद के स्तर पर

3.4.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

3.4.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

4 हिंदी उपन्यास का नाट्य रूपान्तरण

4.1 राग दरबारी

4.1.1 कथानक के स्तर पर

4.1.2 संवाद के स्तर पर

4.1.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

4.1.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

4.2 मैला आंचल

4.2.1 कथानक के स्तर पर

4.2.2 संवाद के स्तर पर

4.2.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

4.2.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

4.3 महाभोज

4.3.1 कथानक के स्तर पर

4.3.2 संवाद के स्तर पर

4.3.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

4.3.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

4.4 बाणभट्ट की आत्मकथा

4.4.1 कथानक के स्तर पर

4.4.2 संवाद के स्तर पर

4.4.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

4.4.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

5 हिंदी रंगमंच के विकास में कथा साहित्य का योगदान

5.1 हिंदी रंगमंच के नए आयाम

5.2 विधा और रूपान्तरण का अंतः सम्बन्ध

5.3 विधा का रंगमंचीय ढांचा

5.4 रंगमंचीयता की समस्या और स्वरूप

5.5 मूल कथा और नाट्य रूपान्तरण की तुलना

उपसंहार

अध्याय 1

नाट्य रूपांतरण का स्वरूप और विकास

1.1 रूपांतरण : परिभाषा एवं विभिन्न रूप

यह जगत निरंतर गतिशील और परिवर्तनशील है, कोई भी वस्तु, जीव, समय, मनुष्य एक जैसा सदैव कभी नहीं रह सकता है। किसी वस्तु के बनने और मनुष्य के जन्म लेने के साथ मृत्यु तक जाने की इस यात्रा में वस्तु और मनुष्य कई रूप में आते हैं। मनुष्य शैशव अवस्था से शुरू होते हुए अपनी इस यात्रा में बाल्यावस्था, किशोरावस्था, व्यस्कावस्था और प्रोढ़ावस्था से होते हुए वृद्धावस्था तक जीवन के कई रूप के दर्शन करता है। वहीं वस्तु नए से पुराने के इस सफ़र में बनना और टूटना फिर उसकी मरम्मत होना, अंत में टूट जाना। इस परिवर्तन में वह रूप में परिवर्तित होता है या ऐसा कहें प्रकृति उसे नए रूप में ढाल देती है। ठीक कुछ ऐसा ही सम्बन्ध किसी भी भाषा के साहित्य के सृजन होने से और उसके लोक में जाने के बाद उसके साथ किए गए प्रयोग उसकी नई विधा में परिवर्तित कर उसके आस्वादन में वृद्धि करते हैं। साहित्य, समाज और मनुष्य तीनों एक दूसरे के लिए दर्पण की भांति काम करते हैं। इस दर्पण में उस समय की छाया दिखाई पड़ती हैं क्योंकि दर्पण का काम जस का तस दिखा देना होता है जबकि परछाई में कभी इसका रूप लम्बा, कभी इसका रूप छोटा, कभी मोटा तो कभी पतला और कभी गायब भी हो जाता है अर्थात साहित्य में इसका प्रभाव अपने नए रंग को किसी और ढंग में दिखाता है। इनका एक दूसरे के प्रति अनुकूल रहने से इनके विकासात्मक रवैये में परिवर्तन आता है। हमेशा परिवर्तनशील रहने से इनके रूप का विस्तार बढ़ता रहता है। रूपान्तरण की परिभाषा "किसी एक रूप को दूसरे रूप में अंतरित करना रूपान्तरण कहलाता है।"[1] विभिन्न शब्दकोश में भी रूपांतरण को केवल रूपान्तर लिखा गया है, जिसका स्पष्ट रूप है किसी भी रूप का दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाना। साधारण भाषा में एक माध्यम से किसी दूसरे माध्यम में तब्दील करना ही रूपान्तरण कहलाता है। साहित्य में यह रूपान्तरण एक दूसरे साहित्यिक रूप का विकसित रूप है। इसे विस्तृत रूप में देखने पर पाते हैं कि रूपांतरण प्रकृति का ऐसा अद्भुत चमत्कार है जिसके द्वारा संसार के तत्वों में प्रत्यक्ष या गुणात्मक परिवर्तन तथा वृद्धि की क्रिया निरंतर चलती रहती है। रूपांतरण में विकसित रूप भी देखने को मिलता है तथा उसी रूप में उसका नया रूप भी देखने को मिल जाता है।

[1] करण सिंह उत्वाल : कहानी का रंगमंच और नाट्यरूपान्तरण , पृष्ठ संख्या - 21

यह रूपांतरण का एक रूप है जैसे किसी गुलशन में किसी कलि का फूल बन के खिल जाना, कालान्तर में साधारण सी दिखने वाली मिट्टी के ढेर का विशालकाय भारी भरकम चट्टान में परिवर्तित हो जाना, किसी नगर अथवा गाँव में फैली हुई गंदगी का उपजाऊ खाद बन कर खेतों में पूर्ण रूप से विलीन हो जाना, मंच पर जाते ही साधारण से मनुष्य का चरित्र बदल जाना, किसी समारोह अथवा स्वानुभूति के लिए गीत गाने हेतु अपनी आवाज़ को परिवर्तित करना रूपांतरण का ही एक परिणाम है। यह सामान्य अर्थ माने एक रूप से किसी दूसरे रूप में बदल जाने की क्रिया ही रूपांतरण का अर्थ है। यह विकसित रूप किसी भी तरह से पहले से परिवर्तित रूप से भिन्न है। "हमारे स्वयं की चेतना के किसी भी हिस्से के अंश को किसी भी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता है। उसका कुछ न कुछ अंश रह जाएगा। यदि इसका दमन भी किया जाए तो इसका दमन अधिक समय के लिए संभव नहीं क्योंकि जिसका दमन किया गया उसे हमेशा के लिए पराजित करना पड़ता है। जबकि रूपांतरण में किसी तरह का दमन नहीं बल्कि उसी का बोध होता है। मानव के इस चरित्र में वह समाज की गंदगी को हटाना नहीं चाहता, बल्कि सुगन्धित खाद में परिवर्तित करना चाहता है।"[2] अत: जीवन के संघर्ष-पथ पर चलते हुए भी वह सदैव दुष्प्रवृत्तियों का सद्गति में रूपांतरण करने का संकल्प करना ही मनुष्य की मनुष्यता की सही परिभाषा है। यही परिभाषा साहित्यिक रूप में हमारे समक्ष है। अर्थात अपने चरित्र में किसी भी दुर्भावना को स्थान्तरण कर के सद्भावना का रूप लेना मनुष्यता की पहचान है। यह चरित्र में रूपांतरण का रूप पृथक सा है जबकि वह मनुष्य द्वारा रचित साहित्य में उसके रूप एक दूसरे से जुड़े हुए रहते हैं। जिनके विषय में पता लगाने के लिए उनकी जड़ों को भी देखना पड़ता है।

रूपांतरण का कार्य क्षेत्र बहुत व्यापक है। रासायनिक विज्ञान, भाषा विज्ञान, वाणिज्य, अध्यात्म, भक्ति इत्यादि सब में इसके किसी न किसी रूप की झलक देखने को मिल ही जाएगी। इससे अलग जब इसे साहित्यिक रूप में देखा जाने लगा तो इसका वर्गीकरण हो गया। इसके दो रूप एक होते हुए भी अलग से प्रतीत होते हैं जिसमें रूपान्तरण और भाषांतरण एक रूप से देखे जाते हैं इसके अतिरिक्त माध्यमांतरण और अंत में लिप्यन्तरण को रखते हैं। जब इसे भागों में विभक्त करते हैं जब इसकी गति किसी और दिशा की ओर जाती है और इसका प्रभाव भी किसी और तरीके से पड़ने लगता है। इस परिवर्तित रूप में भी सबका अपना अपना रूप निखर कर आता है। साहित्यिक रूप में इसे परिवर्तित रूप किसी अन्य माध्यम से देखने को मिलता है। कोई भी रूप दूसरे से भिन्न होते हुए कहीं न कहीं उसके मूल में उसका पहला रूप पहचान में आ ही जाता है।

---

[2] ओम प्रकाश शर्मा 'प्रकाश' : नाटकीय तत्व : व्याख्या और व्याप्ति, पृष्ठ संख्या 45

रूपान्तरण - इसमें मूल सामग्री संक्षिप्त या विस्तृत सरल या कठिन रूप में परिवर्तित होकर आती है। पात्रों के नाम देश काल या वातावरण आदि में परिवर्तित किए भी जाते है और नहीं भी।"[3] सभी साहित्यिक रूप में अंतरण संभव है। उदाहरण के रूप में 'मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' विलियम शेक्सपियर का एक कालजयी नाटक है, उसका रूपांतरण भारतेन्दु ने 'वेनिस का सौदागर' के रूप में किया है। ध्यातव्य हो कि साथ ही किसी अन्य साहित्यिक रूप का परिवर्तन भी संभव है। यह भी याद रखने योग्य बात है कि भारतेंदु का सबसे बड़ा योगदान नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में ही रहा है। उन्होंने ही पहली बार हिंदी साहित्य में मौलिक नाटकों का सृजन किया। मौलिक शब्द से यह स्पष्ट होता है कि इससे पहले रंगमंच पर संस्कृत और लौकिक भाषाओँ में रचे काव्यों को मंचन का रूप दिया जाता था। "भारतेंदु ने मौलिक और अनूदित दोनों विधाओं को मिलाकर कुल सत्रह नाटक लिखे। पाश्चात्य मूल नाटक के शाइलॉक, एंटोनियो, पोर्शिया, बैसोलियो जैसे नामों को भारतेंदु ने क्रमशः शैलाक्ष, अनंत, पुरश्री, बसंत जैसे कई नए नामों को रूपांतर किए हैं।"[4] ऐसे ही रूपांतरण में अनुवाद के रूप में की गई मौलिकता सबसे ज्यादा उभर कर सामने आती है। रूपांतरण और भाषांतरण तो यहाँ एक ही वर्ग में देखने की कोशिश की गई है क्योंकि दोनों के मूल में एक ही तत्त्व विधमान है। अनुवाद की दृष्टि से भाषान्तरण' और रूपान्तरण शब्द का प्रयोग भी एक ही स्थिति के लिए किया जाता रहा है लेकिन वर्तमान समय में दोनों ही शब्दों के नए अर्थ और प्रयोग प्रचलन में हैं। साहित्य की दृष्टि से देखने पर अनुवाद का भाव यही है कि किसी भी रचना का साहित्यिक-विधा के आधार पर अनुवाद किया जाए। जैसे किसी नाटक का फिर दोबारा से नाटक के रूप में ही अनुवाद किया जाए तो ऐसे अनुवादों में अनुवादक की अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा का वैशिष्ट्य दिखाना भी अपेक्षित हो जाता है। स्पष्ट है नाटक का रूप नाटक ही रहा लेकिन उसके कथानक और भाव को बिना अधिक परिवर्तित किए गए उसे फिर से मंच पर खेला जाना।

पाठ से मंच रूपांतरण के भी दो रूप देखे जा सकते हैं "एक, लिखित या मौखिक साहित्यिक विवरण का मंच प्रस्तुति के माध्यम में रूपांतरण। दूसरा, मूल रूप से मंच प्रस्तुति के लिए लिखे गए पहले से विद्यमान नाटक का एक भिन्न सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भ में तथा एक भिन्न अर्थ के साथ नाटक रूप में ही रूपांतरण। इन दोनों मामलों में 'पाठ'का अर्थ भिन्न हो जाता है। प्रथम उदाहरण में पाठ मूलतः मंच प्रस्तुति के लिए नहीं है किंतु द्वितीय उदाहरण में यह मंच प्रस्तुति के लिए निर्मित पहले से विद्यमान पाठ का रूपांतरण भिन्न रूप में है, जिसका मंचन भी किया जा सकता है। यदि किसी लघुकथा का नाटक में रूपांतरण और मंच प्रस्तुति होती है तो इसे

[3] भोलानाथ तिवारी : अनुवाद विज्ञान, पृष्ठ संख्या - 28

[4] कमला प्रसाद, राजेंद्र अरुण : नाटक की इबारत, पृष्ठ संख्या 71

प्रथम रूप में लिया जा सकता है। जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त'का मंचन दूसरे रूप का रूपांतरण है। इसी प्रकार 19वीं तथा 20वीं शताब्दियों में भिन्न अर्थों और अंतर्वस्तु के साथ शेक्सपीयर के नाटकों का विभिन्न भारतीय भाषाओं में रूपांतरण और मंचन दूसरे रूप के अंतर्गत आता है।"[5] पहले रूप में एक साहित्यिक विस्तार का नाटक और मंच रूपांतरण में साहित्यिक और मंच प्रस्तुति दो भिन्न माध्यम हैं। इस प्रकार के रूपांतरण में दो नियम काम करते हैं प्रथम तो पाठ-विस्तार बनाम पटकथा-विस्तार और दूसरा है वर्णन से रंगमंच का निर्देशन। पाठ विस्तार या पटकथा विस्तार और वर्णन से रंगमंच निर्देशन से यह अभिप्राय है कि कई सारी साहित्यिक कृतियां कई पन्नों की होती है अर्थात जैसे कोई भी उपन्यास 400-500 पृष्ठों का हो सकता है। उस उपन्यास का यह पाठ-विस्तार होगा किंतु जब कभी इस उपन्यास का मंचन होगा तब पटकथा 400 पृष्ठों की नहीं होगी और न ही हो सकती है। इसलिए उस नाटक की पटकथा मंच के लिए उपयुक्त समय-विस्तार पर आधारित होती है। सामान्यतः एक पटकथा की लंबाई लगभग 100-120 पृष्ठों की होती है। "पाठ अर्थात् उपन्यास के वर्णन में साहित्य के उपकरण, साहित्यिक विधाएँ, लेखन के साधन और समकालीन प्रक्रियाओं का प्रयोग होता है।"[6] किंतु नाटक के वर्णन में मंच के उपकरण जैसे कि परिधान एवं रूप-सज्जा प्रकाश, मंच, विशेष प्रभावों के लिए ध्वनिक और तकनीकी साधन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मंचन के लिए संवादों और दृश्यों को संयोजन किया जाता है।

इसी प्रकार रूपांतरण के भाग के रूप में वर्णन की शैली और तकनीक दोनों मूलभूत रूपांतरण से गुजरते हैं। कहानी को कहने या वर्णन करने के लिए वाचक होता है। "पाठ में लेखक वाचक होता है जो कहानी का वर्णन तृतीय पुरुष या प्रथम पुरुष के रूप में करता है। जब लेखक अपनी स्वयं की कथा न कहकर किसी अन्य व्यक्ति की कथा का वर्णन करता है तब उसे तृतीय पुरुष वर्णन कहते हैं। जब लेखक अपनी स्वयं की कथा का वर्णन करता है तब उसे प्रथम पुरुष वर्णन कहते हैं परंतु रंगमंच नाटक में वाचक तीन वर्गों में अर्थात् रंगमंच निर्देशक, नाटककार और वाचक के रूप में विभाजित हो जाता है जो वर्णन के लिए रंगमंच पर उपस्थित रहता है।"[7] इसे भारतीय नाट्यशास्त्र में सूत्रधार भी कहते हैं। साहित्यिक पाठ में निर्देशक और नाटककार में अंतर नहीं होता। कई बार सूत्रधार का चयन पाठ से रंगमंच रूपांतरण में एक और आयाम अर्थात् चरित्र-चित्रण का रूप ले लेता है। यहाँ दो प्रश्न उठते हैं एक सूत्रधार वाचक या पात्र हो सकता है और एक निर्देशक या नाटककार नाटक में चरित्र-चित्रण पर वैसा ही अधिकार रखता है जैसे साहित्यिक पाठ

[5] कृष्ण कुमार गोस्वामी : रूपान्तरण और अनुवाद, पृष्ठ संख्या 42
[6] कृष्ण कुमार गोस्वामी : रूपान्तरण और अनुवाद, पृष्ठ संख्या 43
[7] कृष्ण कुमार गोस्वामी : रूपान्तरण और अनुवाद, पृष्ठ संख्या 47

उपन्यास में एक लेखक रखता है। सूत्रधार वाचक के साथ-साथ पात्र भी हो सकता है। निर्देशक पटकथा के चरित्र-चित्रण का अनुसरण कर सकता है या इसकी पुनर्व्याख्या कर सकता है किंतु यह सब पटकथा के बृहत्तर ढाँचे में ही संभव है। "निर्देशक द्वारा उपलब्ध कराए गए विवरणों का अनुसरण अभिनेता कर सकता है या स्वयं ही उसका महत्व बढ़ा सकता है किंतु यह केवल नाटक के पूरे ढाँचे में किया जा सकता है। ये भिन्नताएँ अभिनय या निर्देशन के विभिन्न सिद्धांतों पर आधारित हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि पाठ के रंगमंचीय नाटक के रूपांतरण में कई ऐसे तात्विक अंतर हैं जिनके लिए सतर्क होना पड़ता है।"[8] ये सभी तत्व पाठ से मंचन में अर्थ परिवर्तन नहीं करते। एक भिन्न माध्यम से पाठ के अर्थ के संप्रेषण के लिए इन तत्वों की आवश्यकता होती है।

भाषान्तरण - किसी एक भाषा में लिखे गए साहित्यिक रूप का तथा विचारों का दूसरी अन्य भाषा में लिखित अथवा मौखिक रूप से प्रकट करना भाषांतरण कहलाता है। "इसे तरजुमा, अनुसरण, अनुवाद आदि भी कहते है।"[9] उदाहरणस्वरूप हिंदी कथा सम्राट प्रेमचंद के उपन्यास को देख सकते है। जहाँ 'बाज़ार-ए-हुस्न' का भाषांतरण सेवासदन के रूप में हुआ है। साधारण भाषा में कहें तो किसी भाषा में कही या लिखी गई बात को किसी दूसरी अन्य भाषा में सार्थक परिवर्तन अनुवाद भाषान्तरण कहलाता है। साहित्यिक रूप में देखें जाने पर हम पाते हैं कि संस्कृत साहित्य में अनुवाद शब्द का प्रयोग शिष्य द्वारा गुरु की बात को दोबारा बोले जाने, पुनःकथन, उनके समर्थन के लिए प्रयुक्त कथन, आवृत्ति जैसे कई संदर्भों में किया गया है। "अनुवाद को मुश्किल विधा इसीलिए भी मानी जाती है, क्योंकि वह कोई मौलिक लेखन नहीं है बल्कि पहले से कही गई बात को ही दोबारा कहना होता है। इसके विस्तारण में जाने पर हम पाते हैं कि किसी भी भाषा में अभिव्यक्त विचारों को उसके विपरीत दूसरी भाषा में यथावत प्रस्तुत करना भी अनुवाद की श्रेणी में आता है।"[10] इस विशेष अर्थ को समझने में ही अनुवाद शब्द का अर्थ स्पष्ट होता है। इसके साथ यह भी याद रखने योग्य है कि जिस भाषा से उसका अनुवाद किया जाता है, वह मूल भाषा अथवा स्रोत भाषा कहलाती है और उससे जिस दूसरी भाषा में उसका अनुवाद करना है, वह प्रस्तुत भाषा अथवा लक्ष्य भाषा कहलाती है। इस प्रकार वह स्रोत भाषा में प्रस्तुत भाव और विचार को बिना किसी बदलाव के लक्ष्य भाषा में प्रस्तुत करना ही अनुवाद है। "प्राचीन समय में श्रवण रूप का अधिक प्रचलन था क्योंकि लेखन की ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। एक ने कोई बात कही वही बात

[8] कृष्ण कुमार गोस्वामी : रूपान्तरण और अनुवाद, पृष्ठ संख्या 48

[9] करण सिंह उत्वाल : कहानी का रंगमंच और नाट्यरूपान्तरण, पृष्ठ संख्या - 21

[10] भोलानाथ तिवारी : अनुवाद विज्ञान, पृष्ठ संख्या - 42

किसी दूसरे ने कहीं और जाकर कही इसमें शब्दों और भावों का परिवर्तन संभव है यह भी अनुवाद का एक रूप है। अनुवाद में अनुसृजन और रूपांतरण दो पहलू हैं। इन दोनों ही आयामों में बहुत ही मामूली अंतर है। अनुवाद के इन दोनों रूपों में समानता यह है कि ये दोनों ही लक्ष्य भाषा के समाज और संस्कृति के संदर्भ में मूलपाठ या स्रोतभाषा के पाठ की पुनर्रचना या पुनर्गठन करते हैं।"[11] पुनर्रचना की प्रक्रिया के अंतर्गत इन दोनों के बीच एक और समानता भी मिलती है जिसमें अनुसृजन एवं रूपांतरण की प्रकृति को समझने और व्याख्या करने के लिए लक्ष्य भाषा के समाज और संस्कृति की प्रकृति और स्वरूप की निर्णायक भूमिका होती है।

अब हम इसके स्वरूप को देखेंगे तो हम पाते हैं कि अनुवाद एक लिखित विधा का रूप है, जिसे करने के लिए कई संसाधनों की आवश्यकता पड़ती है। जिनमें मुख्यतः शब्दकोश, सन्दर्भ ग्रन्थ, विषय विशेषज्ञ और किसी मार्गदर्शक की मदद से अनुवाद कार्य पूरा किया जाता है। इसमें किसी तरह की कोई समय की बाध्यता नहीं रहती। इसमें अपनी इच्छा के अनुसार अनुवाद करने वाले से इसे कई बार पढ़ कर शुद्धिकरण के बाद पूरा किया जाता है, इसका दूसरा रूप (इंटरप्रेटशन) भाषान्तरण एक भाषा का दूसरी भाषा में मौखिक रूपान्तरण है। यह आधुनिक समाज की देन है। इसे करने वाला इंटरप्रेटर कहलाता है। इंटरप्रेटर का काम बहुत ही तात्कालिक है अर्थात वह उस काम को उसी समय कर के सौंप देगा। यह एक तरह से मशीनी युग का प्रभाव है। वह किसी भी भाषा को सुनकर साथ ही समझकर दूसरी भाषा में उसका मौखिक तौर पर रूपान्तरण तुरंत कर देता है। इसे हम संसद भवन तथा अन्य ऐसे स्थानों पर देख सकते हैं जहाँ विभिन्न भाषा भाषी के लोग आपस में चर्चा करते हैं। हालाँकि इसे मूल भाषा के साथ मौखिक तौर पर आधा मिनट पीछे रहते हुए किया जाता है ताकि भाव भी पता चल सके। जब कभी दो विदेशी दूत आपस में बात करते समय अंग्रेज़ी भाषा का प्रयोग करते हैं लेकिन ऐसा संभव नहीं कि सभी को अंग्रेजी भाषा आती हो लेकिन यही पर इंटरप्रेटर अपना काम करते हुए तत्काल प्रभाव से अनुवाद करता है। इस अनुवाद में कई बार ऐसे शब्दों को भी सुना या पढ़ा जा सकता है जिनका अर्थ उस भाषा में किसी और तरह का हो सकता है। हालाँकि यह अनुवाद इतना अनुवाद तो कर देता है कि एक दूसरे लोग आपस में बात कर सकते हैं।

माध्यमान्तरण - यह विभिन्न प्रकार का रूपांतरण हैं इस प्रक्रिया में केवल चित्र ही नहीं अपितु किसी भी तरह के प्रतीकों से इसे समझा जा सकता है। "एक प्रतीक के स्थान पर दूसरे

[11] भोलानाथ तिवारी : अनुवाद विज्ञान, पृष्ठ संख्या - 47

प्रतीक को रखना माध्यमान्तरण है।"[12] जैसे एक चित्रकार अपने किसी एक भाव को अपने चित्रों के द्वारा अभिव्यक्त करता है और ठीक तरह उसी भाव को एक कवि शब्दों के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करता है। ऐसी स्थिति में उसे माध्यामान्तरण की संज्ञा दी जाती है। इसे इस तरह से भी देखा जा सकता है जैसे चिह्नों को समझने के लिए एक पंक्ति या एक शब्द में उसे व्याख्यित किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि एक चित्र एक हज़ार शब्द के बराबर होते है। ठीक उसी तरह कई शब्दों को संप्रेषित करने के लिए चित्रों की आवश्यकता होती हैं। शब्दों को पढ़ने के लिए पढ़ा-लिखा होना आवश्यक है जबकि चित्रों को समझने के लिए किसी शर्त की आवश्यकता नहीं है। किसी कार्टून को व्याख्यित करने अथवा किसी चित्र को समझाने हेतु भी ऐसा किया जाता है। कुछ ऐसे चित्रकार भी हैं, जो हिंदी के मूर्धन्य लेखक भी रहे हैं। शमशेर बहादुर सिंह अपनी ग़ज़लों और कविताओं का रूप दिखाते हैं क्योंकि जिन भावों को वे लिखकर अभिव्यक्त करते थे, इन्हें वे चित्र बना कर भी स्पष्ट करते थे। साधारण भाषा में किसी लिखित शब्द, चित्र, ध्वनि अथवा विशेष चिह्नों को प्रतीक कहते हैं। उनमें से लगभग सबका संबंध, सादृश्यता अथवा परंपरा द्वारा किसी अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व अवश्य करता है। उदाहरण के लिए एक लाल अष्टकोण रुकिए (स्टॉप) का प्रतीक हो सकता है। जिसमें शब्दों से कुछ नहीं कहा गया लेकिन उसका अर्थ स्पष्ट समझ में आ जाता है। यदि नक्शों पर दो तलवारें दिखाई देती है तो वह युद्ध क्षेत्र का संकेत हो सकती हैं इत्यादि। उसी तरह अंक अथवा संख्या के प्रतीक होते हैं। उसे हम रुपये भी समझ सकते हैं इसी तरह सभी भाषाओं में कुछ न कुछ प्रतीक होते हैं। कुछ ऐसे चिन्ह भी मौजूद हैं जिनसे हम किसी व्यक्ति के विषय में सोच सकते हैं। जैसे स्वच्छ भारत में सिर्फ चश्मे के लोगो से हम महात्मा गाँधी को समझ लेते हैं। इसी तरह किसी चिह्न से ईमारत का भी चित्र उभर जाता है जैसे प्लस से अस्पताल, सड़कों पर चिन्हित चिन्ह, किसी भवन में किसी आदेश का पालन करने वाले चिह्न एक वाक्य अथवा एक शब्द के प्रतीक होते हैं। यह सामान्यतः माना जाता है कि चित्र शब्दों से ज्यादा प्रभावी होते हैं। इसी कारण देखे हुए चित्र को, पढ़े हुए वाक्य से ज्यादा देर तक याद रहना आमधारणा है। "महान चित्रकार सैयद हैदर रजा का ज़िक्र करना संभवतः तर्कसंगत होगा। रजा हिन्दुस्तान के एकमात्र मूर्धन्य चित्रकार हैं जिन्होंने अपने चित्रों में कविताओं का निरंतर इस्तेमाल किया है।"[13] 'रजा ने मुक्तिबोध की कविता से एक चित्र 'तम शून्य' शीर्षक से बनाया, जिस पर अंकित शब्द थे 'इस तम शून्य में तैरती है। जगत समीक्षा' रेनर मारिया रिल्के की कविता को उसके फ्रेंच अनुवाद किए हुए चित्र का शीर्षक था 'दूर से आती मौन की आवाज़ सुनो' यदि संदर्भित परिप्रेक्ष्य में नाट्य प्रासंगिकता की

[12] करण सिंह उत्वाल : कहानी का रंगमंच और नाट्यरूपान्तरण, पृष्ठ संख्या - 21

[13] करण सिंह उत्वाल: कहानी का रंगमंच और नाट्यरूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 19

बात की जाए तब नाटक में पात्रों के माध्यम से संप्रेषित किए जाने वाले संवादों, कथ्य और दर्शकों की संवेदनाओं विचारों के साथ एक प्रत्यक्ष साम्य स्थापित होता है।' इस प्रत्यक्ष/ अप्रत्यक्ष वार्तालाप में उन दोनों के मध्य, एक वैचारिक पुल निर्मित होता है। यही नहीं चित्रों के माध्यम से आर. के. लक्ष्मण ने आम आदमी की पूरी कहानी कही है। चित्रों के माध्यम से एक छवि बनती हैं जिससे कहानी का मूल भी नज़र आ जाता है। इन चित्रों से उन्होंने आम आदमी की समस्याओं को बहुत अच्छे से उकेरा। जहाँ उन्होंने केवल चित्रों के माध्यम से पूरी कहानी कह दी थी। उनके बनाए गए चित्रों को आज भी अखबारों में छपते हुए देखते हैं।

लिप्यन्तरण - यह क्रिया एक समान्तर रूप से चलती है क्योंकि इसमें भाषा का भी विशेष योगदान रहता है कई बार रूप बदलने पर भी उच्चारण एक सा ही प्रतीत होता है। दरअसल ऐसी स्थिति में रूप का परिवर्तन होता ही नहीं भारत के वेद आदि का सभी भाषाओँ में लिप्यान्तरण मिलता है किन्तु लिप्यंतरण की कठिनाईयों को पार करने के लिए लिपि चिन्हों में यतिकिंचित परिवर्तन यदा कदा मिलता है। साधारण अर्थ में किसी भी एक लेखन पद्धति में लिखे जाने वाले किसी शब्द या किसी पाठ को अन्य लेखन पद्धति में लिखने की प्रक्रिया ही लिप्यन्तरण कहलाती है। यह विधि उनके लिए बहुत उपयोगी है जो किसी भाषा को बोलना और समझना तो जानते हैं लेकिन उस भाषा की लिपि को नहीं पढ़ सकते। यह साहित्य की दृष्टि से बहुत अहम है क्योंकि कुछ भाषाएँ है जो कई लिपियों में लिखी जाती हैं। इसके अतिरिक्त किसी भी एक भाषा में लिखते समय किसी भी दूसरी भाषा के शब्द का परिचय देने के लिए भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यही नहीं इस विधि का प्रयोग साधारण कूट लेखन के लिए भी किया जाता रहा है। नियम सरल एवं सहज होते हैं ताकि एक साधारण व्यक्ति भी इन्हें याद कर के इनका आसानी से व्यवहार कर सके। "एक भाषा को लिपि में अंकित को दूसरी भाषा में उसी प्रकार अंतरित करना लिप्यान्तरण कहलाता है इस क्रिया में न भाषा बदलती है न वाक्य संरचना बदलती हैं। उदाहरण के रूप में academy का अकादमी और tragedy का त्रासदी लिप्यान्तरण है।"[14] इसी तरह technic का तकनीक, acedemic का अकादमिक का रूप ले लेती है, स्पष्ट है कि भाषा का रूप परिवर्तित हुआ और उच्चारण का रूप भी परिवर्तित हुआ है। इनके माध्यम से रूपान्तरण के विभक्त विभागों का अनुसरण करते है और रूपान्तरण की क्रिया को समझते हैं। रूपान्तरण के यह रूप साहित्य में किसी न किसी प्रकार अपना अस्तित्व स्थापित कर देते हैं। इनका रूप किसी साहित्य से प्रेरणादायक के रूप में भी रहता है।

[14] करण सिंह उत्वाल: कहानी का रंगमंच और नाट्यरूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 22

रूपांतरण की पृष्ठभूमि

यह कहना कि रूपान्तरण कब से हो रहा है इसका कोई प्रमाण नहीं दे सकता क्योंकि किसी भाव को किसी का अन्य का रूप लेकर बताना भी रूपान्तरण की ही श्रेणी में आता है। भारतवर्ष में रूपांतरण की प्रक्रिया अतिप्राचीन है। यहाँ पर साहित्यिक रूप से चर्चा करें तो हम पाते हैं कि कथाओं को सुनाने की कला में नाट्य रूपान्तरण का जिक्र होता है। हमारे वेद, पुराण, उपनिषद, धार्मिक ग्रन्थ इत्यादि अनेक भाषाओँ में रचे गए लेकिन उनको पढ़ने वालों की संख्या मुट्ठी भर रही। कोई कथावाचक उसको अपने तरीके से प्रस्तुत करता तो वहीं दूसरा वाचक किसी दूसरे तरीके से जनमानस तक अपने विचार और ग्रन्थ का भाव संप्रेषित करता है। यहीं से नाट्य रूपान्तरण की पृष्ठभूमि तैयार होनी शुरू होती है। "इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र का महत्व सर्वोपरि है, उसने वर्ण और वर्ग की दीवारों को तोड़ कर शिक्षित अशिक्षितों का फासला मिटाकर एक ऐसी लोक रंजनकारी कला को जन्म दिया जिसका सम्बन्ध राजा से लेकर प्रजा तक था, आचार्य से लेकर शिष्यों तक था, अभिजात वर्ग से लेकर अशिक्षित वर्ग तक था।"[15] रामायण, महाभारत, वेद पुराण की कथाओं का नाट्य रूप में अभिनय करते हुए उनका मंचन किया जाता था। ध्यातव्य यह है कि नाटक का अभिनय करना कुछ लोगों का व्यवसाय ही बन चुका था। "रामायण और महाभारत के ये व्यावसायिक कथावाचक स्थान-स्थान पर कथा परायण का आयोजन रचते थे। ग्रामीण जनता के धार्मिक और सांस्कृतिक ज्ञान के यही शिक्षक होते थे।"[16] यह नाट्यशैली केवल भारत में ही नहीं अपितु थाईलैंड, श्रीलंका, जावा और बाली जैसे कई देशों में भी बहुत धूम-धाम से प्रस्तुत की जाती है। रामलीला का इतिहास प्राचीन है क्योंकि यह शैली और इसका नाट्य रूपान्तरण 11वीं शताब्दी से भी पहले से मंचित किया जा रहा है। भारत में एक ओर लोक संस्कृति के गर्भ में वैदिक, पौराणिक, संस्कृतियाँ फल फूल रही हैं तो दूसरी ओर लोक संस्कृति भी अपने स्तर पर फ़ैल रही है। रामलीला इसी लोक संस्कृति का हिस्सा है।

रामलीला का संक्षित इतिहास : रामलीला जिसका शाब्दिक अर्थ है, राम की लीला अथवा खेल। प्राचीन हिंदू महाकाव्य के अनुसार श्रीराम के जीवन पर आधारित रामायण एक विरल महाकाव्य है। जिसमें राम के जन्म से लेकर उनके समाधि लेने तक की कहानी है। इसी कहानी को मंच पर प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें यह विशेष रूप से हिंदू भगवान राम से संबंधित नाटकों और नृत्य को संदर्भित करता है। कथा के माध्यम से यह बताया जाता है कि भगवान राम, विष्णु के

[15] डॉ. ब्रजवल्लभ मिश्र : भरत और उनका नाट्यशास्त्र, पृष्ठ संख्या 77

[16] इन्दुजा अवस्थी : रामलीला परम्परा और शैलियाँ, पृष्ठ संख्या 23

सातवें अवतार और रामायण के केंद्रीय पात्र हैं, यह रामकथा 1 सहस्राब्दी ईसा पूर्व की है और रामलीला उन्हीं कहानियों का नाट्य रूपान्तरण है। भारतवर्ष में यह शैली बहुत विकसित है। हमारे यहाँ राम पर कई महाकाव्यों की रचना हुई हैं लेकिन वाल्मीकि की रामायण और गोस्वामी तुलसीदास की रामचरित मानस सबसे प्रसिद्द मानी जाती है। उत्तर भारत में अधिकतर रामलीला रामायण पर आधारित हैं, वहीँ रामचरितमानस, तुलसीदास द्वारा स्थानीय भाषा में एक पद्य रूप रचना मानी जाती है। इनमें रचित छंदों का प्रयोग पारंपरिक भाषा और शैली में रूपांतरण कर के संवाद के रूप में किया जाता है तत्पश्चात उसका मंचन गायन और कथन रूप में किया जाता है। कई स्थानों पर इसके पूरी तरह संगीतबद्ध तथा कई स्थानों पर इसमें गद्य और पद्य का मिश्रण कर के किया जाता है। हरिवंश में इस बात का उल्लेख मिलता है कि "प्रद्युम्न साम्ब आदि यादवों ने अन्य नाटकों के साथ राम जन्म का भी अभिनय किया था। महाभारत में रामायण नाटक का उल्लेख किया गया है।"[17] स्पष्ट है कि रामकथा को लेकर नाट्य रचना करने और उन्हें रंगमंच पर अभिनीत किया गया है।

प्राचीन भारत में अशिक्षा की समस्या तथाकथित रूप से रही है किन्तु रामायण और महाभारत का ज्ञान लोक तक पहुंचा जो की इन्हीं कथावाचकों की देन रही है। आज भी गाँव देहातों के व्यक्तियों के मुख पर रामचरित मानस की चौपाईयां मुंह जुबानी याद रहती है जिसका एक सबसे मुख्य कारण रहा है उनका रामलीला जैसी गायन शैली का सुनना। पहले अधिकतर नाट्य प्रदर्शन गायन शैली में ही प्रस्तुत होती थी। यही कथा गायन की शैली आज भी सम्पूर्ण भारत में प्रचलित है। "रामलीला पर क्षेत्रीय प्रभाव ज्यादा रहा है अलग अलग क्षेत्र में खेली जाने वाली रामलीला यहाँ के वातावरण संस्कृति एवं भाषा आदि से प्रभावित रहती है।"[18] कहीं कहीं ऐसा भी देखा गया है कि अनेक नाट्यों को आधार मानकर एक रूप दे दिया हैं जिसमें वहां के लोकगीत लोकधुन एवं लोक संस्कृति पर आधारित रामलीला खेली जाती है। "तमिलनाडु का 'हरिकथाकलाक्षेपम' आंध्र प्रदेश का 'बुर्र कथा' महाराष्ट्र और राजस्थान के पवाडे, हिंदी प्रदेश का आल्हा, गोपीचन्द्र और पूरन भगत आदि के गाथागीत छत्तीसगढ़ की रामायण और महाभारत की लोकगायन परम्परा, पंजाब का हीर राँझा ये सभी अत्यंत लोकप्रिय हैं।"[19] इनमें पौराणिक आख्यानों का रूपांतरण, भक्ति साहित्य से लीलाओं का रूपांतरण, लोक साहित्य के रूप में रूपांतरण तथा नवीन अविष्कारों के साथ रूपांतरण हुए जो कालांतर में रेडियो, सिनेमा और दूरदर्शन पर प्रसारित हुए हैं। साथ ही इनका

[17] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि एवं शिल्प : पृष्ठ संख्या 32

[18] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि एवं शिल्प : पृष्ठ संख्या 32

[19] दशरथ ओझा : नाट्य समीक्षा, पृष्ठ संख्या 145

रूप हिंदी ही नहीं अपितु अन्य भाषाओँ में भी हुआ है। पौराणिक आख्यानों का नाट्य रूपान्तरण की शैली प्राचीन है। दक्षिण भारत का कथकली और महाराष्ट्र के दशावतार में बहुत अधिक एकरूपता पाई जाती है। दोनों में नृत्य के माध्यम से कथा वाचन किया जाता है। इसमें दशावतार की कथा कही जाती है जिसका आधार पुराण है। सम्पूर्ण भारत वर्ष में कथाओं को कहने की शैली विभिन्न रूप से रही हैं। सबका रूप एक दूसरे से पृथक रहा है लेकिन उनकी कहानी कहने की शैली में मंचन का ही प्रयोग होता आया है। यह मंचन लय, सुर, उतार-चढ़ाव, भाव भंगिमा के साथ किया जाता है। ऐसा ही रासलीला के साथ भी होता हैं श्रीमद् भागवत में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों के साथ रचाई रासलीला का वर्णन मिलता है। नन्ददास ने स्त्री और पुरुष द्वारा परस्पर हाथ मिलाकर मंडल स्वरूप किए गए नृत्य को रास कहा है। कालान्तर में दार्शनिक विचार का स्पर्श पाकर रास रहस्यमय स्थिति तक पहुँच गया और लीला को वस्तुतः एक क्रिया मान लिया गया। राम और कृष्ण भगवान रूप में हैं और रास में उन्हें आनंद मिलता है। लीला रस प्राप्त करने का माध्यम है।

रासलीला का संक्षिप्त इतिहास : जिस प्रकार रामलीला का सम्बन्ध राम से है उसी तरह रासलीला का संबन्ध कृष्ण के जीवन चरित्र से है। हिन्दी साहित्य से इसका गहरा संबन्ध है। कृष्ण का लोकरंजक रूप सभी को आकर्षित करता है। कृष्ण गोपियों के साथ रासलीला करते हैं। ब्रज के करील कुंजों में रास विहार करते हैं । रास के देशीय होने का अनुमान इस बात से भी होता है कि रासो और रासक नाम से राजस्थान में इसका प्रयोग भी मिलता है। और वह रास जिसका विशेष संबन्ध गोपियों से है ग्वालों में प्रचलित कोई देशीय नाटक हो सकता है, जो संस्कृत नाटक से अपहृत नहीं माना जा सकता।"[20] पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी वीरगाथा काल से रासो का संबंध 'रासक' से बताया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "वीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में रसायण शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में यही रसायण शब्द रासो हो गया।"[21] आचार्य द्विवेदी के मत में "रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल है या मनोरंजन है। रास में वही भाव हों। एट्टक भी ऐसा ही शब्द है। लोक में इस मनोरंजन के विनादों को देखकर नाट्यशास्त्रियों की उन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया है।"[22] भागवत पुराण में श्रीकृष्ण लीला की परम्परा अभिव्यक्त हुई है। "जयदेव कृत 'गीत गोविन्दम्' में भी रासलीला की एक परम्परा है। बल्लभाचार्य तथा सूरदास ने श्री कृष्ण का गुणगान किया है। गुजरात के संत कवि नरसिंह मेहता ने श्री कृष्ण की

[20] दशरथ ओझा : नाट्य समीक्षा, पृष्ठ संख्या 49

[21] राम किशोर यादव : लोक नाट्य, पृष्ठ संख्या 19

[22] राम किशोर यादव : लोक नाट्य, पृष्ठ संख्या 19

रासलीला का दर्शन किया था। रास नृत्य की समानता गुजराती नृत्य गरबा से है।"[23] यह गरबा नृत्य से बहुत मिलती है। गुजरात में रासड़ो नृत्य का भी रूप विद्यमान है।

हिंदी भाषा की साहित्यिक दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि हिंदी के इतिहास को आचार्य रामचंद शुक्ल के अनुसार 1050 संवत से माना जाता है बाद में कई विद्वानों ने जैसे गणपति चन्द्र गुप्त, विजय देव नायारण साही, बच्चन सिंह, रामकुमार वर्मा, डॉ. नगेन्द्र, सुमन राजे इत्यादि ने भी हिंदी साहित्य के इतिहास की शुरुआत का वर्ष दिया है लेकिन इन सब में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा दिया हुआ समय सर्वसम्मत है। कुछ विद्वानों से इसे कुछ दशक आगे पीछे के वर्ष तय किए हैं लेकिन आचार्य द्विवेदी और शुक्ल के दिए वर्षों को आधारभूत माना गया है। यह ध्यातव्य यह है की रूपान्तरण की प्रवृति किस प्रकार साहित्यिक रूप से महत्वपूर्ण है। रूपांतरण का एक रूप स्वतंत्र रूप तथा एक मूलाधार रूपांतरण देखा जाता है। अब बात आती है कि स्वतंत्र रूपांतरण के विषय में- "इस प्रकार के रूपांतरण में लेखक स्वतंत्र होता है वह किसी पौराणिक तथा महाभारत आदि कृतियों में से एक कोई एक कथा, काव्य आदि से सम्बंधित वस्तु को लेकर उसमें अपनी कल्पना को जोड़कर कुछ नया देना चाहता है।"[24] स्पष्ट है भारतीय साहित्य में स्वतन्त्र रूपांतरण अपने आप में विशेष बात है। रूपान्तरण के पश्चात् इसका दूसरा रूप मूलाधार रूपान्तरण है। विदित हो कि अनुवाद भी एक प्रकार का रूपान्तरण है, उसी रूप में मूलाधार भी अग्रिम रूप है। इसके अंतर्गत "रूपान्तरण प्रक्रिया का एक परिचय देता है इसके अंतर्गत विदेशी पात्रों के नाम आदि हमारे देश के अनुरूप कर लिए जाते हैं भारतेंदु ने 'मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' का अनुवाद 'वेनिस का सौदागर' अर्थात 'वंशपुर का महाजन' नाम से किया इसमें कथा को पूरी तरह भारतीय कर दिया गया है। वंशपुर वेनिस है एल्टोनियो को अनन्त बैसीनियो को बसंत तथा पोर्शियों को पुरश्री नाम दे दिए गए हैं।"[25] यह ध्यातव्य यह है कि इसी प्रक्रिया को हिंदी साहित्य और सामाजिक ढांचे के अंतर्गत भारतीयकरण की संज्ञा दी जाती है। यहाँ भारतीयता से हमारा तात्पर्य उस विचार अथवा भाव से है जिस में भारत से जुड़ने का बोध होता है अथवा भारतीय तत्वों की छटा हों। साधारण भाषा में कहने का अर्थ है जो भारतीय संस्कृति से संबंधित हो। इसे इस तरह भी समझा जा सकता है कि भारतीयता का प्रयोग राष्ट्रीयता को भी व्यक्त करने के लिए होता है। इनमें भारतीयता में भारतीय भूमि, जन, संप्रभुता, भाषा एवं संस्कृति जैसे तत्त्व शामिल हैं। आज के उत्सव महोत्सव सभी

[23] राम किशोर यादव : लोक नाट्य, पृष्ठ संख्या 19

[24] करण सिंह उत्वाल : कहानी का रंगमंच और नाट्यरूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 35

[25] भोलानाथ तिवारी : अनुवाद विज्ञान, पृष्ठ संख्या 28

आदिम जाति की संस्कृति है। वास्तव में अनुकरण मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृति है, मनुष्य बचपन से अनुकरण करता हुआ सीखता है और आगे बढ़ता है।

अनुकरण और रूपांतरण एक साथ ही चलते हैं। इतना ही नहीं रूपान्तरण में कथा को दूसरी भाषा से अनूदित किया जाता रहा है। इनमें सबसे मुख्य रूप से राम को नायकत्व के साथ देखा गया। कालखंड में आदि काल में "जैन पुराण की परम्परा में विमल देव सूरि कृत 'पउम चरिउ' है। इसमें रामचंद्र की कथा ली गई है विमल देव की रचना प्राकृत में है। अपभ्रंश में स्वयंभू का पउम चरित और हरिवंश पूरण पुण्यदन्त का महापुराण, यश कीर्ति का पाण्डव पुराण और इधू का पद्मापुराण और हरिवंश पुराण उल्लेख्य है।"[26] भक्ति काल में रामलीला और रासलीला के माध्यम से राम कथा और कृष्ण कथा रूपांतरण के माध्यम से लोक में प्रचलित थी। रामायण की कथा महर्षि वाल्मीकि लिख चुके हैं उनके पश्चात् जितने भी कवियों ने राम को अपनी कथा का नायक स्थापित किया है, उन्होंने राम कथा का रूपांतरण किया है, जिसमें गोस्वामी तुलसीदास जी नाम सबसे अग्रणी है। तुलसीदास ने राम के चरित्र को उजागर किया। राम के चरित्र नाटकीय वर्णन में नहीं बल्कि मंच पर अभिनय में है। इसमें लोग दो वर्गों में बंट जाते हैं। जिनमें एक वर्ग पाठक और दूसरा वर्ग उसकी व्याख्या करता हुआ अभिनय भी करता है। "रामचरित मानस को भी नाटक की कसौटी पर कसा गया है, लोक रंगमंच पर इसका प्रदर्शन होता है। इस कला को लिपिबद्ध करने से पहले राम के जीवन के विविध प्रसंगों को लेकर लीलाएं शुरू हो गई।"[27] गोस्वामी तुलसीदास के अतिरिक्त नाभादास, केशवदास, विष्णुदास आदि कवियों ने राम को नायक के रूप में लिया है। ठीक ऐसी ही स्थिति ही कृष्ण नायक को भी स्थापित किया गया है महाभारत में के नायक कृष्ण को अनेक कवियों ने अपनी कथा का नायक बनाया है जो एक प्रकार का रूपान्तरण है। वेद व्यास के पश्चात् वल्लभ सम्प्रदाय, सूरदास, मीराबाई, रसखान इत्यादि ने कृष्ण कथा का रूप अपने काव्यगत विशेषताओं के साथ किया है। आदिकाल में रामलीला और राम के नायकत्व को इसी तरह देखा गया है।

कालान्तर में हिंदी साहित्य के इतिहास को मध्यकाल नाम से विभाजित किया गया है और उसे भी दो भागों में विभक्त किया गया है। पहला पूर्व मध्यकाल और दूसरा उत्तर मध्यकाल के नाम से जाना जाता है। विदित हो की पूर्वमध्यकाल को भक्ति काल के नाम से अभिनीत किया जाता है, जिसे हिंदी साहित्य प्रेमी स्वर्ण काल की भी संज्ञा देते हैं। जिसमें राम और कृष्ण को नायक रूप और

[26] बच्चन सिंह : हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृष्ठ संख्या 40

[27] राम किशोर यादव : लोक नाट्य पृष्ठ, संख्या 17

ईश्वर के रूप में स्थापित किया गया है। उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल की संज्ञा दी जाती है जिसमें श्रृंगारिक रचनाएं अधिक मात्रा में हुई है किन्तु इस काल में भी नाट्य रूपांतरण हुए और कृष्ण की कथा का वाचन किया जाता रहा था। जिस प्रकार रामलीला में राम के बाल्य और किशोर रूप का मंचन होता है। ठीक उसी प्रकार रासलीला में कृष्ण के बाल्य और युवा अवस्था का मंचन किया जाता है। जिसे कृष्णलीला भी कहा जाता है। जिसमें गोपियाँ उनके आगे पीछे नृत्य करती हैं। रास लीला में कृष्ण की कथा को एक नृत्य संगीतात्मक ध्वनि प्रदान की जाती है। इसमें कृष्ण, राधा और गोप गोपियों के बीच अनिवार्यतः मनसखा की कल्पना की जाती है। अर्थात इसमें कृष्ण के विधि प्रसंग समाहित हैं। राधा कृष्ण और सखियों के पदापर्ण करते ही भक्त दर्शक उठकर उनका अभिनंदन करते हैं। लोक चारण स्पर्श के लिए दौड़ पड़ते हैं। इसके बाद नंदी पाठ प्रारम्भ होता है। डॉ. दशरथ ओझा के अनुसार "रास शब्द संस्कृत भाषा का नहीं है प्रयुक्त देशी भाषा का है जो संस्कृत बन गया और देशी नाट्य कला को जो रास के नाम से प्रसिद्धि थी, रास के नाम से ही संस्कृत ग्रंथों में उद्दृत कर दिया गया और रास जिसका विशेष सम्बन्ध गोपियों से है, ग्वालों में प्रचलित कोई देशीय नाटक हो सकता है जो संस्कृत नाटक में अपहृत नहीं माना जा सकता।"[28] इस रासलीला में मटकी फोड़ना, माखन चोरी करना, नहाती हुई गोपियों के वस्त्र चुराना, गाए को चरने के लिए छोड़ देना और बांसुरी बजा कर वापस बुलाना उनकी प्रमुख शरारतें उनमें शामिल हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष में जन्माष्टमी के मौके पर कृष्ण की इन्हीं सारी शरारतों को एक धागे में गूंथ कर अर्थात उसको एक तरह से नाटकीय रूप दे कर रासलीला अथवा कृष्णलीला खेली जाती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल है या मनोरंजन।' ध्यातव्य हो की प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य साहित्य का रूप है और इस युग में भी कृष्ण को आधार बना कर साहित्य रचा गया। गुमान मिश्र की कृष्ण चन्द्रिका (1781) तथा ब्रजवासी दास का ब्रज विलास (1770) प्रबंध काव्य के रूप में देखा जा सकता है। इसके साथ ही रूप रसिक देव का 'नित्यबिहारी' तथा ही वृन्दावन दास का 'लाड सागर' तथा 'भ्रमरगीत' आदि प्रमुखता से हैं। रासलीला में श्रीकृष्ण के बाल रूप से लेकर सम्पूर्ण जीवन की कथा का वर्णन किया जाता है। इसमें राधा के श्रृंगार का भी विवेचन किया जाता है। यह नृत्य संगीत और गीत के संगम के कारण संभव हो पाता है। मंगलाचरण और प्रशस्ति पाठ स्वांग नाटकों की तरह होता है। अंत में नाटक रचना का प्रयोजन घोषित होता है। "इस प्रकार की आवश्यकता को पूरा करने के लिए मंच मंदिर या किसी चबूतरे पर खुले आसमान के नीचे ऊँचें तख्तों एवं बांसों के सहारे बना लिया जाता

[28] राम किशोर यादव : लोक नाट्य पृष्ठ, संख्या 19

है पात्र मंच पर पर्दे के पीछे से प्रस्तुत होते हैं।"[29] आज के वर्तमान दौर में मंच की संकल्पना बदल गयी है अब तो स्थाई मंच भी बनने लगे हैं। रामलीला और रासलीला के साथ-साथ मंचन के लिए कोई खास परेशानी का सामना नहीं करना पड़ता है।

भारत में रंगमंच को जीवित रखने में लोक नाट्यों की बहुत अहम् भूमिका है। इसमें गीत संगीत के साथ साथ अभिनय का भी पुट शामिल होता है। आधुनिक युग में रूपान्तरण विगत कई वर्षों से अधिक हुए। रामायण और महाभारत की कथा इस युग में भी प्रचलित रही है। गद्य का विकास ने रूपांतरण की प्रवृति को और अधिक बल दिया। इस काल में भाषान्तरण अधिक मात्रा हुए। लोक नाट्य में विषय में विविधता होती है इसमें पौराणिक एवं धार्मिक विषयों को उठाया जाता है। जिसका एक रूप अनुवाद है। अनुवाद के माध्यम से विदेशी साहित्य तथा हिंदीतर साहित्य भी हिंदी में आया है। इससे हिंदी साहित्य समृद्ध हुआ ही साथ ही भाषांतरण का रूप और अधिक निखरा दिखाई पड़ता है। "खड़ी बोली का उदय और विकास भाषांतरण को लोक में प्रचलित कर दिया। खड़ी बोली के प्रथम लेखकों में लल्लू लाल ने 'प्रेम सागर' लिखा जो भागवत कथा का रूपान्तरण है। तत्पश्चात राजा लक्षमण सिंह ने 'रघुवंश' तथा 'मेघदूत' नाटक का अनुवाद किया। इसी युग में 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना होती है। हिंदी आधुनिक साहित्य के जनक भारतेंदु ने भी रूपान्तरण किया। इस काल तक आते-आते विदेशी साहित्य तथा हिंदीतर साहित्य का प्रभाव हिंदी साहित्य पर अधिक मात्रा में पड़ने लगा था।"[30] सबसे पहले बांग्ला साहित्य का प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ने लगा और भारतेंदु ने अंग्रेज़ी और बांग्ला नाटक का अनुवाद किया। 'विद्या सुन्दर', 'रत्नावली', 'मुद्राराक्षस' तथा 'दुर्लभ बन्धु' का अनुवाद किया। भारतेंदु ने सिर्फ बांग्ला ही नहीं अपितु संस्कृत अंग्रेज़ी की भाषा से भी रूपान्तरण किया। "नाटक साहित्य की वह विधा है जिसकी सफलता का परीक्षण रंगमंच पर होता है और रंगमंच युग विशेष की जनरूचि और तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर निर्मित होता है।"[31] हिंदी में नाट्य विधा के इतिहास और विकास में लम्बी प्रक्रिया, अनेक परिवर्तन और मोड़, विकास के विभिन्न नविन चारण दिखाई देते हैं लेकिन जितनी सांस्कृतिक दृष्टि आधुनिक चेतना और भाषा का वैशिष्ट्य मिलता है, उतना इससे पहले नहीं देखा गया था। इसी काल में शेक्सपियर का प्रसिद्द नाटक 'द कॉमेडी और एरर्स' का अनुवाद इमदाद अली ने 'भ्रमजाल' के नाम से किया तथा लाला सीताराम ने 'भूल भुलैया' नाम से किया। स्पष्ट है कि अनुवाद के माध्यम से विदेशी साहित्य हिंदी प्रदेश में अपना पांव पसार

[29] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि एवं शिल्प : पृष्ठ संख्या 33

[30] नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक, पृष्ठ संख्या 42

[31] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 28

रहा था। रूपांतरण की प्रक्रिया का एक रूप और सामने लगा। अभी तक केवल काव्य के रूप का रूपान्तरण होता था किन्तु गद्य के विकास के साथ-साथ साहित्य के अन्य रूप भी विकसित होने लगे। नाटक के पश्चात उपन्यास का भी रूपांतरण होने लगा। बांग्ला भाषा में लिखा हुआ 'बंग विजेता' रमेश चन्द्र का उपन्यास जिसे गदाधर सिंह ने 1886 में अनुदित किया। इन्होनें 'दुर्गेशनन्दनी' नामक उपन्यास का भी अनुवाद हिंदी में किया।

रामायण, महाभारत की कथा आधुनिक साहित्य के द्विवेदी युग में साथ साथ चलती रही। यहाँ तक आते-आते कविता का रूप भी हिंदी में में अनुदित होने लगा। ठाकुर जगमोहन ने ऋतु संहार और 'मेघदूत' का अनुवाद किया। हरिऔध, मैथलीशरण गुप्त ने भी रामायण, महाभारत की कथा से नायक नायिकाओं को अपनी कथा का आधार बनाया जो स्वतंत्र रूपान्तरण का एक रूप है। "इसी युग में अंग्रेज़ी उपन्यास का भी अनुवाद हुआ। द्विवेदी युग के पश्चात छायावाद युग का आरम्भ एक नई चेतना लेकर आया। राष्ट्र और प्रकृति का रूप रूपान्तरण से विलग रहा किन्तु हरिवंश राय बच्चन ने उमर खय्याम की 'रुबाइयों' का रूपांतरण 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' के नाम से किया। पचास के दशक तक हिंदी में विदेशी भाषाओँ और हिंदीतर भाषाओँ का मिलना हो रहा था।"[32] अनुवाद, लिप्यान्तरण और माध्यामंतरण के माध्यम से रूपांतरण हो रहा था। रामधारी सिंह दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' भी महाकाव्य का रूपान्तरण है, साथ ही धर्मवीर भारती का 'अँधा युग' भी महाभारत की घटना का रूपान्तरण है। यहाँ तक आते आते है सिनेमा का उद्भव हो चुका था और साहित्य और सिनेमा का असर समाज पर पड़ने लगा था। साहित्य और सिनेमा अब एक दूसरे का पूरक बनने की और अग्रसर हो रहे थे। साहित्यकार अपने साहित्य को फिल्म में रूपांतरण करना चाह रहे थे। प्रेमचंद, हरिवंशराय बच्चन, अमृतलाल नागर, कमलेश्वर, मनोहर श्याम जोशी, मन्नु भण्डारी जैसे साहित्यकारों ने सिनेमा में साहित्य का रूपान्तरण किया।

[32] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 48

1.2 रूपांतरण का साहित्यिक रूप और प्रक्रिया

ध्यात्व हो कि भारत में नाट्य रूपान्तरण की प्रक्रिया अतिप्राचीन रही है। पुराण, रामायण, महाभारत, ऐतिहासिक घटनाओं का रूपान्तरण साहित्य की विविध विधाओं में होता आया है। प्रथमतः काव्य का एक भाषा से दूसरी भाषा में, क्रमशः गद्य के विकास के पश्चात उसका रूप और भी निखरा। आदि काल से अब तक साहित्य का लोक तक पहुँचने में रूपान्तरण का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। समाज हमेशा वर्णों में बंटा हुआ रहा है, शिक्षा एक वर्ग तक सीमित रही किन्तु उसके बावजूद भी पुराणों और रामयण, महाभारत का ज्ञान समाज के उन तबकों को भी है जिन्होंने कभी विद्यालय की सूरत भी नहीं देखी थी। रामलीला, रासलीला और लोक कलाओं में चित्रित कथाओं के माध्यम से समाज को धार्मिक रूप में शिक्षित किया। समाज के उन तबकों को शिक्षित करने का श्रेय इसी नाट्य रूपान्तरण की शैली को जाता है। "आधुनिक युग में अधिकांश रामलीलाओं का आधार तुलसी कृत रामचरित मानस ही है किन्तु आधुनिक युग में रामलीलाओं का प्रदर्शन पंडित राधे श्याम कथावाचक की रामायण के आधार पर भी होता है।"[33] राम का चरित्र कथाओं में उपयुक्त दिखाया जाता रहा है जो समाज का धार्मिक रूप दिखता है। वे जगत के भीतर राम की लीला और राम के भीतर जगत की लीला करते हैं। राम, शील, शक्ति और सौदर्य के प्रतीक हैं 'सियाराममय सब जग जानी' समूचा कथानक संवादों के माध्यम से बुना गया है। इसमें वार्तालाप का प्रयोग रंगमंच के लिए उपयुक्त है। "इस प्रकार रामलीला रंगमंच एक रियलिस्टिक रंगमंच है। रूपान्तरण की विधा में साहित्यिक रूप में परिवर्तन भी आवश्यक है। विदित हो की रूपान्तरण की कला में सम्पूर्ण कथा या सम्पूर्ण काव्य को दिखाना एक जटिल कार्य है।"[34] सम्पूर्ण रामायण और सम्पूर्ण महाभारत के किसी एक रूप को रूपांतरित किया जाता था जिसका मंचन होता था। यह मंच पर ही सीमित नहीं अपितु सिनेमा और टीवी पर भी किसी कथा का एक हिस्सा ही दिखाया जाता है। इसका कारण कथा की विस्तृत रूप और दर्शकों का अभाव में कथा को और सुसंगठित बनाया जाता है। किसी भी कहानी अथवा काव्य का रूप साहित्यिक ढांचें के अंतर्गत ही रूपांतरित किया जाता है। जिसका रूप साहित्यिक परिधि को लांघने के बाद एक नया रूप देता है।

नाट्य रूपान्तरण के विषय में कई विद्वानों में मतभेद हैं जिसमें प्रसिद्ध रंगालोचक गिरीश रस्तोगी इस प्रयोग के एक खतरे को भी रेखांकित करते हुए लिखती हैं- "भले ही हम इसे एक 'स्वयं सिद्ध प्रयास' या 'निश्चित फार्मूले से मुक्ति' कहें लेकिन फिर भी कुछ विशेष प्रकार के प्रयोगों की पुनरावृत्ति से 'शैली बद्धता', 'एकरसता' की सीमाएं तो आती ही हैं, जिन से निर्देशक, अभिनेता

[33] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 51

[34] नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक, पृष्ठ संख्या 12

जूझते नज़र आते हैं…नया आस्वाद, परंपरा और आधुनिकता का सामंजस्य और अधिक व्यापक और मोबाइल सिंक्रोनाइजेशन और एक्सप्रेशन' ही कहानी को थिएटर बनाएगा। शास्त्रीय और लोक परंपराओं से, स्थानीय बोलियों से, लोक गायन शैलियों और रंगों से 'कहानी रंगमंच' का विस्तार करना चाहिए अन्यथा वह शहरी रंगमंच ही शहर में भी एक खास वर्ग का रंगमंच होकर रह जाएगा।"[35] तत्पश्चात 'कहानी रंगमंच' की उपलब्धि को महत्त्वपूर्ण बताते हुए इसे विस्तार देने की आवश्यकता पर बल देती हैं- "अगर वह किस्सागोई है तो जनता तक पहुंचना चाहिए। इस प्रयोग का सबसे सशक्त और अच्छा पक्ष है न्यूनतम साधनों में अधिकतम अभिव्यक्ति। इसे ही बदलते समय और परिवेश, विश्व संदर्भ और जन-समस्याओं के साथ बदलते रहने, तराशते रहने की जरूरत है।"[36] स्पष्ट है की नाट्य रूपान्तरण और कहानी के मंचन को वह कुछ हद तक शैली की दृष्टि से उचित और संकुचित भी मानती है। नाट्य रूपान्तरण की स्थिति को मद्देनज़र शैली और कथा का मंचन को एक नए रूप में देखते हुए नई संभावनाओं की तलाश में रहना चाहिए।

बीते कुछ दशकों में रूपान्तरण का रूप एक अलग स्तर का प्रतीत होता है। जहाँ निर्देशक अपनी ओर से कथा को और भी प्रभावशाली बनाने में घटनाओं को जोड़ता और घटाता है। जबकि पहले "कहानी को ज्यों का ज्यों ही प्रस्तुत किया जाता था।"[37] पहले दृश्यबंध रूप सज्जा आदि का प्रयोग न के बराबर होता था किन्तु अब मंच पर भी नाट्यधर्मिता का ध्यान रखा जाता है। कथा के रंगमंच पर अभिनय करने वाला अभिनेता पहले खुद उस कहानी का सहृदय पाठक होता है, उसके पाठक होने के बाद ही उसका कोई जीवंत रूप प्रस्तुत कर सकता है। कथा का साहित्यिक रूप एक दूसरे विधा में जब भी अंतरण होती है उसकी कुछ चिन्ह नए रूप में नज़र आते हैं। कथा लिखते समय बारीक़ रूप में लिखा गया किन्तु जब वह मंच पर ले जाया गया तब बहुत सी चीज़े उसमें परिवर्तित हो जाती हैं।

यह रूपान्तरण केवल मंच पर ही नहीं अपितु सिनेमा में भी देखने को मिलता है। कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद की कालजयी कथा 'शतरंज के खिलाडी' (1924) का सिनेमाइकरण किया गया, 'शतरंज के खिलाडी' कथा का मूल है। 'लखनऊ में लोग विलासता में डूबे हैं। समाज का ऊपरी तबका घोर आत्मकेंद्रित है। देश और दुनिया में क्या हो रहा है इसके प्रति वे लोग बेखबर हैं। मिर्ज़ा सज्जाद अली और मीर रोशन अली के चरित्रों द्वारा प्रभुवर्ग की दिग्भ्रमित मानसिकता का चित्रण किया है।' यह कथा का मूल है। प्रेमचंद ने कथा का आरम्भ ऐसे किया है "वाजिद अली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, गरीब-अमीर सभी

[35] महेश आनंद : कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 53

[36] गिरीश रस्तोगी : बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच, भारतीय ज्ञानपीठ, सं। 2004, पृष्ठ संख्या 128

[37] करण सिंह उत्वाल: कहानी का रंगमंच और नाट्यरूपान्तरण : पृष्ठ संख्या - 32

विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही में मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक अवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धंधों में, आहार-व्यवहार में सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी।"[38] सत्यजीत राय ने 1977 में 'शतरंज के खिलाडी' के नाम से ही फिल्म का निर्माण किया। उन्होंने ऊपर लिखी चार-पांच पंक्तियों को चलचित्र के रूप दिखाने के लिए दस से पंद्रह मिनट का समय लिया। सिनेमा में आपके पास एक 'स्पेस' होता है किसी भी दृश्य को दिखाने के लिए किन्तु मंच पर यह अवकाश नहीं है। "निश्चित समय में कथा का रूप प्रस्तुत किया जाता है जो साहित्यिक रूप से कठिन कार्य है इसी कारण उसकी रचना प्रक्रिया मंच के अनुसार की जाती है जो दृश्य मंच पर दिखा सकते हैं। सिनेमा में 'शतरंज के खिलाडी' का फिल्म रूपांतरण करते समय मुर्गों का लड़ना, अफीम लेना इत्यादि दिखा सकते हैं किन्तु मंच पर यह अवकाश नहीं है। मंच आज भी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुरूप कार्य कर रहा है किन्तु कथाओं के नाट्य रूपांतरण से मंच का स्तर भी परिवर्तित हुआ है।"[39] उत्तर आधुनिक समय में मंच पर किसी भी प्रकार के दृश्यों का समायोजन हो सकता है। अब यह संभव है क्योंकि आज के समय में तकनीक बहुत आगे है तथा साथ ही दर्शक अब नए प्रयोग देखना चाहता है।

नाट्य रचना करते समय नाटककार में मष्तिष्क में हमेशा मंच विधमान रहता है और कथा लिखते समय लेखक के जहन में पाठक वर्ग रहता है। जब रूपान्तरणकार किसी कथा का नाट्य रूपान्तरण करता है जब उसके मस्तिष्क में पाठक और मंच दोनों ही रहते हैं। कथा के मर्म और मंच की गरिमा दोनों ही उसके हाथों में होते हैं। एक विशेष लेखक ने हिंसा का जिक्र कर दिया किन्तु उसे मंच पर किस तरह दिखाया जा सकता है यह रूपान्तरणकार और निर्देशक के हाथ में है। इसी तरह कई ऐसे दृश्यों का योजन निर्देशक और नाट्यरूपान्तरण कर्ता के हाथों में होता है जिसे मंच पर निषेध माना जाता है लेकिन आज के मंच पर यह सब संभव है। "वर्तमान हिंदी रंगमंच ने पात्र, अभिनेता और अभिनय के क्षेत्र में कई प्रयोग किए हैं। प्राचीन मंच या नाट्यकृतियों में पात्रों के नाम दिए जाते थे पर अब दिन प्रतिदिन इसमें नयापन दिखाई दे रहा है। एक ओर मंच पर एक पात्रीय द्विपात्रिय, त्रिपात्रिय आयोजन हुए हैं। वस्तुतः अभिनय कला की दृष्टि से वर्तमान रंगमंच विकासोन्मुख कहा जा सकता है।"[40] मंच निर्माण से लेकर अभिनय तक इन सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुए हैं।

[38] प्रेमचंद: शतरंज के खिलाडी, पृष्ठ संख्या 05

[39] दिलचस्प : हिंदी सिनेमा के सौ वर्ष, पृष्ठ संख्या 41

[40] डॉ. मिथलेश गुप्ता : समकालीन हिंदी नाटक रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में, पृष्ठ संख्या 66

1.3 कथा साहित्य और रंग चेतना का अंत:सम्बन्ध

'कथा साहित्य और रंग चेतना' रंग चेतना से आशय अथवा रंग चिंतन 'मंच पर दृश्यबंध, मंच सज्जा, संगीत, प्रकाश विधान, रूप सज्जा और प्रस्तुतीकरण से है।' यहाँ रंग चेतना से आशय रंगमंच से है। विदित हो कि हमारे देश में कहानी कहने-सुनने की एक सुदीर्घ परंपरा रही है। राजा-रानी की कहानीयां, परियों की कहानी या विभिन्न लोक कथाओं को घर के बड़े-बूढ़े सभी बच्चों को बैठाकर सुनाया करते थे। वर्तमान में यह दृश्य कम ही देखने को मिलते है। जब कथा सुनते हैं तब बच्चे अपने-अपने कल्पना के रंग से उन कहानियों को चित्रित करते थे। देश के विभिन्न प्रांतों में कथावाचन और कथागायन की लोकपरंपराएं भी मिलती हैं। आल्हा, आख्यान, कीर्तन, एक-दूसरे से मिलती-जुलती और कहीं एक दूसरे से बिल्कुल अलग कई ऐसी ही शैलियां हैं। "इन परंपराओं में कहीं हाव-भाव व भंगिमाओं पर ज्यादा जोर दिया जाता है तो कहीं पर कलाकार (कथावाचक या गायक) अपनी विशिष्टताओं से उसमें बदलाव लाता है। सबकी प्रस्तुति में वाचिकाभिनय की प्रधानता रहती थी, अर्थात ये सभी शैलियां और परंपराएं किसी लिखित या मुद्रित आलेख पर नहीं मौखिक आलेख पर आधारित हुआ करती थीं।"[41] इसमें कथा से भी ज्यादा सुनाने वाले के कला-कौशल और सुनने वाले की कल्पना का कमाल हुआ करता था और यह कलाकार कल्पना और अभिनय के बल पर कथा का रूप और भी प्रभावशाली कर लिया करते थे। इसमें लोक कलाओं का योगदान भी अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। धीरे-धीरे सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ पहले लेखन कला और फिर कथा लेखन में भाषा ने इतनी समर्थता हासिल की, जिसमें संवाद की अधिकता हुई जिससे वो उसके मौखिक पाठ को पूरी अर्थवत्ता से समन्वित कर प्रभावोत्पादक बना सके। इससे कहानी और पाठक में एक नए रिश्ते की शुरूआत हुई, जिसमें पाठक कहानी को एकान्त में बैठकर आत्मीय भाव से चुपचाप पढ़ता था। देवेन्द्र राज अंकुर इसमें दो बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन लक्षित करते हैं- "...तो कहानी के सुनाने के साथ जो सामूहिकता और सामाजिकता जुड़ी हुई थी, वह धीरे-धीरे तिरोहित होती चली गई, दूसरे सुनाने में शब्दों की ध्वनियों का जो जादू समाहित था, उसका स्थान पाठक के अपने हृदय में गूंजती मौन ध्वनियों ने ले लिया। एक दूसरे रूप में सामूहिकता अवश्य बनी रही कि कहानी लिखित और बाद में मुद्रित होने के कारण एक ही समय में न जाने कितने पाठकों द्वारा एक साथ पढ़ी जा सकती है।"[42] जिस से हुआ यह की कथा की रोचकता में विस्तार हुआ और पाठकों तक कथा की पहुँच और अधिक बढ़ गई। बाद में चलकर कथा को सीधे श्रोताओं और दर्शकों से जोड़ने के क्रम में दो युक्तियां प्रचलित हुई।

[41] कमला प्रसाद, राजेंद्र अरुण : नाटक की इबारत, पृष्ठ संख्या 21

[42] (सं) हरीशचन्द्र अग्रवाल : नाटक के सौ बरस, पृष्ठ संख्या 346

स्वयं कहानीकार या किसी अभिनेता द्वारा श्रोताओं-दर्शकों की उपस्थिति में कहानी का सस्वर वाचन करने लगा। रंगमंच पर उसकी प्रस्तुति और भी प्रभावशाली हुई।

नारायण प्रसाद बेताब पारसी थिएटर के मशहूर थे वे कुशल नाटककार भी थे उनका मत है कि 'प्रत्येक कथा साहित्य में मूलतः एक कहानी होती है भाषा भी एक जैसी होती है। विधाओं का स्वरूप अलग-अलग क्यों हैं वे कौन-से तत्त्व हैं जो इन विधाओं को अलग-अलग स्वरूप को निर्धारित करते हैं क्या विधा बदलने से काव्य प्रभाव और आस्वाद में भी बदलाव आता है।' "साहित्य की अलग-अलग विधाओं का अलग-अलग स्वरूप होता है। केवल उनकी रचना प्रक्रिया ही अलग नहीं होती है बल्कि उनके तत्त्व भी अलग होते हैं। भाषा का प्रयोग भी विधा बदल जाने पर परिवर्तित हो जाता है। इसके साथ-साथ यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि साहित्यिक विधाओं का स्वरूप समय और आवश्यकता के अनुसार बदलता रहता है। विधाओं में आदान-प्रदान की प्रक्रिया चलती रहती है।"[43] कहानी का नाटक में रूपांतरण करने के लिए सबसे पहले कहानी और नाटक में वैविध्य तथा समानताओं को समझना आवश्यक है। इनके तत्व लगभग एक जैसे हैं लेकिन इनके भाव विभिन्न हैं। बिना किसी कथा अथवा भाव के कोई रचना नहीं हो सकती। एक स्वतंत्र पंक्ति भी कोई न कोई भाव लिए हुए रहती है। "कहानी का नाट्य रूपांतरण एक नई साहित्यिक रचना है। कहानी और नाटक दोनों अलग अलग विधाएं हैं किन्तु उनके मूल को समझना आवश्यक है।"[44] कहानी के साथ-साथ इसके लिए हमें नाटक की विशेषताओं को समझना होगा। जहाँ कहानी का संबंध लेखक और पाठक से जुड़ता है वहीं नाटक लेखक निर्देशक पात्र दर्शक श्रोता एवं अन्य लोगों को एक-दूसरे से जोड़ता है। चूँकि दृश्य का स्मृतियों से गहरा संबंध होता है इसलिए नाटक एवं फिल्म को लोग देर तक याद रखते हैं। यही कारण है कि गोदान, देवदास, उसने कहा था, पंच परमेश्वर, दोपहर का भोजन, मातादीन चाँद पर, खानाबदोश, पूस की रात, शतरंज के खिलाड़ी, चीफ की दावत, सद्गति आदि के नाट्य रूपांतरण कई बार हुए हैं और कई तरह से हुए हैं। कहानी कही जाती है या पढ़ी जाती है। नाटक मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। नाटक को मंच पर अभिनेता अभिनय द्वारा प्रस्तुत करते हैं। जिसमें मंच सज्जा होती है। संगीत, प्रकाश व्यवस्था होती है। समानता यह होती है कि कहानी और नाटक दोनों में एक कहानी होती है। दोनों में पात्र और परिवेश होते हैं। कहानी का क्रमिक विकास होता है। संवाद होते हैं, द्वंद्व होता है और चरम उत्कर्ष होता है। इस तरह हम देखते हैं कि दोनों ही नाटक और कहानी की आत्मा के कुछ मूल तत्त्व एक ही हैं। "यदि नाटक का परम्परागत चौखटा टूटता है और एक कहानी, अपने

[43] कमला प्रसाद, राजेंद्र अरुण : नाटक की इबारत, पृष्ठ संख्या 23

[44] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 74

मूल स्वाभाव के अनुरूप, छोटे छोटे परिवर्तनों आदि के साथ रंगमंच पर प्रस्तुत की जाती है, जिससे दर्शक को कहनी का भी रस मिलता है और नाटक का भी तो दर्शक इसका स्वागत ही करेंगे।"[45] यह अवश्य है कि कुछ मूल तत्त्व जैसे द्वंद्व नाटक में जितना और जिस मात्रा में आवश्यक है उतना संभवतः कहानी में नहीं है। कहानी को नाटक में रूपांतरित करने के लिए सबसे पहले कहानी की विस्तृत कथावस्तु को समय और स्थान के आधार पर विभाजित किया जाता है। कथावस्तु उन घटनाओं का लेखा-जोखा है जो कहानी में घटती है। प्रत्येक घटना किसी स्थान पर किसी समय में घटती है। ऐसा भी संभव है कि घटना स्थान तथा समय विहीन हो। यह दोष नाटक को मंच पर ले जाते समय दूर करना होता है।

कहानी जीवन के किसी एक हिस्से को बयान तो करती है पर वो जीवन नहीं हो सकती पर नाटक उसे एक मंच एक जीवन देता है, उसके समानांतर एक प्रश्न व विचार प्रत्यक्षतः प्रस्तुत करता है। नाइजीरियाई लेखक चिनुआ अचीबे ने लिखा है 'जब हम किसी कहानी को पढ़ते हैं, तब हम केवल उसकी घटनाओं के द्रष्टा ही नहीं बनते, बल्कि उस कहानी के पात्रों के साथ हम तकलीफों और भावनाओं में भी साझा करते हैं।' यही मर्म इतनी ही शिद्दत और गंभीरता से नाटक में भी अपेक्षित और ज़रूरी रहता है। एक सफल नाटक की यही वास्तविकता भी है। नाटक ज़िंदगी को देखना, उसे ज़ज्ब करना और कहानी प्रस्तुत करते सम्पूर्ण संवेदनाओं और सच्चाइयों-अनुभूतियों के साथ उसे दर्शकों के समक्ष पेश करना है। "यह प्रक्रिया नाट्य विधा के अंतर्गत समाहित होती है क्योंकि यहां नाट्य के मूलभूत आवश्यक उपादान दर्शक और अभिनेता (कहानीकार भी तब अभिनेता बन जाता है) मौजूद होते हैं। उस स्थिति में कथा का मंचन जब कभी होता है। इस प्रक्रिया में कहानी का पुनर्विन्यास (रिस्ट्रक्चरिंग) भी होता है, जो वाचक के व्यक्तित्व, उसकी अभिनयात्मक मुद्राओं, आवाज़ की गति-यति-तान, उसकी क्रियाओं, दर्शक-श्रोता की सामूहिक उपस्थिति एवं दृश्य-श्रव्य परिवेश आदि के धरातल पर होता है, इसमें कहानी का बाह्य भाषा शरीर भले ही ज्यों का त्यों बना रहता है परन्तु कहानी का अर्थ प्रभावित होता है।"[46] दर्शकों तक उसका परिवर्तित रूप एक स्तर पर पहुँचता है। दर्शक कथा और वाचन पर अधिक ध्यान देने लगता है और दोनों का अपने मानस में चिंतन करने लगता है। उसके सामने एक दृश्य प्रस्तुत है जिनसे वह सीधे सीधे संपर्क में है।

[45] (सं) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 33

[46] डॉ. चंदूलाल दूबे : हिंदी रंगमंच का इतिहास (पहला भाग) पृष्ठ संख्या – 15

इस प्रक्रिया में अब नाटक की शर्तों पर ही कथा का प्रस्तुतिकरण होता है। नाटक और कथा में मूलभूत विधागत अंतर है। जहां एक तरफ नाटक का एकमात्र माध्यम संवाद है- यदि वहां वर्णन आता भी है तो वह भी एक प्रकार का नाटकीय संवाद है, वहीं दूसरी तरफ कहानी के साथ संवादों की बाध्यता बिल्कुल नहीं है। इसी सन्दर्भ में देवेन्द्र राज अंकुर का मत है कि "कहानी मूलतः वर्णित के सहारे आगे बढ़ती है यदि कहानी में संवाद आते भी हैं तो वे भी उसी वर्णित का अंश होते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि कहानी के संवाद किसी स्थिति -विशेष की नाटकीयता को स्थापित नहीं करते वरन् वे स्थिति का विवरण ही प्रस्तुत करते हैं।"[47] संवाद के माध्यम से कथा के दृश्य का रूपान्तरण किया जाता है। वेशभूषा से लेकर, गीत, संवाद ये सब कथा का हिस्सा होते हुए भी कथा से बाहर प्रतीत होते हैं किन्तु मंचन के समय कथा में समाहित हो जाते है।

[47] देवेन्द्र राज अंकुर: रंग कोलाज, पृष्ठ संख्या 115

1.4 नाट्यरूपांतरण : प्रकृति, तकनीक और कला

विदित हो नाट्य रूपांतरण हिंदी साहित्य की प्राचीन विधाओं में से एक है। किसी भी सहित्य की विधा की रचना का नाट्य रूपान्तरण कई परतों से होकर गुज़रती है। कथाओं का नाट्य रूपान्तरण कर मंचित करना एक नई शैली का प्रयोग और नए तरीके करना स्वयं में एक प्रयोग है। इस प्रक्रिया में कथा कच्चे माल का काम करती है, जिसको आधार बनाकर कोई नाटक लिखा जाता है। "वस्तुतः नाट्य रूपान्तरण की प्रक्रिया में कथा से उसकी कथावस्तु लेकर नाटकों के बने बनाए चौखटे (फ्रेम) में उसे फिट कर दिया जाता है। निःसंदेह यह तरीका तर्कसम्मत है और इसके बड़े अच्छे परिणाम भी निकलते हैं"[48] लेकिन इसको बहुत प्रभावी नहीं मानते हुए कुंवर जी अग्रवाल लिखते हैं 'ज्यादातर इसे नाटक के बंधे-बंधाए रूढ़ यथार्थवादी ढाँचे में किया जाता है, जिससे नाट्य-कल्पना की नई संभावनाओं की दिशाएं नहीं खुल पातीं।' इन दोनों प्रचलनों के बीच एक तरीका और भी है जिसका प्रथम प्रयोग देवेन्द्र राज अंकुर ने सन् 1975 में किया। उन्होंने निर्मल वर्मा की तीन कहानियों 'डेढ़ इंच ऊपर', 'धूप का एक टुकड़ा', 'वीकएंड' को 'तीन एकांत' शीर्षक से मंचित करके कहानी को रंगमंच प्रदान करने की असीम संभावनाओं का द्वार खोला। इस तरीके को अंकुर जी कहानी का रंगमंच कहते हैं -"शब्द-दर-शब्द, बिना उसमें परिवर्तन करते हुए मैंने अपने इस सारे काम को बहुत पहले 'कहानी का रंगमंच' शीर्षक दिया था।"[49] अंकुर जी कहानी का रंगमंच को लेकर एक तरह का नया प्रयोग करना चाहते थे जो की प्रयोग बहुत ही सफल रहा है। ऐसा मंचन कही भी खेलना संभव हो पाया इसी का रूप 'आँगन मंच' और 'मनो शारीरिक' रंगमंच का रूप बन पाया। इन मंचनों से नाटक में नई भाव भूमि का निर्माण हुआ तथा मंचन मंच के विलग कहीं भी खेलने के अवसर हुए।

कथावस्तु कथानक को सामने रख कर एक-एक घटना को चुन-चुनकर निकाला जाता है और उस के आधार पर दृश्य बनता है। तात्पर्य यह कि यदि एक घटना एक स्थान और एक समय में घट रही है तो वह एक दृश्य होगा। "इस प्रक्रिया में कहानी को तोड़-मरोड़कर, उसमें शब्दों को बदलकर, उसके रूप (फार्म) को भंग करके कोई नया नाट्यालेख नहीं तैयार किया जाता है और न ही कोई एक या एकाधिक अभिनेता पूरी कहानी को पढ़कर या रटकर सुनाता है।"[50] इसकी विशिष्ट प्रक्रिया के बारे में भीष्म साहनी का मानना है कि -"रंगमंच पर एक कहानी की इस तरह प्रस्तुति की जाए कि उसमें दर्शक को नाटक का रस मिले, बिना किसी नाटकीय जोड़-तोड़ के, अर्थात कहानी

[48] नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक, पृष्ठ संख्या 74

[49] (सं) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच (देवेन्द्र राज अंकुर से दिनेश खन्ना की बातचीत 1994) पृष्ठ संख्या 49

[50] अकार : संपादक - गिरिराज किशोर, पृष्ठ संख्या 26

का गठन ज्यों-का-त्यों मूल रूप में बना रहे, पर उसके भीतर के नाटकीय तत्त्वों को जैसे संवाद, घटनाचक्र आदि को अभिनय द्वारा सहज-स्वाभाविक ढंग से उभारा जा सके। इसमें कहानी का मूल गठन भी बना रहे, लेखक की मूल भाषा भी बनी रहे, पर उसकी गति में नाटकीयता आ जाए।"[51] कथाकार भीष्म साहनी ने यह उद्गार, अपनी ही तीन कहानियों 'चीफ की दावत', 'संभल के बाबू' और 'लीला नंदलाल की' के सफल मंचन देखने के बाद व्यक्त किया। वहीं एक और विशिष्ट कथाकार निर्मल वर्मा भी 'कहानी के रंगमंच' को चुनौतीपूर्ण मानते हुए 'नाटकीय लय' की प्रस्तुति को महत्त्व देते हैं। वे लिखते हैं- "जब कहानी के मूल स्वभाव को विकृत किए बिना, उसे मंच पर इस तरह प्रस्तुत किया जाए, जहां वह एक ही समय में नाटक का 'इल्यूजन' दे सके और दूसरी ओर, कहानी की आत्यंतिक फार्म और लय को अक्षुण्ण रख सके। यहां समस्या कहानी के नाटकीय तत्त्वों को चुन-चुनकर स्टेज पर सज़ाना नहीं है, बल्कि उस समूची नाटकीय लय को मंच पर पुनर्जीवित करना है, जो कहानी के भीतर अदृश्य रूप से व्याप्त है।"[52] स्पष्ट है की कथा का कच्चा माल मंचन करने में उसके परिवर्तित रूप का भी एक भिन्न रूप प्रदान करता है। नाट्य रूपान्तरण के लिए नए-नए पात्रों का सृजन किया जाता है साथ ही नए दृश्यों को लिखा जाता है। यह दृश्य विधान कथा में नदारद रहते हैं किन्तु मंचन को प्रभावशाली बनाने के लिए नए नए दृश्यों का समायोजन किया जाता है।

ध्वनि और प्रकाश भी चरित्र-चित्रण करने तथा संवेदनात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में कारगर सिद्ध होते हैं जिनका सृजन रूपान्तरणकार को करना पड़ता है। प्रायः निर्देशक ही इस संबंध में निर्णय लेते हैं पर लेखकों के सुझाव सदा स्वागत योग्य होते हैं। लेखक को यदि इन संभावनाओं की जानकारी है तो उसके अंदर आत्मविश्वास पैदा होता है और रूपांतरण का कार्य संतोषजनक होता है। रूपांतरण में एक समस्या पात्रों के मनोभावों को कहानीकार द्वारा विवरण के रूप में व्यक्त प्रसंगों या मानसिक द्वंद्व के दृश्यों की नाटकीय प्रस्तुति में आ सकती है। कुछ दृश्यों के रूपांतरण में कई तरह के विवरण प्रस्तुत करने के लिए स्वगत कथन का प्रयोग किया जाता है जिसमें लेखक मंच के कोने में जाकर अपने आप से यह संवाद बोलता है लेकिन आज कल voice over अर्थात ऐसी ध्वनि जो दर्शकों को सुनाई देती है पर पात्र नहीं बोलता ये सब voice over के माध्यम से संभव हो रहा है। कुछ अंशों लिए फ़्लैशबैक शैली का उपयोग किया जाता है। 'उसने कहा था' और 'ईदगाह' जैसी कई कहानियों में फ़्लैश बैक शैली का प्रयोग बखूबी हुआ है।

[51] (सं) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 31

[52] (सं) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 28

रूपान्तरण में स्थान और समय के आधार पर कहानी का विभाजन कर के दृश्यों को लिखा जाता है। यह देखना आवश्यक है कि प्रत्येक दृश्य का कथानक के अनुसार औचित्य हो। मतलब यह कि "प्रत्येक दृश्य क्या कथानक का हिस्सा है क्या उसे निकाल दिया जाए तो कथानक और उस के विकास पर कोई फर्क पड़ेगा ऐसे दृश्य नहीं हो सकते जो अनावश्यक हों। ये नाटक की गति को बाधित करेंगे और नाटक उबाउ हो जाएगा। यह भी ध्यान रखा जाता है कि प्रत्येक दृश्य का कथानुसार तार्किक विकास हो रहा है अथवा नहीं हो रहा है।"[53] यह सुनिश्चित करने के लिए दृश्य विशेष के उद्देश्य और उसकी संरचना पर विचार आवश्यक है। प्रत्येक दृश्य एक बिंदु से प्रारंभ होता है। कथानुसार अपनी आवश्यकताएँ पूरी करता है और उसका ऐसा अंत होता है जो उसे अगले दृश्य से जोड़ता है। इसलिए दृश्य का पूरा विवरण तैयार किया जाता है। कहीं ऐसा न हो कि दृश्य में कोई आवश्यक जानकारी छूट जाए या उसका फ्रेम बिगड़ जाए। इस प्रकार हम देखते हैं कि "नाटक ही में नहीं बल्कि नाटक के प्रत्येक दृश्य में प्रारंभ मध्य और अंत होता है। दृश्य कई काम एक साथ करता है। एक ओर वह कथानक को आगे बढ़ाता है तो दूसरी ओर पात्रों और परिवेश को संवादों के माध्यम से स्थापित करता है।"[54] इसके साथ-साथ दृश्य अगले दृश्य के लिए भूमिका भी तैयार करता है।

'कथा का रंगमंच' में कथा और रंगमंच एक-दूसरे से अलग होते हुए भी अपनी रचना और प्रस्तुति प्रक्रिया में इतने निकट आ जाते हैं कि कथा में रंगमंच है अथवा रंगमंच पर कथा है, यह भेद करना कठिन हो जाता है। असल में, किसी भी कथा को पढ़ते-सुनते हुए पाठक या श्रोता के मन की आंखों के सामने जो दृश्य जगत बनता चलता है, उसे ज्यों-का-त्यों मंच पर साकार करने से ही कहानी के मंचन का सरोकार है। इस सन्दर्भ में देवेन्द्र राज अंकुर जी लिखते हैं -"यहां कहानी अपने मूल रूप में हू-ब-हू शब्द-दर-शब्द नाटक में रूपांतरित हुए बिना दर्शक के लिए एक रंगमंचीय अनुभव में परिवर्तित हो जाती है। ज़ाहिर है कि इस प्रक्रिया में कहानी के शब्दों, कथ्य एवं संरचना के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की जाती अर्थात् कहानी का अलग से कोई मंच अथवा प्रदर्शन आलेख तैयार नहीं किया जाता और कहानी जिस रूप में उपलब्ध है उसी को पहले और अंतिम आलेख के रूप में स्वीकार करके मंचन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है।"[55] स्पष्ट है की कथा जिस रूप में लिखी गई उसका रूप मंचन के समय कुछ परिर्वतित महसूस होता है। परिवर्तित रूप में संवाद की लयता और दृश्य बंध को एक साथ देखा जाता है। इन विवरणों को दृश्यों, बिम्बों और

[53] डॉ. चंदूलाल दूबे : हिंदी रंगमंच का इतिहास (पहला भाग) पृष्ठ संख्या – 18

[54] नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक, पृष्ठ संख्या 31

[55] देवेन्द्र राज अंकुर: पहला रंग, पृष्ठ संख्या 59

अनुभूतिपूर्ण चित्रण में रूपान्तरित कर ऐसे जीते जागते शब्दों में ढालते हैं, जो एक साथ बोले भी जा रहे हैं और देखे भी जा रहे हैं। नाटकों से इसके अलगाव को दिखाते हुए देवेन्द्र राज अंकुर लिखते हैं- "कहानी के साथ कोष्ठक जैसी कोई सुविधा नहीं जुड़ी है। उसका हर एक शब्द पाठक, श्रोता और दर्शक के लिए भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि वह स्वयं अभिनेता के लिए होता है।"[56] नाटक में दृध्य समय तथा संवाद के समय का भाव इत्यादि दिए होते है जबकि कथा में ऐसी सुविधा का अभाव रहता है। दृश्यों को संवाद के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है।

वस्तुतः कथा साहित्य को धारावाहिक, फिल्म या नाट्य रूपांतरण कर रंगमंच पर लाने के प्रयोग होते रहे हैं। इनकी प्रस्तुति अत्यंत जोखिम भरी रही है क्योंकि उसके लिए जितना जरूरी साहित्य को समझकर व्याख्या करना रहा है, उतना ही माध्यम की निजी जटिलताओं और विशेषताओं की समझ रखना भी है। "इसमें भी प्रत्यक्ष और जीवित माध्यम होने के कारण रंगमंच की प्रस्तुति में सर्वाधिक खतरे हैं क्योंकि अधिकांशतः फिल्म निर्देशक, धारावाहिक निर्देशक या रंग-निर्देशक मात्र फार्म, प्रयोगों एवं शिल्पगत नवीनता के मोह में फंसकर अपने समय और मानवीय संवेदना को यथोचित महत्त्व नहीं दे पाते है।"[57] वे मूल रचना के मर्म को न तो स्वयं समझ पाते हैं, न उद्घाटित कर पाते हैं। इस तरह वे कथा साहित्य के साथ न्याय नहीं कर पाते है। ऐसी स्थिति में नाटककार या रूपान्तरणकार और निर्देशक के बीच में मतभेद हो जाते हैं।

इसी रंगमंच की उर्वरता को बढ़ाने एवं मूल कथा से न्याय करने के क्रम में नवीन संभावनाओं की तलाश में देवेन्द्र राज अंकुर ने 'कहानी के रंगमंच' का सूत्रपात किया। जहां न कहानी का नाट्यरूपान्तरण है और न ही कहानी से प्रेरित कोई नई नाट्य रचना की परिकल्पना, बल्कि इसमें कहानी की आंतरिक लय को पकड़ते हुए उसमें निहित नाटकीयता को अपने मूल रूप में प्रस्तुत किया जाता है। एक नैरेटिव माध्यम से इसमें कहानी का दृश्यात्मक विस्तार होता है साथ ही उसके मर्म का उद्घाटन होता है। इस मंच की सबसे बड़ी चुनौती यही होती है कि कैसे नाट्य आलेख से मिलने वाली सहायता- दृश्यबन्ध, रंगोपकरण, वेशभूषा, रूप सज्जा, पार्श्व संगीत, ध्वनि प्रवाह आदि के उपयोग के बिना ही कहानी अपने मूल रूप को सुरक्षित रखते हुए भी एक नितांत नया रंगमंचीय अनुभव, एक दृश्यकाव्य बन जाती है। देखने के नए तत्त्व के जुड़ने के साथ ही रंगानुभव में परिवर्तन हो जाता है जो कहानी के साथ अब तक के जुड़े रिश्तों-कथागायन और कथावाचन की शैलियों एवं परंपराओं से भिन्न है। पहले की प्रक्रिया में जहां सुनने-पढ़ने में अदृश्य

[56] देवेन्द्र राज अंकुर: रंग कोलाज, पृष्ठ संख्या 28

[57] डॉ. चंदूलाल दूबे : हिंदी रंगमंच का इतिहास (पहला भाग) पृष्ठ संख्या 87

रूप से देखना शामिल हुआ करता था और अब उसके देखने में पढ़ना सुनना भी अनिवार्य रूप से शामिल है। कहानियों को नाट्य रूपांतरित कर प्रदर्शन करने की एक सुदीर्घ एवं सफल परंपरा तो पहले से ही आ रही थी अतः 'कहानी का रंगमंच' इस नाट्य मंचन से अलग कैसे है? इस सवाल का उत्तर देवेन्द्र राज अंकुर देते हैं- "फर्क यही है कि कहानी के नाट्य रूपान्तरण के बाद मंचन, कहानी का मंचन नहीं है बल्कि एक नई नाट्य रचना का मंचन है।"[58] स्पष्ट है कथा को ज्यों का ज्यों प्रस्तुत करना ही 'कहानी का रंगमंच' है। नाट्य रूपान्तरण का रूप एक नई विधा का रूप है। सत्तर के दशक के बाद ऐसे प्रयोग खूब हुए हैं।

इसका सफल प्रयोग हमें अंकुर जी द्वारा निर्मल वर्मा की तीन कहानियों को तीन एकांत (धूप का टुकड़ा, डेढ़ इंच ऊपर, वीकएंड) शीर्षक वाले रंग कोलाज की पहली ही प्रस्तुति (1975) में देखने को मिली। इस प्रयोग में न तो एकाधिक अभिनेताओं द्वारा कहानी का नाटकीय पाठ हुआ और न कहानी को संवादों में परिणत कर अथवा चरित्रों द्वारा नाटकीय बिन्दुओं को विभिन्न हाव-भाव या स्वरों के उतार-चढ़ाव द्वारा प्रस्तुत किया गया। इसमें कहानी को किन्हीं नाटकों की तरह 'मोनो ऐक्टिंग' के करीब लाने का प्रयास भी नहीं किया गया। "कहानी के मंचन में तो कहानीकार द्वारा दिए गए विवरण को ही नाटकीय एवं रंगमंचीय अनुभव में परिवर्तित करने की कोशिश रहती है। स्पष्ट है कहानी के मंचन में और नाट्य रूपांतरण में अधिक अंतर है। नाट्य रूपान्तरण में रंगमंच की आवश्यकता है जबकि कहानी के मंचन में किसी छोटी जगह का भी प्रयोग किया जा सकता है।"[59] विस्तृत तौर पर देखने पर पाते हैं की मंचन से जुड़ने के लिए कथा का कच्चा माल चाहिए। इस विवरण से तैयार कहानी के रंगमंच की प्रक्रिया को हम श्रीलाल शुक्ल की एक चर्चित कहानी 'यह घर मेरा नहीं' के मंचन के उदाहरण से समझ सकते हैं। सन् 1960-61 में लिखी यह कहानी आज़ादी के लगभग 15 साल बाद जवान होती पीढ़ी की है, जो मोहभंग की प्रक्रिया से गुजर रही थी। इस पीढ़ी के समानांतर अभी तक परंपरागत व्यवस्था एवं अनुशासन से चिपकी हुई वह पहले वाली पीढ़ी भी थी, जो बहुत दुविधाग्रस्त है और इन दोनों के बीच में एक लड़की का वर्णन जो शायद महज एक युक्ति के रूप में या प्रतीक के तौर पर हमारे सामने आती है। "कहानी में कुल सात-आठ पात्र उपस्थित हैं लेकिन देवेन्द्र राज अंकुर ने मात्र तीन अभिनेताओं के साथ मिलकर इस कहानी को मंचित किया। पिता, पुत्र और पड़ोस की एक लड़की है। इसके अलावा यदि कुछ दूसरे पात्र आए भी तो या तो वे नैरेशन के माध्यम से स्थापित हो गए अथवा अगर उनकी जीवंत उपस्थिति की जरूरत पड़ी तो एकाध दृश्यों के माध्यम से उन्हें प्रस्तुत किया गया। जैसे- बाजार के

[58] देवेन्द्र राज अंकुर: रंग कोलाज, पृष्ठ संख्या 172

[59] नया पथ : संपादक - मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, पृष्ठ संख्या 45

दृश्य में दो रास्तों से स्टेज के एक कोने से दूसरे कोने तक गुजरती लड़कियां और उनसे हल्की-फुल्की छेड़-छाड़ हंसी ठिठोली करते पुत्र के दो दोस्त गुजर जाते हैं।"[60] पूरे दृश्य में पिता भी पृष्ठभूमि में मौजूद है। वास्तव में यह फ्लैश बैक उसी के एक संवाद के बाद आता है। "इस पूरे दृश्य में पिता पर पड़ती रोशनी धीमी हो जाती है और वह प्रायः जड़ स्थिति में बना रहता है।"[61] इस दृश्य के खत्म होते ही पूरे मंच पर सामान्य रोशनी पुनः लौट आती है, मानो कहानी वर्तमान या तात्कालिकता में वापस आ गई है।

कहानी में लेखक ने तीसरे पुरुष अर्थात् 'वह' की शैली में विवरण दिया है। नैरेशन की इस शैली को अभिनेता अधिकांशतः 'मैं' शैली में बदल देने को सदैव उत्सुक रहते हैं लेकिन अंकुर जी का विश्वास है "कहानी में अभिनय करने का सबसे खूबसूरत पहलू ही यही है कि नैरेशन हमें जिस भी शैली में मिला है, हम उसे वैसा ही रहने दें। फिर कहानी जैसी विधा की रीढ़ ही नैरेशन की उपस्थिति है, चाहे वह किसी भी शैली में क्यों न लिखा हो।"[62] वस्तुतः जब यह नैरेशन तीसरे अथवा अन्य पुरुष की शैली में किसी कहानी में रचित होता है, तब उसमें अभिनेता के लिए असीम नाटकीय एवं रंगमंचीय संभावनाओं के द्वार खुल जाते हैं एक ही कहानी में दर्शकों को अभिनय के अनेक आयाम देखने को मिल जाते हैं। अभिनेता का कभी चरित्र के भीतर प्रवेश करना, कभी बाहर आ जाना, कभी चरित्र में रहते हुए भी अपना दर्शक स्वयं बन जाना, अपनी व्याख्या स्वयं करने लगना। कथा रचना प्रक्रिया और उसके बदले हुए रूप में यह सब रूपान्तरण का हिस्सा है जहाँ किसी संवाद को मंच के हिसाब से रखा जाए कहानी का मंचन एक अलग विधा के रूप में समक्ष है। कथा का मंचन और नाट्य रूपान्तरण दोनों के लिए कथा साहित्य का कच्चा माल चाहिए।

'यह घर मेरा नहीं' की मंचन प्रक्रिया में तीनों अभिनेताओं ने पूरे नैरेशन को आपस में बांट लिया और बहुत सहज रूप में ही उपर्युक्त अनुभवों से गुजरे। इसके फलस्वरूप एक बहुत ही रोचक एवं नाटकीय युक्ति, स्वयं ही आलेख में से उभर कर आ गई। इससे तीनों ही पात्र बहुआयामी होकर मंच पर सामने आए। जब भी किसी एक पात्र का नैरेशन होता तो दूसरा पात्र यदि मंच पर मौजूद भी है तो वह उसे न सुनने का अभिनय करता था या फ्रीज हो जाता है। "इस तकनीक ने पात्रों को सीधे दर्शकों से मुखातिब कर दिया। नैरेशन दर्शकों के साथ सीधे संवाद के रूप में बदलता चला गया और जब कभी वह दर्शकों को संबोधित नहीं भी होता तो पात्र स्वगत कथन या आत्म संवाद की

[60] देवेन्द्र राज अंकुर: पहला रंग, पृष्ठ संख्या 148

[61] वाक् : संपादक - सुधीश पचौरी, पृष्ठ संख्या 12

[62] देवेन्द्र राज अंकुर: पहला रंग, पृष्ठ संख्या 167

मुद्रा में होता है।"[63] उस परिकल्पना से देखा जाए तो 'यह घर मेरा नहीं' कहानी में मंच-सज्जा न के बराबर थी, केवल एक सोफा मंच के बीचों बीच लगभग पिछले हिस्से में एवं उसी के समानांतर ऊपरी दाहिने कोने में एक मेज और कुर्सी थे। 'दो दृश्यबंध प्रकाश के अपने-अपने दायरे में कैद पिता और पुत्र की नितांत निजी और एक-दूसरे से भिन्न दुनिया के अहसास को प्रतीकित करते हुए। इसके अलावा थोड़ी संगीत की ध्वनि और पार्श्व ध्वनि के रूप में उभरती घड़ी की 'टिक-टिक'। विशेषकर जब पात्रों के संवादों के बीच आए निश्चित विराम के समय दो पात्रों के बीच उपस्थित संवादहीनता की स्थिति को रेखांकित करने के लिए। मंचन के अंत में पुत्र सोफे पर लेटा हुआ है। पिता यह कहने के बाद कि 'उनका विद्रोही उन्हीं के घर में चुपचाप सो गया था' थोड़ी देर यूं ही असमंजस की स्थिति में मंच पर खड़े रह जाते हैं, फिर उनके प्रस्थान के साथ ही मंच पर फीके होते प्रकाश में 'टिक-टिक-टिक-टिक की आवाज़ गूंजती है।' इस विस्तृत तरीके से कथा का लेखन नहीं है किन्तु जैसे ही मंच पर कथा जाती है जीवंत हो उठती है।

साहित्यगत नाट्य रूपान्तरण तथा कहानी के मंचन की आदर्श परिकल्पना को स्पष्ट करते हुए देवेन्द्र राज अंकुर कहते हैं- "एक खाली स्पेस में उसके शब्द अभिनेताओं के समूह के माध्यम से जीवंत और साकार होते चलें, जब चाहे मंच पर वैसा ही स्वरूप ग्रहण कर लें और उसी क्षण तिरोहित हो जाएं। दर्शक के सामने कुछ हद तक सचमुच के दृश्य-खंड बन जाएं और उससे भी ज्यादा स्वयं उसकी अपनी कल्पना के लिए विस्तार दें- एक मायने में अभिनेता को गायक और नर्तक जैसी सूक्ष्म से सूक्ष्म क्षमता को भी अपने भीतर समाना होता है, जहां वह मात्र शब्दों की ध्वनियों अथवा मुद्राओं से ही सब कुछ साक्षात् प्रस्तुत कर देते हैं।"[64] यह मुद्राएँ कथा में नहीं होती है किन्तु जब उसका नाट्य रूपान्तरण होता है तब कथा का यह रूप भी महत्वपूर्ण हो जाता है। संवाद को भाव के साथ बोलने से संवाद और पात्र जीवित हो उठते है। जिन पात्रों को केवल पढ़ा वह पात्र स्वयं संवाद बोलता हुआ नज़र आता है। इस तरह से कहानी अपनी भिन्न-भिन्न शैलियों के कारण नाटक के एक बने बनाए फ्रेम से बिल्कुल अलग होती है। नाटक की तैयारी में एक निश्चित व्याकरण काम करता है, उसमें सामान्यतः एक चरित्र का निर्माण किया जाता है और शुरू से अंत तक उसको बनाए रखा जाता है। वहीं कहानी की प्रस्तुति में उसे तोड़ना पड़ता है बल्कि यूं कहें कि उसकी जरूरत ही नहीं पड़ती है। जैसा कि 'यह घर मेरा नहीं' से स्पष्ट हुआ, कि कभी पल भर में अभिनेता उसके पाठक हो जाते हैं तो कभी व्याख्याता और कभी उस दृश्य में हिस्सा लेने वाले चरित्र है।' कहानी को प्रस्तुत करते समय अभिनेता के सामने इस तरह की सदैव नई चुनौतियां

[63] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 41

[64] देवेन्द्र राज अंकुर: रंग कोलाज, पृष्ठ संख्या 116

आती हैं और हर बार वह किसी नए रास्ते को ढूंढ़ निकालता है। अभिनेता की इन्हीं संभावनाओं और चुनौतियों को लक्ष्य करके ही अंकुर जी इसे 'अभिनेता का रंगमंच' कहते हैं। जो अभिनेता स्वयं लेखक है, पाठक है, व्याख्याकार है, टिप्पणीकार और अंततः एक चरित्र भी है। ये सारी स्थितियां उसकी खोजने-पाने-खोने और फिर नए सिरे से खोजने-पाने-खोने की प्रक्रिया को रेखांकित करती हैं।"[65] रूपान्तरण में कथा का मंचन नए सिरे से देखने को मिलता है। नए संवाद, नए दृश्य बंध के साथ कथा का मंचन और उसका रूपान्तरण किया जाता है। कई नए पात्रों का सृजन किया जाता है, कई घटनाओं को जोड़ा जाता है।

कहानी का नाट्य रूपांतरण ऐसा होता है कि कुछ ऐसे दृश्य बनते हों जिनमें लेखक ने केवल विवरण दिया हो और उसमें कोई संवाद न हो। ऐसे दृश्यों का भी पूरा खाका तैयार कर लेते हैं। यह अवश्य देखना होता है कि जानकारियाँ सूचनाएँ और घटनाएँ दोहराई न गई हों। "दृश्य निर्धारित करने के बाद दृश्यों और मूल कहानी को पढ़ने से यह अनुमान लगता है कि मूल कहानी में ऐसा क्या है जो दृश्यों में नहीं आया है। लेखक द्वारा परिवेश का विवरण या परिस्थितियों पर टिप्पणियाँ प्रायःदृश्यों में नहीं ढल पातीं हैं। यह देखना आवश्यक है कि परिस्थिति, परिवेश, पात्र, कथानक से संबंधित विवरणात्मक टिप्पणियाँ किस प्रकार की हैं।"[66] विभिन्न प्रकार के विवरणों को नाटक में स्थान देने के अलग-अलग तरीके हैं। उदाहरण के लिए विवरणात्मक टिप्पणी यदि परिवेश के बारे में है तो उसे मंच सज्जा के अंतर्गत लिया जाता है या पाश्र्व संगीत के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। विवरण यदि पात्रों के बारे में है तो उन्हें संवादों के माध्यम से निर्धारित दृश्यों में उचित स्थान पर दिया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कहानी में व्यक्त महत्त्वपूर्ण सूत्र नाटक के स्वरूप के अनुसार अपनी जगह निर्धारित कर लेते हैं।

दृश्य निर्धारित हो जाने पर यह अनुमान लगाया जाता है कि दृश्य की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले तथा दृश्य के क्रमिक विकास को सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त संवाद हैं या नहीं है। यदि पर्याप्त संवाद नहीं हैं तो उन्हें लिखने का काम किया जाता है। "सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि नए लिखे संवाद कहानी के मूल संवादों के साथ मेल खाते हों। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कि उनके लिखे जाने का सौ प्रतिशत औचित्य हो। तीसरी बात जो ध्यान में रहे वह यह है कि संवाद छोटे प्रभावशाली और बोलचाल की भाषा में होते हैं। कहानी में छपे लंबे संवाद को पाठक पढ़ सकता है लेकिन मंच पर बोले गए लंबे संवाद से तारतम्य बनाए रख पाना कठिन होता है।"[67]

---

[65] देवेन्द्र राज अंकुर: रंग कोलाज (महेश आनंद से अंकुर की बातचीत) पृष्ठ संख्या 122

[66] समकालीन भारतीय साहित्य : संपादक मंडल विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चंद्रशेखर कम्बार, के. श्रीनिवासराव, पृष्ठ संख्या 48

[67] अभिव्यक्ति और माध्यम : एनसीईआरटी, पृष्ठ संख्या 74

कहानी में चरित्र-चित्रण अलग प्रकार से किया जाता है और नाटक में उसकी विधि कुछ बदल जाती है। रूपांतरण करते समय कहानी के पात्रों की दृश्यात्मकता और नाटक के पात्रों में उसका प्रयोग किया जाता है।

लगभग पंद्रह से अधिक विविधतापूर्ण कहानियों में अभिनय कर चुके सुरेन्द्र शर्मा इस रंगमंच में अभिनेता की कठिनाइयों पर प्रकाश डालते हैं- "ऐसी कहानी में, जिसमें वर्णन और संवाद दोनों मौजूद हों, अभिनेता को दो स्तरों पर समानांतर अपने को स्थापित करना और अभिनय को जीना पड़ता है। जब वह वर्णन कर रहा होता है, तो उसे असंपृक्त, विवेकपूर्ण, साथ ही सरोकारों से युक्त परफॉर्मर बनना पड़ता है और अगर इस बीच कोई संवादयुक्त दृश्य आता है, तो उसे उस चरित्र को जीना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अभिनेता से सहज, स्वतः स्फूर्त गहरे लगाव की कड़ी मांग होती है, जिसे पाने के लिए उसे ध्यान मग्नता, सच्चाई और विश्वास की अनुभूति, कल्पनाशीलता, संवेगात्मक स्मृति अंतर्निहित पाठ, चरित्रों के पारस्परिक संबंध अनुकूलन (एडेप्टेशन) गति, लय आदि अभिनय की समस्त प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि उसे अपने को निचोड़ने की अनुभव-प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है।"[68] वस्तुतः प्रत्येक कहानी का अपना एक अलग व्यक्तित्व, शैली एवं तेवर होता है जो नाटक की तुलना में बहुत अधिक परिवर्तनशील एवं विविधतापूर्ण होती है। जितने कहानीकार, उतनी ही शैलियां, उतने ही रूप और नई ताजगी भी है। कहानी के रंगमंच का यही आकर्षण अंकुर जी सहित अनेक निर्देशकों को अपनी ओर खींचता हैं। अंतिम समय तक यह निश्चित नहीं हो पाता कि किस शैली में कोई कहानी प्रस्तुत की जा सकती है। निर्देशकों के लिए लगभग हर प्रयोग एक खोज होता है। इसके बारे में शताधिक कहानियों का सफल मंचन कर चुके देवेन्द्र राज अंकुर जी कहते हैं- "मुझे अभी भी प्रस्तुत होने के अंतिम क्षण तक यह पता नहीं होता कि कहानी अंततः मंच पर क्या स्वरूप लेगी। यह रहस्य, जिज्ञासा ही शायद कहानी के रंगमंच का वह मर्म है, जिसके चलते मैं आज भी उसे करता जा रहा हूँ।"[69] इस विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है जहाँ कथा मंच पर जाते-जाते और भी विविध रूप में परिवर्तित होती है। कई बार मंच नाटक के अनुसार नहीं हो पाता और कहीं पर प्रकाश व्यवथा उचित नहीं हो पाती है जिस कारण मंचन का कार्य उस स्तर पर नहीं हो पाता जैसा निर्देशक और रूपान्तरणकार चाहते हैं।

[68] महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 43-44

[69] देवेन्द्र राज अंकुर: रंग कोलाज, पृष्ठ संख्या 116

वहीं अभिनेताओं से 'कहानी के रंगमंच' में विशेष सहजता स्वतः स्फूर्त लगाव, कल्पना-शीलता की अपेक्षा की जाती है, जिसमें अभिनताओं को स्वयं अपनी शैली खोजनी पड़ती है। "वह कहानी के मुख्य तत्त्व नैरेशन को दृश्य में ढालने के लिए, कई तरह की शैलियों में से गुजर कर, अभिनय के विविध रंग-रूप सामने लाता है। उदाहरण के तौर पर, एकालाप (तीन एकान्त), वक्तव्य और विवरण का मिश्रण (अपरिचित: तीसरा पड़ाव), शब्दों और दृश्यों के संयोजन (सामना क्रमशः तीन), संवादों के विभिन्न पैटर्न (महानगर: तीन संवाद), एकालाप, संवाद और वर्णन तीनों का मिश्रण (अलगाव: तीन संदर्भ) आदि विशेषताएं कहानियों को एक-दूसरे से अलग करती हुई, अलग-अलग प्रस्तुति प्रक्रिया अपनाती हैं।"[70] इन्हीं प्रस्तुति की विभिन्न शैलियों को अपनाकर ही अंकुर जी, अभिनेता विजय कुमार की इस आपत्ति पर कि "नैरेशन चलता है तो कहानी में अवरोध उत्पन्न होता है। लगता है कहानी रूकी सी जा रही है।"[71] इस के जवाब में अंकुर जी कहते हैं- "विजय कुमार का यह जो कमेंट है, यहां अवरोध उसे इसलिए लग रहा था क्योंकि वह ढूंढ़ नहीं पा रहा था कि उस नैरेशन को वह कैसे प्रयोग में लाए कहानी के अन्दर...बना हुआ है न कि अभिनेता को हमेशा एक्शन चाहिए होता है और वे समझते नहीं हैं कि नैरेशन भी एक्शन बन सकता है और जब वे उसकी डिस्कवरी कर लेते हैं तो फिर कोई समस्या नहीं रहती।"[72] रूपान्तरण में इस तरह के दो विद्वानों में अक्सर मतभेद हो जाते हैं। मंच तक जाते जाते नाटक का रूप ले चुकी साहित्य की विधा प्रत्येक अभिनेता अपने ढंग से निभाना चाहता है।

इस प्रकार कहानी की रंगमंच प्रस्तुति में, बिना किसी सूत्रधार, कोरस एवं कथागायक के, अभिनेता अपनी उपस्थिति, नैरेशन एवं चरित्र निर्वाह से संभावनाओं के विविध द्वार खोल देता है। इस अभिनय प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए डॉ. महेश आनंद लिखते हैं- "वास्तव में कहानी-रंगमंच की अभिनय-प्रक्रिया एक पात्र से दूसरे पात्र को प्रतिबिबिंत करने की यात्रा जैसी है, जिसमें एक पात्र से दूसरे पात्र को प्रतिबिबिंत करने में अभिनेता कभी एक को और फिर उसे छोड़कर दूसरे या तीसरे पात्र की तलाश में चलता है।"[73] आगे वे 'खानाबदोश' के मंचन का उदाहरण देकर बताते हैं कि किस प्रकार हेमा सिंह, ओम की साथिन के रूप में जुड़कर वर्तमान सामाजिक परिवेश में स्त्री-पुरुष संबंधों की कई पर्तें उधेड़ती हैं और फिर कहानीकार (या स्त्री) के रूप में स्वयं अपना विश्लेषण करती हुई पाठकों से संवाद करती है। यह संवाद ही कथा और रूपान्तरण में सेतु का कार्य करती है।

---

[70] नुक्कड़ : जन नाट्य मंच - खंड 5 अंक 14-15, पृष्ठ संख्या 24

[71] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 42

[72] देवेन्द्र राज अंकुर : पहला रंग, पृष्ठ संख्या 186

[73] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 40

कथा से मंच की यात्रा में "इस कोशिश में उन्होंने अभिनय और रंगभाषण के कई स्तरों पर वर्णन और संवादों के बीच जिस तेजी के साथ बदलाव व्यंजित किया, उसमें विगत की स्मृतियां, ओम के साथ संबंध और अलगाव के क्षणों के प्रदर्शन में वाचक को नया रूप मिला है। यहां वर्णन स्वगत है, दर्शकों से संबोधित है और संवाद का नया रूप भी हैं।"[74] अपनी ही आत्मकथा का मंचन होते हुए देखती खानाबदोश की रचनाकार अजीत कौर लिखती हैं- "इतना सारा नाटक?...और कई दफ़ा मेरी जैसी बेवकूफ़ जिंदगी में से इतना सारा नाटक भी कोई अंकुर जैसा जादूगर निकाल लेता है। अंकुर जैसा कोई गोताख़ोर किसी ऐरी-ग़ैरी घटना की अतल गहराई में से कैसे इतना सारा नाटक निकाल लाता है- हैरानी होती है।"[75] कुछ इसी तरह अपनी ही कहानी 'बंद गली का आखिरी मकान' की प्रस्तुति देखते हुए धर्मवीर भारती चमत्कृत हो उठते हैं। वह अपने अनुभवों को बांटते हुए कहानी के रंगमंच पर घटने की प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालते हैं- "किसी कहानी की नाट्य प्रस्तुति ऐसी हो सकती है, यह मैं सोच ही नहीं सकता था...दृश्य आता, घटना में ऐक्शन, संवाद और फिर उसके बाद अभिनय करता हुआ पात्र सहसा बैठ जाता है या खड़ा हो जाता है और आगे की कहानी बड़े दिलकश ढंग से सुनाने लगता है। फिर दूसरा दृश्य आता और वह कहानी कहना बंद कर अपना अभिनय करने लगता। रंगमंच और किस्सागोई को इतनी बारीकी से गूंथा है अंकुर जी ने, कि मैं चकित हूँ और ये युवा छात्र अभिनेता, अभिनय करते हैं तो इनकी मुद्रा, इनकी आवाज़ इनका लहज़ा कुछ और है और जब वही अभिनेता अभिनय करते-करते कथा कहने लगता है तो उसकी आवाज़ उसका लहज़ा, उसकी मुद्रा, कथाकार की हो जाती है। बिल्कुल एक अलग व्यक्तित्व।"[76] धर्मवीर भारती के इस कथन से स्पष्ट है कथा का कच्चा माल रूपान्तरण और उसका मंचन कथा को नए स्तर पर ले जाकर उसकी संप्रेषणीयता को और भी प्रभावशाली कर देता है। अजित कौर ने भी इस विधा को स्वयं से साक्षात्कार की तरह लिया है।

एक दर्शक के दृष्टिकोण से किसी भी नाटक की सबसे बड़ी उपलब्धि साधारणीकरण के निकष पर परखते हुए, धर्मवीर भारती प्रस्तुति के दौरान कहानी से अपनी संपृक्तता महसूस करते हुए कहते हैं- "कथाकार का यहां मतलब मैं नहीं, साधारणीकरण का यह अजब जादू है कि अपनी ही कहानी का मंचन देखते-देखते मैं 'मैं' नहीं रह जाता। मैं सभी दर्शकों-श्रोताओं के बीच वैसा ही एक सामान्य दर्शक-श्रोता हूँ, जाने किसकी जीवन कथा मंच पर देख रहा हूं, अब आगे क्या होगा कि प्रतीक्षा करते हुए, जाने किसके द्वारा गढ़े हुए इन पात्रों के साथ एकात्म्य स्थापित करते हुए।"[77] नए

[74] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 41

[75] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 25

[76] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 25

[77] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 25

नए पात्रों, नए नए दृश्यों का संयोजन कथा की महत्वता को और भी बल देता है। स्वयं की लिखी कथा का रूपान्तरण नए विधा से नए रूप में देखना खुद को रोमांचित कर देता है। "निर्देशक और रूपान्तरणकार का संयोजन कथा को आम जनता तक संप्रेषित करता है। जितने भी लेखकों की कथाओं का विधा अंतरण हुआ है उन्हें वह साहित्य दूसरा ही लगता है।"[78] एक और प्रसिद्ध कथाकार निर्मल वर्मा भी स्वयं अपनी कहानियों के मंचन को देखकर विस्मित हो उठते हैं- "स्वयं मेरे लिए यह बात कि कहानियों को सुनने-पढ़ने के अलावा देखा भी जा सकता है, एक विस्मयकारी अनुभव था। जिन कहानियों को अरसा पहले मैंने अपने अकेले कमरे में लिखा था, उन्हें मंच पर दर्शकों के बीच देखना कुछ वैसा ही था, जैसे टेपरिकॉर्डर पर अपनी आवाज़ सुनना, जो अपने होने पर भी अपनी नहीं जान पड़ती।"[79] यह तथ्य स्पष्ट कर देता है की नाट्य रूपान्तरण की विधा से साहित्यिक रूप का अंतरण कथा की क्षमता को और भी प्रभावशाली बना देता है। इस विधा और इस शैली के पक्ष में कई लेखकों और कथाकारों का मत देखने को मिल जाता है, जहाँ वे इस शैली को साहित्य का नया रूप मानते हैं। कच्चा माल तथा कथा का मंचन के विषय में भीष्म साहनी जैसे बड़े कथाकार और नाटककार तो 'कहानी के रंगमंच' को एक भिन्न विधा के रूप में विकसित होने की संभावना जताते हैं। वह लिखते हैं - "इसमें संदेह नहीं कि जिस तरह कहानी के गठन में भले ही वह बनावटी हो या गैर-बनावटी सौंदर्यबोध के स्तर पर अपना आकर्षण होता है, जिसे हम कहानी का अंदाज कहते हैं, वैसा ही नाटक के गठन में भी होता है। जिस तरह सपाट बयानी कहानी का स्थान नहीं ले सकती, उसी तरह कहानी की प्रस्तुति भी नाटक का स्थान नहीं ले सकती लेकिन अपने में एक अलग विधा के रूप में यह निश्चय ही विकसित हो सकती है। कहानी का प्रभाव भी बना रहे, और नाटकीयता का रस भी मिले।"[80] उनकी कई कहानियों का नाट्य रूपान्तरण हो चुका है जिसमें उन्होंने अपनी ही कथा को दर्शक के रूप में देखा है। जिसे वह नया अनुभव और नई शैली की संज्ञा देते हैं। जब नाटककार कथाकार भीष्म साहनी अपनी ही लिखी हुई कहानी 'चीफ की दावत', 'संभल के बाबू' एवं 'लीला नंदलाल की' के प्रदर्शन को देखकर आगे लिखते हैं- "मेरी कहानियों की प्रस्तुतियां मेरे लिए सुखद यादें छोड़ गई हैं।"[81] विभिन्न कथाकारों ने अपनी कहानियों की मंच-प्रस्तुति के द्वारा उन कहानियों के अनेक नए साहित्यिक अर्थ एवं व्याख्याएं उद्घाटित होकर सामने आने की बात स्वीकारी है। इससे देवेन्द्र राज अंकुर समेत अन्य कई निर्देशकों का भी बहुत उत्साहवर्धन हुआ।

[78] अनभै सांचा : जनवरी जून 2018, सम्पादक - द्वारका प्रसाद चारुमित्र, पृष्ठ संख्या 47

[79] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 29

[80] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 31

[81] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 32

नाट्य रूपांतरण और कहानी के मंचन ने कभी कहानियों की एक सी शैली एवं एक से कथ्य ने उन्हें प्रेरणा दी तो कभी अमूर्त शैली या एक ही विषय या समस्या को उसके अलग-अलग कोणों से उठाती कहानियों ने एक साथ कोलाज के रूप प्रयोग करने के लिए अंकुर जी को प्रेरित किया। इस क्रम में उन्होंने 'महानगर: तीन संवाद', 'अलगाव': तीन संदर्भ', 'लौटना: तीसरी बार' में तीन कहानियों को साथ रखकर तो 'पहाड़: चार बार', कहानियों में चार कहानियों को जोड़कर प्रस्तुत किया। 'कहानियां ही कहानियां' में जहां नौ-दस कहानियां थी तो 'लौटना: बार-बार' में नौ कहानियों को एक साथ प्रस्तुत करने का सफल प्रयोग किया। दरअसल 'लौटना: बार-बार' थिमैटिक एक्सप्रेशन की प्रस्तुतियां थीं, जिनका कथ्य एक ही है। इसमें प्रेमचंद की 'बूढ़ी काकी', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', निर्मल वर्मा की 'बीच बहस में', अमरकांत की 'दोपहर का भोजन' जैसी कहानियों को रखा गया था। ये कहानियां जिन्दगी का एक ही रंग लिए हुए थीं, पर इनके शेड अलग-अलग थे। जिसमें अवकाश प्राप्त या दफ्तरों के मामूली मुलाज़िम या फिर बूढ़े हो गए वे लोग जो वापस अपनी जिंदगी में लौट रहे हैं, जिसमें वे काम के दौरान कटे हुए थे, शामिल हैं। इसमें एक अन्य फायदा यह भी होता है कि दर्शक एक ही शाम में एक साथ कई लेखकों की कहानियों से साक्षात्कार कर लेता है और कई बार महत्त्वपूर्ण अनसुनी कहानियां भी सामने आती हैं।

नाट्य रूपान्तरण और कहानी के मंचन के विषय में देवेन्द्र राज अंकुर कहानियों के चयन के आधार को लेकर किसी विशेष विचारधारा या प्रतिबद्धता से इंकार करते हैं। एक साक्षात्कार में वह जयदेव तनेजा से कहते हैं- "इस संबंध में मेरा कोई पूर्वाग्रह नहीं है- न देश का, न लेखक का, न भाषा का, न विचार का, न रूप-विन्यास का चुनने का सिर्फ एक ही आधार है कि आलेख अच्छा हो, गहरी संवेदना से जुड़ा हो, कथ्य गंभीर हो, जो सोचने पर मजबूर करे, सवाल उठाए और संरचना मंचन की दृष्टि से चुनौतीपूर्ण हो।"[82] वस्तुतः कहानी के चयन में अंकुर जी तथ्य को सबसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं, चाहे वह व्यक्ति और समाज के संबंधों पर आधारित हो, चाहे स्त्री-पुरुष संबंधों पर फोकस हो या राजनैतिक तथ्य हो। देवेन्द्र राज अंकुर जी कहते हैं - "प्रश्न यह है कि उस तथ्य को रचनाकार ने कितनी गहराई से हमारे सामने रखा है। अगर वह मुझे अंदर से झकझोरता नहीं, कोई सवाल करने के लिए उकसाता नहीं तो उस स्थिति में मेरे लिए उस रचना को ले पाना मुश्किल लगता है।"[83] वास्तव में कहानियों के रंगमंच के माध्यम से देवेन्द्र राज अंकुर थिएटर और साहित्य के बीच की दूरी समाप्त करते हुए उन्हें उनकी सीमाओं से निकाल कर सीधे दर्शकों के सामने लाना

[82] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 59

[83] देवेन्द्र राज अंकुर: रंग कोलाज, पृष्ठ संख्या 11

चाहते हैं। इसी बात को रेखांकित करते हुए प्रसिद्ध रंगालोचक नेमिचंद्र जैन इस प्रयोग की उपयोगिता बताते हैं- "सबसे पहले तो यह कि कोई स्थूल, मोटी बात कहने वाले या चालू मुहावरे में चालू ढंग की बातें कहने वाले नाटकों को खेलने की बजाय, अगर कहानियों का चुनाव किया जाता है तो श्रेष्ठ साहित्य का एक बड़ा क्षेत्र निर्देशक के सामने खुल जाता है। इससे ऐसी रचनाएं सुलभ हो जाती हैं जो सचमुच जीवन की गहरी समझ की, अनुभूति की, हमारे आज के यथार्थ की विडंबनाओं को घेरा करती हैं। उनको प्रस्तुत करने से एक सार्थक अनुभव के नाटकीय रूप को लोगों तक पहुंचाया जा सकता है।"[84] नाट्य रूपान्तरण की प्रक्रिया में कथा का चयन विशेष स्थान रखता है। पश्चात मंच के अनुसार दृश्य का संयोजन और पात्रों की अनुकूलता को ध्यान में रख कर किया जाता है। किसी रचना को अन्य विधा प्रक्रिया में जटिलता और भी बढ़ जाती है जब मंच के अनुसार कथा का रूपान्तरण किया जाता है।

सन् 1975 से शुरू हुए इस सफर में निर्मल वर्मा के साथ ही चंद्रधर शर्मा गुलेरी, जय शंकर प्रसाद, प्रेमचंद, भीष्म साहनी, फणीश्वर नाथ रेणु, मन्नू भंडारी, कृष्ण बलदेव वैद, विजयदान देथा, हरिशंकर परसाई, मोहन राकेश, उषा प्रियवदा, काशीनाथ सिंह आदि अनेक विशिष्ट कथाकार हुए हैं, जिनकी सैकड़ों कहानियों का सफल मंचन हो चुका है। नेमिचंद्र जैन इन कहानीकारों की विशिष्टता बताते हैं- "इन्होंने कई स्तरों पर जीवन की विडंबनाओं को, संघर्षों को, आज के आदमी की हालत को दिखाने वाली स्थितियों को अपनी कहानियों में उजागर किया है और उन अनुभवों को इन कहानियों के माध्यम से नाटक को दर्शकों तक लाया जा सकता है। यह बहुत बड़ा काम है कि इतने अच्छे, श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक साहित्य को रंगमंच से जोड़ा गया...दूसरे, कहानियों में विविधता की बहुत गुंजाइश है। थोड़े-से परिश्रम से ही अलग-अलग कथ्य की, अलग-अलग शैली की, अलग-अलग सामाजिक परिवेश की कहानियां चुनी जा सकती है...इसमें कथ्य का बड़ा विस्तार है। अनेक तरह के अनुभव को कहानियों के माध्यम से रंगमंच पर लाया जा सकता है और उसे दर्शकों तक पहुंचाया जा सकता है।"[85] कथाओं के मंचन को सामाजिक ढांचे और नाट्य धर्मिता के अनुसार किया जा रहा है। विगत कई वर्षों से साहित्य की विधाओं का अंतरण हो रहा है जिस से साहित्य की पहुँच उस तबके तक भी पहुँच गया जो अभिजात्य वर्ग से विलग है। कालजयी रचनाओं का रूपान्तरण से प्रत्येक वर्ग तक साहित्य पहुँच गया। कथा को प्रस्तुत करने से पहले उसका संयोजन अधिक महत्वपूर्ण होता है।

[84] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 50

[85] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 50

1.5 नाट्यरूपांतरण की वर्तमान स्थिति

नाट्य रूपान्तरण की गति प्राचीन भारत से ही रही है किन्तु पिछले 45-47 वर्षों में रंगकर्मी देवेन्द्र राज अंकुर ने अकेले ही लगभग 150 कहानियों और उपन्यासों के मंचन द्वारा इस प्रयोग को स्थायित्व दिया है। उनके अतिरिक्त ब.व. कारंत, सत्यदेव दूबे, दिनेश खन्ना, एम. के. रैना एवं रंजीत कपूर आदि निर्देशकों ने भी 'कहानी के रंगमंच' के सफल प्रयोग किए। चूंकि कहानियों का फलक सीमित होता है अतः देवेन्द्र राज अंकुर ने प्रायः किसी एक लेखक की एक शेड वाली तीन चार कहानियां या किसी एक ही सब्जेक्ट वाली विभिन्न लेखकों की कहानियों को एक साथ जोड़कर प्रस्तुत करने की यह परंपरा निर्मल वर्मा की तीन एकांत (1975) के प्रदर्शन से चलाई। जिसे उन्होंने 'कथा कोलाज' या 'रंग कोलाज' नाम दिया। इसका कारण बताते हुए अंकुर जी लिखते हैं- "कोलाज शब्द मूलतः चित्रकला से आया है, जहां अलग-अलग तरह की सामग्री का इस्तेमाल करते हुए चित्रकार एक पेंटिंग की रचना करता है। 'कथा कोलाज' में भी हम विभिन्न रंगों, लेखकों, और मूड एवं कथ्य की कहानियों को एक के बाद एक प्रस्तुत करके एक रंगमंचीय अनुभव देने की कोशिश करते हैं।"[86] एक ही तरह की कहानियों को एक ही मंच पर प्रस्तुत करना नाट्य रूपान्तरण और कहानी के रंगमंच को नई गति देता है। विगत पचास वर्षों में हिंदी कथा का रूपांतरण अधिक तीव्र गति से हुआ है। प्रेमचंद की लगभग दो सौ कहनियों का रूपान्तरण हो चुका है। रेणु, हरिशंकर परसाई, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी अनेक कहानीकारों की कथाओं का नाट्य रूपांतरण हुआ है। सत्तर के दशक से कहानी के मंचन की शुरुआत होती है किन्तु विगत कुछ वर्षों से नाट्य रूपान्तरण में उपन्यास और कविताओं के साथ साहित्य की विविध विधाओं का भी रूपान्तरण हुआ है। बीसवीं शताब्दी में नाट्य रूपान्तरण की गति में तीव्रता आई है।

विभिन्न स्थानों पर फोर्थ थियेटर से अभिहित किए जाने वाले 'कहानियों के रंगमंच' के प्रयोग में अंकुर जी ने बहुत सारे नाटकोचित रंगमंचीय उपकरणों का निषेध करते हैं। उनका मानना है कि संसाधनों के होने के बावजूद भी कम-से-कम उपादानों के प्रयोग से 'कहानी के रंगमंच' को मितव्ययी बनाने के साथ ही सहज, सुलभ एवं दर्शकों की कल्पनाओं के लिए पूरा 'स्पेस' मिले। अंकुर जी कहते हैं- "आमतौर पर मुझे मज़ा आता है कि एक सूना मंच हो। पार्श्व संगीत की अगर ज़रूरत महसूस करता हूं तो वह आएगा, नहीं तो खामोशी भी संगीत की बात कह सकती है। मैं इस बात पर फिर जोर दूंगा कि इस विधा का पूरा आनंद हम तभी अनुभव कर सकते हैं, जब इन चीजों

[86] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 95

से मुक्त हो जाएं।"[87] इस तरह का मंच छोटे से स्थान पर उपयुक्त हो सकता है। बीते कुछ वर्षों में नाट्य रूपांतरण की रचनाएँ अधिक मात्रा में हो रही हैं। छोटी से छोटी घटनाओं का नाट्य रूपान्तरण कर के जनता तक सूचनाएँ पहुंचाई जा रही है। कथाओं से लेकर सामाजिक घटनाओं का नाट्य रूपान्तरण हो रहा है।

कहानी के मंचन और नाट्य रूपान्तरण में इस प्रकार अंकुर जी ने 47 वर्षों से निरंतर प्रयोगों के द्वारा 'कहानी के रंगमंच' की नई विधा सुस्थापित की है। इस विधा को लेकर उनके और अन्य निर्देशकों के नित नए प्रयोग जारी हैं। इसके शास्त्रीय स्वरूप को स्थापित करने का प्रयास चल रहा है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में पाठ्यक्रम के रूप में चल रहा है और यह प्रयोग नित नए आयाम स्थापित कर रहा है। नाट्य साहित्य और कलाओं के विकास में स्वंत्रता के पश्चात् कई सरकारी, गैर सरकारी संस्थाओं की स्थापना हुई। साहित्य अकादमी की स्थापना होने के बाद इस नाट्य आन्दोलन में, जिस मूर्धन्य कलाकार का नाम लिया जा सकता है वो हैं, "राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के पूर्व निर्देशक इब्राहिम अलकाजी जिन्होंने नाट्य रंग के नए प्रयोगों एवं प्रतिभा को उन्होंने खुले हृदय से सराहा और प्रेरणा दी। इसी सन्दर्भ में यद्यपि उन्होंने काफ्का के उपन्यास 'द ट्रायल' पर आधारित 'जोज़फ़ का मुकादमा', 'मैन विदाउट शेडोज़' (सार्त्र) और द फादर (इस्तिंद बर्ग) जैसी विश्व कृतियों का निर्देशन/रूपांतरण भी किया लेकिन मोहन महर्षि द्वारा विज्ञान पर लिखे गए नाटक 'आईन्स्ताइन' को सबसे उल्लेखनीय माना है। उन्होंने कहा 'लन्दन, न्यूयार्क या पेरिस में होने पर इसी नाटक को दुनिया की एक अहम घटना माना जाता।' वस्तुतः यह एक अद्वितीय नाटकों की श्रेणी में आता है। इस क्रम में इप्टा (इण्डियन पीपुल्स थियेटर एसोसियेशन) की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है।"[88] आजादी के आंदोलन को नाटक और जन गीतों के माध्यम से जन सामान्य तक पहुँचाने में इप्टा कि महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जाने-माने अभिनेता ए. के. हंगल और बलराज सहनी की ये अभिनय पाठशाला कही जा सकती है। भूतपूर्व प्रधानमंत्री आई. के. गुजराल ने भी इप्टा के मंच पर कभी जन गीतों में हिस्सेदारी की थी। "आजकल लोक कहानियों एवं एकल नाटकों का मंचन भी बढ़ा है। इंदौर की सुमन धर्माधिकारी, मुंबई की असीमा भट्ट, वसंत पोद्दार, विप्लव दास अजय कुमार (राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के स्नातक, अजय कुमार ने निराला कि कविता 'राम की शक्ति पूजा' का वाचिक एकल अभिनय किया है।"[89] ये एकल नाटक के प्रयोग काफी सराहे गए। शेखर सेन (सुप्रसिद्ध शास्त्रीय संगीत गायिका अनीता सेन के पुत्र), जन साधारण

[87] (सं.) महेश आनंद: कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 166

[88] नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक, पृष्ठ संख्या 21

[89] कमला प्रसाद, राजेंद्र अरुण : नाटक की इबारत, पृष्ठ संख्या 86

के बीच कबीर के भजनों को गाते और उनकी व्याख्या करते हैं। कलकत्ते के विप्लव दास अच्छी चुनी हुई कहानियों को गाँव कस्बों में जाकर छोटे मंचों पर नाटक (डायलोग्स) के साथ प्रस्तुत करते हैं। संजय उपाध्याय ने कथा कविता एवं एकल प्रस्तुतियों को भी निर्देशित किया है। प्रसन्ना द्वारा राष्ट्रीय थियेटर फोरम की स्थापना की गई है।

वर्तमान में रंगमंच को लेकर कई प्रयोग हो रहे हैं और इस दौर में मौलिक नाटकों का मंचन, इंटरप्रिटेशन सशक्त, संपादन आदि की कोशिशें जारी है, बावजूद इस उत्साह के इस दिशा में अपेक्षित कार्य एवं लंबे समय से चली आ रही एकरसता, पुनरावृत्तियों, भाषागत संकटों आदि से मुक्ति पाना अभी शेष है। वर्त्तमान में देश भर में कई संस्थाएँ, नाट्य ग्रुप गंभीरता पूर्वक कार्य कर रहे हैं। परवेज़ अख्तर का 'पटना रंगमंच', मूलतः बिहार के संजय उपाध्याय (जो राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से निर्देशन में स्नातक हैं) के नाट्य समूह और 'सफरमैना' के संस्थापक-निर्देशक अरविन्द गौड़ का नाट्य दल 'अस्मिता', 'प्रयोग' भोपाल, जेएनयू इप्टा, नया थिएटर भोपाल, विवेचना जबलपुर, बिलासपुर इप्टा, नाचा थियेटर रायपुर, कला मंदिर ग्वालियर रंगपीठ मुंबई, आदि एवं नई पीढ़ी के निर्देशकों में देवेन्द्र राज अंकुर, उषा गांगुली, मानव कौल, अरुण पांडे, अरविन्द गौड़, डॉ. हिरण्य हिमकर का नाट्यदल 'आहंग' आदि नाट्य दल और निर्देशक नए प्रयोग, नाट्य रूपान्तरण और रंगमंच को एक नई दिशा दे रहे है। "यह आंशिक सच है कि हिन्दी भाषा में मौलिक नाटक कम लिखे जा रहे हैं, लिहाजा नाटककारों को विदेशी या अन्य भाषा से अनुवादित नाटकों का मंचन करना पड़ रहा है। लोक कथाओं के नाट्य रूपांतरण के बढ़ते चलन तथा कहानियों के नाट्य रूपांतरण से हिंदी नाटकों के अभाव की खाना पूर्ती की जा रही है।"[90] मूलतः नाटक एक सामूहिक कला है, इसके लिए अभ्यास स्थल से लेकर वेश भूषा, मंच सज्जा, ध्वनि-लाइटिंग, सभाग्रह का किराया तमाम व्यय व्यक्ति/संस्था को वहन करने होते हैं। एक ओर तो हिन्दी नाटक कम लिखे जा रहे हैं, दूसरी ओर अनूदित नाटकों को अपेक्षानुकूल दर्शक नहीं मिल रहे हैं। भारंगम जैसे आयोजन में भी दर्शक मुश्किल ही आ रहे है। संभवतः वक़्त की नब्ज़ टटोलते हुए हिन्दी नाट्य लेखक/निर्देशकों को हिन्दी कहानियों में अधिक विस्तार दिख रहा है। वो 'स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, आधे अधूरे, आषाढ़ का एक दिन, अंधायुग' से लेकर 'सूर्य की अंतिम किरण या 'कथा एक कंस की' जैसे पुराने नाटक खेलेते है अथवा किसी अनूदित नाटक या किसी कहानी/लोक कथा आदि का नाट्य रूपांतरण कर उसे मंचित किया जा रहा है। "हालाँकि थोड़ा विषय परिवर्तन करना पड़ रहा है पर जहाँ तक हिंदी कि व्यापकता का प्रश्न है, वो गिने चुने प्रदेश जहाँ हिंदी बड़ी

[90] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 75

संख्या में बोली जाती है, वो भी अंग्रेजी के आभामंडल की चकाचौंध में हिंदी के बढ़ते अँधेरों को देख नहीं पा रहे हैं या देखना नहीं चाहते है। कुछ ने तो इस स्वीकारोक्ति को आत्मसात भी कर लिया है कहते हैं कि 'अंग्रेज़ी भारतीय परिवेश और संस्कृति में रच बस कर ठेठ भारतीय ही हो गई है इसलिए उसे भारतीय भाषा ही मानना चाहिए।' यद्यपि वैश्वीकरण के इस युग में अँग्रेजी के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है पर जहाँ किसी भाषा को अन्य भाषा के समक्ष अपने ही देश में बेघर की तरह रहना पड़े उस त्रासदी से सावधान ज़रूर हो जाना चाहिए।"[91] नाट्य रूपान्तरण ने भाषा की सीमा को लांघा है और अन्य भाषा के साहित्य की कालजयी कथाओं का रूपान्तरण कर साहित्य की गरिमा को और भी बढ़ाया है।

निष्कर्षतः हम देखते हैं कि नाट्य रूपान्तरण प्राचीन विधा के रूप में है। इसके स्वरूप को समझने के लिए किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। अपनी बात को भाव भंगिमा के साथ बताने के लिए नाटक का सहारा लिया जाता है। कालान्तर में लेखन के रूप को मंच पर ले जाने की विधि को ही इस विधा में परिवर्तित किया गया। पौराणिक कथाओं, रामलीला, रासलीला इत्यादि कथाओं के मंचन से लोक का मनोरंजन किया जाता था किन्तु यह केवल मंचन नही अपितु इस कथाओं के माध्यम से सामाजिक और मानवीय मूल्य का सम्प्रेषण करना था। कथावाचकों ने इस विधा के माध्यम से अपनी जीविका के साथ साथ समाज में भाव बोध को संजोय रखा। भरतमुनि से पहले से नाटक खेले जाते थे लेकिन उनमें शास्त्रीयता की कमी थी। भरत के पश्चात् नाटक को शास्त्रीय और लोकधर्मिता के साथ खेला जाने लगा जिसका परिणाम संस्कृत नाटकों और बाद के नाटकों में देखने को मिलता है। आधुनिक नाटक काल में भारतेंदु, जयशंकर प्रसाद, मोहन राकेश के नाटकों के बाद देवेन्द्र राज अंकुर ने कहानी के रंगमंच का प्रतिपादन किया और साथ ही कहानी और उपन्यास के नाटकों का प्रादुर्भाव किया। विद्वान यह मानते हैं कि मौलिक नाटकों की कमी से नाट्य रूपान्तरण हो रहे हैं लेकिन यह मत निराधार है। वर्तमान समय में मौलिक नाटकों के साथ साथ नाट्य रूपान्तरण की हुई रचना का मंचन हो रहा है।

[91] दीना नाथ साहनी : समकलीन रंगमंच, पृष्ठ संख्या 85

अध्याय - 2

हिंदी रंगमंच का स्वरूप एवं विकास

भूमिका - "रंगमंच राष्ट्र की पहचान है। भारत और ग्रीक जैसे प्राचीनतम राष्ट्र का इतिहास वहां के रंगमंच में ही निहित है। वस्तुतः नाटक और रंगमंच धर्म से प्राचीन विधाएं हैं। इनके अपने कलापरक और सौन्दर्यपरक मानदंड हैं तथा अपने ऐतिहासिक मूल्य हैं। देश का इतिहास इन्हीं से बनता बिगड़ता है।"[92] देश का यथार्थ इन्हीं से पैदा होता है और इन्हीं में छिप जाता है। दिनभर शिकार में व्यस्त रहने पर शाम अथवा रात को अपने दिन के किस्सों में सुनाना यहीं से रंगमंच की शुरुआत मानी जाती है। धीरे धीरे यह क्रियाएं प्रतीक बनने लगी। विश्व की वे जातियां सभ्य और जीवित रहती हैं जिनके अपने मिथक होते हैं, अपने नाटक और रंगमंच के साथ साथ नाट्य शैलियाँ होती हैं। आज के त्योहार लोक उत्सव इन्हीं आदिम जाति की देन है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' के अनुसार साहित्य की सबसे सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण विधा 'नाटक' है। यह विधा लोक-जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करती है। 'नाटक' शब्द 'नट्' धातु में 'ण्वुल' प्रत्यय लग कर बना है, जिसका आशय है जिस विधा में लौकिक अर्थों और भावों का अभिनय किया जाय। नाटक एक ऐसी क्रीड़ा या खेल है जो दृश्य भी होता है और श्रव्य भी। मानव सृष्टि के आरम्भ से ही नाटक का बीज निहित था। संसार के सभी देशों में सभ्यता के प्रारम्भ काल से ही नाटक का किसी न किसी रूप में प्रचलन पाया जाता है। संगीत, नृत्य, संवाद एवं अभिनय नाट्यकला के प्रमुख अंग हैं। कौतूहल की वृत्ति मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति है। "जब मनुष्य जंगलों में निवास करता हुआ एकाकी जीवन व्यतीत करता था, तब भी संगीत एवं नृत्य उसके मनोरंजन के साथी थे। वह अकेला ही गुनगुना उठता था, अकेला ही नाचने लगता था। प्रकृति उसके इस मनोविनोद में एकमात्र सहायिका हुआ करती थी। मयूरी का नृत्य उसके लिए अनुकरणीय बन गया था।"[93] पेड़-पौधों से संवाद कर पशु-पक्षियों की क्रियाओं की नकल करके उसने अभिनय कला सीखी। धीरे-धीरे जब उसने अपना समाज बना लिया तब ये कलाएँ संघटित होकर मनोरंजन का एक व्यापक साधन बन गईं और उन्हें 'नाटक' की संज्ञा मिली। नाटक की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में लिखा है- "नाट्य भिन्न रूचेर्जनस्य बहुधाव्येक समाराधनम्।"[94] अनेक प्रकार की रुचि रखने वाले

---

[92] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 1

[93] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 15

[94] गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक हिंदी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 16

जनों को तृप्त करने की क्षमता नाटक में है, क्योंकि विश्व के मध्य प्रकाशमान प्रत्येक ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, युक्ति, योग तथा कर्म को नाटक के रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा सकता है।

"न तत् ज्ञान न तत् शिल्प न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृश्यते।"[95]

वास्तव में मानव का स्वाभाव अनुकरण करने वाला है। अपने से पहले वाले मानव को देख देख बहुत कुछ सीखता है। मोहनजोदड़ो में प्राप्त मूर्तियों के हाव भाव नृत्यांगना वाले हैं, साथ ही ऐसे अन्य पुरुष व्यक्ति की आकृति भी हैं जो ढोल बजा रहा है अथवा ढोल जैसा यंत्र उसके गले में लटका हुआ है। "...इसमें कई व्यक्ति नृत्य करते हुए भी दिखाए गए हैं। मिट्टी से बने मुखौटे भी मिले हैं, जिन्हें कुछ विद्वानों ने नाटक के पात्रों द्वारा प्रयोग किए जाने की सम्भावना बताई है।"[96] भरत के नाट्य शास्त्र से नाट्य लक्षण ग्रंथों की भी एक परम्परा थी। जिसके विषय में नाट्य शास्त्र में लिखा गया है। नाट्यशास्त्र में सूत्र, भाष्य और कारिका के विषय में बताया गया है।

मनुस्मृति में भरत को सर्वत्र नट, नर्तक के रूप में चित्रित किया गया है। नाट्यशास्त्र में 11 अंगो की विवेचना की गई है, इनमें लिखित श्लोकों से ज्ञात होते है यह रंगमंच वंश परम्परा से प्राप्त है। कल्पसूत्र में स्पष्ट लिखा है कि उस समय अभिनेताओं की स्थिति ठीक ऐसी थी कि कथा वाचकों, गाथा गायकों, रस्सी नृत्यकर्ताओं, छड़ी योद्धाओं, ढोल वादकों, मल्लों, जादूगरों और लोक कलाकारों की थी। ये सभी निम्न वर्ग के लोग थे और अपनी इसी कला के प्रदर्शन से अपनी जीविका चलाते थे। रामायण में नृत्य और नाट्य को समाज का अभिन्न अंग माना गया है। बौध ग्रंथों में इस बात का उल्लेख मिलता है जिनका उद्देश्य लोगों का मनोरंजन करना होता था। "अनेक तरह की मंडलियाँ अपनी कला दिखाती थी जिनमें कई बार प्रतियोगिता भी करवाई जाती थी। इस प्रकार के कलात्मक प्रदर्शन जनमानस के त्यौहार बन गए। शादी उत्सव में इस प्रकार के आयोजन आम रूप में देखे जाने लगे। नाट्य प्रदर्शन तत्कालीन समाज के मनोरंजन का प्रमुख साधन था।"[97] सूत्रधार का काम सबसे मुश्किल होता था, वह लोगों को एकत्रित भी करता था और साथ ही नाटक शुरू होने से पहले उनका ध्यान मंच की ओर भी खींचता था। सूत्रधार का यह रूप नट जैसा होता था और यह नट आदिम स्वांगों की देन है। इस तरह रंगमंच की रेखा खींची गई जिसके प्रारम्भ में रंगमंच का रूप दिखाई पड़ता है। नाटक रंगमंच के लिए होता है किन्तु रंगमंच से भी पहले नाटक

[95] भरत कृत नाट्यशास्त्र 1-117

[96] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 3

[97] गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक हिंदी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 12

नाटककार का होता है, जो अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से उसकी रचना ही नहीं करता वरन् रचना करते हुए उसे अपने मानस पर अभिनीत होते भी देखता है। वस्तुतः वह नाट्यकृति की अवधारणा अथवा सर्जना की प्रक्रिया में ही उसके प्रस्तुतीकरण के पूरे ढाँचे की भी कल्पना करता है और इस प्रकार रंगधर्मिता में भी वह रंगकर्मियों का पूरी तरह समभागी होता है, किन्तु नाट्यकृति को जब रंगमंच पर लाने की बात उठती है तो कई बार रंगमंच नाटक से पीछे छूट जाता है अथवा नाटक की परिकल्पना स्वयं रंगमंच के दायरे में नहीं आ पाती। किसी नाटक का लिखित रूप पाठक के मन में गम्भीर उत्तेजना ला सकता है किन्तु दर्शक की पूर्ण प्रशंसा का विषय नाटक का वैभवशाली संगठन है। "नाटककार किसी भी उपन्यासकार की भाँति परिवेश के प्रति मुक्त है परन्तु उसका वास्तविक कार्य क्षेत्र मंच की दृष्टि से केवल कार्य और शब्दों तक ही सीमित है। नाटक बिना रंगसजा और रंगदीपों के तो दर्शाया जा सकता है, किन्तु जीवित कलाकारों के अभाव में इसका प्रस्तुतीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि पात्रों के माध्यम से ही लेखकीय कार्य की अभिव्यक्ति सम्भव है।"[98] नाटक के लिखित और अभिनीत रूप में महान् अन्तर हैं। सामान्य आख्याय की अपेक्षा लिखित नाटक का रसास्वादन अधिक जिम्मेदारी की माँग करता है। यदि नाटक का काल्पनिक मनः संवेदन करना है, तो अभिनीत कृति जैसा पूर्ण प्रभाव और आनन्द लेने के लिए पाठक को एक साथ पात्र, निदेशक रंगसाधक एवं प्रकाशवाहक की भी परिकल्पना करनी होगी।

नाटक को ऐसी सजग सामाजिक कला माना गया है, "जिसमें नाटककार और दर्शक का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। यह नाटक का मूल कार्य, जिसकी स्थिति पात्रों में स्वीकार की गयी है, पात्र क्रियाओं द्वारा जिसे प्रस्तुत करते हैं, वही नाटक है। इस प्रकार नाटक केवल दर्शन नहीं कारण कार्य युक्त क्रियात्मक दर्शन है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टिकोणों को मिलाकर कहा जा सकता है कि नाटक अभिनय द्वारा जीवन के यथार्थ को रंगमंच पर प्रस्तुत करने वाली ऐसी संवेदनशील विधा है, जो अपने संरचनात्मक ढाँचे में अन्य विधाओं से अलग है।"[99] जो मधुर एवं ललित पदों तथा अर्थों से युक्त, सरल शब्दार्थ से परिपूर्ण विद्वानों के लिए सुखमय, बुद्धिमानों के अभिनय योग्य, अनेक रसों से समाविष्ट तथा समस्त सन्धि- योग से सम्पन्न हो वही सर्वोत्तम नाटक है। इन विशेषताओं से युक्त रचना को ही अभिनेता जन रंगमंच पर प्रदर्शित करके नाटक के उद्देश्य को पूरा करते हैं। वे अभिनय के माध्यम से मनोविनोद तो करते ही है, साथ ही उपदेश हित एवं शान्ति को भी सुलभ कर देते हैं। नाटक वह रचना है, जो अभिनेताओं द्वारा खेले जाने के लिए लिखी गई हो। अनुकरण की चेष्टा द्वारा रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाने वाला काव्य ही नाटक है।

---

[98] शशि सहगल : साहित्य विविध विधाएं, पृष्ठ संख्या 16

[99] संपादक डॉ. धीरेन्द्र शुक्ल : हिंदी नाट्य परिदृश्य, पृष्ठ संख्या 45

2.1 भारतेंदु पूर्व रंगमंच

नाटक के लिए रंगमंच एक बहुत ही जरुरी अंग है। नाटककार नाटक लिखता है लेकिन उसे मंच प्रदान होने के बाद ही वह अपने पूर्ण रूप में बनता है। बिना मंचन के नाटक का लिखा होना सार्थक नहीं माना जाता है। हिंदी रंगमंच के पूर्वपीठिका संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य से आरम्भ होती है। रंगमंच की परिभाषा "वह मंच जिस पर दर्शकों के सम्मुख नाटक का मंचन प्रस्तुत किया जाए उसे रंगमंच कहते हैं।"[100] रंगमंच (थिएटर) वह स्थान है जहाँ नृत्य, नाटक खेल आदि हों। रंगमंच शब्द रंग और मंच दो शब्दों के मिलने से बना है। रंग इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दृश्य को आकर्षक बनाने के लिए दीवारों, छतों और पर्दों पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती है और अभिनेताओं की वेशभूषा तथा सज्जा में भी विविध रंगों का प्रयोग होता है और मंच इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दर्शकों की सुविधा के लिए रंगमंच का तल फर्श से कुछ ऊँचा रहता है। दर्शकों के बैठने के स्थान को प्रेक्षागार और रंगमंच सहित समूचे भवन को प्रेक्षागृह, रंगशाला, या नाट्यशाला (या नृत्यशाला) कहते हैं। जिस प्रकार नाटक महत्वपूर्ण है उसी प्रकार नाट्य रचना और रंगकर्मी भी महत्वपूर्ण हैं। रंगमंच की सृष्टि बिम्बों द्वारा होती है। "इन्हीं बिम्बों से रंगमंच साकार होते हैं जिससे दर्शकों के प्रत्याबोध के लिए जीवंत रंग उतरते हैं यह रंग यथार्थ न होकर यथार्थता का भ्रम पैदा करते हैं।"[101] वास्तव में अनुभूति रंगमंच का मूल आधार है।

भरत ने तीन प्रकार के रंगमंच का विधान किया है। विकृष्ट, चतुरश्र और त्र्यस्त। इन सभी के अलग अलग परिमाण है। इन्हीं तीन मंडपों को पुनः तीन तीन भेदों में बांटा है जिन्हें ज्येष्ठ मध्यम और अवर कहा जाता है। इस तरह कूल नौ प्रकार के नाट्य मंडपों की चर्चा नाट्यशास्त्र में की गई है। ज्येष्ठ मंच का प्रयोग देवताओं के लिए रखा गया, मध्यम मंडप राजाओं के लिए तथा अवर मंडप का प्रयोग आम जनता के लिए निर्धारित किया गया। इन्हीं मंडपों को बाद में अभिनव ने कल्पित रंगशीर्ष के दो भाग किए जिसे एक रंगशीर्ष तथा दूसरे को रंगपीठ में विभाजित किया। आगे चलकर भाव प्रकाशनकार ने भी तीन रंग मंडप की चर्चा की हैं। भरत ने नाटक खेलने की चार बेलायें बताई हैं प्रातः काल, दिन का तीसरा प्रहर, रात्रि का प्रथम प्रहर और रात्रि का चौथा प्रहर। प्रातः काल धार्मिक नाटक, तीसरे प्रहर में सत्वगुण प्रधान नाटक, रात्रि के प्रथम प्रहर में श्रृंगार और संगीत प्रधान नाटक चौथे प्रहर में करुणा प्रधान नाटक खेलने का विधान है। इन नाटकों में बैठने की

[100] डॉ. चंदूलाल दूबे : हिंदी रंगमंच का इतिहास (पहला भाग) पृष्ठ संख्या – 03
[101] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 23

स्थिति का भी पूर्व निर्धारण मिलता है। भरत का नाट्य प्रयोग धीरे धीरे दर्शन, अध्यात्म और धर्म के आगे बढ़ते हुए मनोरंजन का साधन तथा दर्शकों को आदर्श लोकवादी बनाने हेतु होने लगा।

"यथा जिवत्स्वभावं हि परित्यज्यान्यदेहिकम।
परभावं प्रकुरुते परभावं समाश्रित। ।"[102]

जिस प्रकार जीव एक शरीर त्याग कर अन्य देह में प्रवेश कर दूसरे जीव क्व स्वभावानुसार आचरण करने लगता है उसी प्रकार पात्र को चाहिए कि वह जिसकी भूमिका कर रहा है उसका मन में स्मरण करे और उसके बाद अपनी वाणी तथा तथा आंगिक क्रियाओं को उसके अनुरूप बनाते हुए मंच पर प्रवेश करे। फलत: उन्होंने 'ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस' लेकर नाटक का निर्माण किया। विश्वकर्मा ने रंगमंच बनाया इत्यादि धारणाएं प्रचलित हैं। 'भारतीय रंगमंच' भारत की तरह ही विविध छवियों का जटिल मिश्रण है जिसमें बहुत सारी रंग परंपराएं मिल कर भारतीय रंगमंच का स्वरूप बनाती है। "इसमें स्थानगत, समयगत, शैलीगत, कथ्यगत विविधता है तो आंतरिक एकता का सूत्र भी है। संस्कृत रंगमंच जिसकी परंपरा अत्यंत प्राचीन है। जिसे पांचवा वेद कहा गया क्योंकि अन्य वेदों की विपरित यह सभी वर्णों के लिए था।"[103] नाट्यपरंपरा भरत के पहले भी विकसित रही होगी क्योंकि "नाट्यशास्त्र में सैकड़ो ऐसी नाट्यरूढियां बताई गई हैं जो बिना दीर्घकाल के परपंरा के बन ही नहीं सकती।"[104] पश्चिमी प्राच्य विद्वानों के लिए भारतीय रंगमंच का एक अर्थ संस्कृत रंगमंच ही था। नाटकों का विकास जिस प्रकार भी हुआ हो, संस्कृत साहित्य में नाट्य ग्रंथ और तत्संबंधी अनेक शास्त्रीय ग्रंथ लिखे गए और साहित्य में नाटक लिखने की परिपाटी संस्कृत आदि से होती हुई हिंदी को भी प्राप्त हुई। संस्कृत नाटक उत्कृष्ट कोटि के हैं और वे अधिकतर अभिनय करने के उद्देश्य से लिखे जाते थे। अभिनीत भी होते थे, बल्कि नाट्यकला प्राचीन भारतीयों के जीवन का अभिन्न अंग थी, ऐसा संस्कृत ग्रंथों के अन्वेषण से ज्ञात होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो ऐसा ज्ञात होता है कि नागरिक जीवन के इस अंग पर राज्य को नियंत्रण करने की आवश्यकता पड़ गई थी। उसमें नाट्यगृह का एक प्राचीन वर्णन प्राप्त होता है। 'अग्निपुराण, शिल्परत्न, काव्यमीमांसा तथा संगीतमार्तंड में भी राजप्रसाद के नाट्यमंडपों के विवरण प्राप्त होते हैं ।' इसी प्रकार महाभारत में रंगशाला का उल्लेख है और हरिवंश पुराण तथा रामायण में नाटक खेले जाने का वर्णन है । इतना सब होते हुए भी यह निश्चित रूप से पता नहीं लगता कि वे नाटक किस प्रकार के नाट्यमंडपों में

[102] नाट्य शास्त्र अध्याय 26-7

[103] सुरेन्द्रनाथ दीक्षित : भरत और भारतीय नाट्यकला, पृष्ठ संख्या 125

[104] हजारी प्रसाद द्विवेदी: प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृष्ठ संख्या 39

खेले जाते थे तथा उन मंडपों के क्या रूप थे। "अभी तक की खोज के फलस्वरूप सीतावंगा गुफा को छोड़कर कोई ऐसा गृह नहीं मिला जिसे साधिकार नाट्यमंडप कहा जा सके। भारत मे जब रंगमंच की बात होती है तो ऐसा माना जाता है कि 'छत्तीसगढ़ में स्थित रामगढ़ के पहाड़ पर महाकवि कालीदास जी द्वारा निर्मित एक प्राचीनतम नाट्यशाला मौजूद है।' मान्यताओं के अनुसार कवि कालिदास जी ने अपने महाकाव्य 'मेघदूतम' की रचना भी रामगढ़ के पहाड़ पर ही की, इस आधार पर यह भी कहा जाता है कि अम्बिकापुर जिले के रामगढ़ पहाड़ पर स्थित महाकवि कालिदास जी द्वारा निर्मित नाट्यशाला भारत का सबसे पहला नाट्यशाला है।"[105] सीतावंगा की गुफाओं के देखने से पुराने नाट्यमंडपों के स्वरूप का कुछ अनुमान हो जाता है।

भरत ने आदिवासियों तथा आर्यों दोनों के नाट्यमंडपों के आकार को अपनाया है। इन दोनों के सम्मिश्रण से इन्होंने नाट्यमंडपों के जो रूप निर्धारित किए, वे सर्वथा भारतीय हैं। प्राचीन यूनानी और रोमन स्वरूपों से इनका कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। पाश्चात्य नाट्यमंडप खुले मैदानों में बनते थे और उनमें दर्शकों के हेतु सीढ़ीनुमा अर्धचंद्राकार प्रेक्षास्थान बनते थे। इसके विपरीत भारत में नाट्यमंडप की व्यवस्था एक गृह के भीतर होती थी। भरत ने तीन प्रकार के नाट्यमंडपों का विधान बताया है- "विकृष्ट (अर्थात् आयताकार), चतुरस्र (वर्गाकार) तथा त्रयस्र (त्रिभुजाकार)। उन्होंने इन तीनों के फिर तीन तीन भेद किए हैं- ज्येष्ठ (देवताओं के लिए) मध्यम (राजाओं के लिए) तथा अवर (औरों के लिए)।"[106] जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। नाट्यशाला का प्राय: आधार भाग दर्शकों के लिए होता था, जिसे प्रेक्षागृह कहते थे, शेष आधे में रंगमंडप होता था। रंगमंडप के पिछले आधे भाग में नेपथ्य होता था, शेष के आधे में सामने रंगशीर्ष और पीछे नेपथ्य की ओर रगंपीठ होता था। नेपथ्य से रंगपीठ में आने जाने के लिए किनारों पर दो दरवाजे होते थे, जिनमें संभवत: किवाड़े नहीं लगा करते थे। रंगपीठ के ऊपर ही, चार खंभों पर छत रखकर, मत्तवारणी बनाई जाती थी। मत्तवारणी संभवत: अटारी का द्योतक है। खंभों पर प्राय: हाथी के सिर के सदृश बनी घोड़ियों के ऊपर यह छत रहती थी, इसी से (शायद) इसे मत्तवारणी कहते थे। प्रेक्षागृह सीढ़ीनुमा बनाया जाता था। इन सीढ़ियों में से प्रत्येक एक हाथ ऊँची होती थी और उस पर लकड़ी के पटरे भी लगा करते थे। दीवारों को भीतर की ओर सजाने का भी विधान है। भरत के अनुसार "भीत पर अच्छा भित्तिलेप (प्लास्टर) चढ़ाना चाहिए। विद्वानों का मत है कि 'मिट्टी तथा भूसी को मिलाकर लेवा चढ़ाया जाता था। इसे पीटकर समतल किया जाता था, फिर एक परत चूने की चढ़ाई जाती थी, जिसे घिस-घिस कर चिकना किया जाता था। इसके ऊपर शंख पीसकर चढ़ाते थे और

[105] साहित्य सेतु : संपादक डॉ. पी. सत्ति रेड्डी, आन्ध्र प्रदेश हिंदी अकादमी, वर्ष 1, अंक 3 अप्रैल जून 2015, पृष्ठ संख्या 63
[106] राम सागर त्रिपाठी : भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 76

पालिश करते थे। इन भीतों पर सुंदर चित्रकारी की जाती थी।"[107] नाट्यमंडप में दीवारों के साथ खंभे बनाकर ऊपर छत बनाई जाती थी। रात्रि के समय प्रकाश के लिए दीपक व्यवहार में आते थे। बहुत से दीपकों के अतिरिक्त मशाल से भी काम लिया जाता था, ध्वनि नियंत्रण तथा विस्तार का कोई प्रबंध न था, इसलिए भी नाट्यशालाएँ कुछ छोटी ही हुआ करती थीं। भारतीय प्रेक्षागृह आकार में ग्रीक प्रेक्षागृहों की अपेक्षा, जो बहुधा खुले हुआ करते थे, बहुत छोटे होते थे। "भरत नाट्यशास्त्र में दिए हुए नाट्यमंडप के आकार प्रकार तथा सजावट से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय तक भारत के आदिवासियों के नाट्यमंडपों का प्राथमिक रूप, जो हमें सीतावंगा गुफा, हाथी गुफा नासिक के पास फुलूमई गुफा में प्राप्त होता है, आर्यों के प्राचीनतम लकड़ी के मकानों के रूप में समन्वित होकर तथा दोनों के सम्मिश्रण से एक नया ढाँचा खड़ा हो चुका था।"[108] यही नहीं, नाट्यमंडप के रूप के विषय में नियम भी बन चुके थे तथा उन पर धर्म का नियंत्रण भी प्रारंभ हो चुका था। भरत के समय तक भारतीय रंगमंच इस महान संसार का द्योतक माना जाने लगा था, जहाँ स्त्री-पुरुष प्रविष्ट होकर अपनी पूर्वनिश्चित लीला करते हैं।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र और संस्कृत के नाटकों की खोज भी तब हुई जब प्राच्यविदों ने भारतीय ग्रंथो की खोज का काम शुरू किया। विलियम जोन्स ने कालीदास के नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम' की खोज की और 1789 में इसका अनुवाद प्रकाशित किया। भास जो कालीदास के पूर्ववर्ती नाटककार थे, उनके नाटक बीसवीं सदी में खोजे गए। "संस्कृत का रंगमंच शास्त्रबद्ध था। जिसमें नाट्य प्रकारों, रंग स्थल, अभिनय, मंच सज्जा, रंगोपकरणों के साथ शैली की भी परिभाषा निर्धारित थी। 'रस' इसका केंद्रीय तत्व था। वैसे भास ने शास्त्र की सीमा का बार-बार उल्लंघन किया। शुद्रक, भवभूति, हर्ष, विशाखदत्त संस्कृत के उल्लेखनीय नाटककार हैं।"[109] हजारवीं सदी तक संस्कृत रंगमंच का अवसान हुआ जिसके कतिपय कारण थे। 'अपभ्रंश भाषाओं के विकास के साथ ही संस्कृत का, जो पहले से भी जनभाषा नहीं थी, क्षेत्र संकुचित हो गया। अपभ्रंश भाषाओं में भी साहित्यिक रचना होने लगी। इसके साथ ही क्षेत्रीय भाषाओं में भी रंगमंच का विकास हुआ जिसने संस्कृत रंगमंच की विशेषताओं को भी अपनाया।' जनभाषा में होने के कारण इन नाट्यरूपों को अधिक लोकप्रियता मिली। कुछ विद्वान संस्कृत रंगमंच के अवसान के लिए राजनीतिक परिस्थितियों को भी जिम्मेवार ठहराते हैं। मतानुसार "स्वाधीन भारत में संस्कृत रंगमंच का जैसा कलात्मक विकास हुआ वैसा विकास तो दूर उसकी रक्षा भी पराधीनता के

[107] राम सागर त्रिपाठी : भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 45

[108] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 39

[109] गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक हिंदी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 32

दीर्घकाल में नहीं हो सकी। पराधीनता के समय मध्यकालीन भारतीय नाट्य परम्परा अपने सूत्रों से कट गई।"[110] विदेशी शासन ने रंगमंच के प्रतिकूल वातावरण पैदा किया। मुग़ल शासनकाल में रंगमंच के प्रति हीनता का भाव जगाया गया।

भारतीय रंगमंच में नाट्यधर्मिता के साथ लोकधर्मिता भी रही है जिसे लोकनाट्य विधा की संज्ञा कहते हैं। "लोकनाट्य परंपरा ने ही वस्तुतः भारतीय रंगमंच को जीवित रखा। नौटंकी, माच विदेशिया, आल्हा, भांड आदि अनेक लोक नाट्य शैलियाँ प्रचलित रहीं जिनमें किसी लिखित आलेख के बिना ही कलाकार मनोरंजन हेतु किस्से गढ़ लेते थे कालांतर में आधुनिक हिंदी रंगमंच में संगीतबद्ध या संगीत पर आधारित लोकनाट्य जैसे मंचन हिंदी रंगमंच की कड़ी बन गए।"[111] जैसा कि पहले जिक्र किया गया है लोक नाट्य परम्परा जिन्हें लोकधर्मी नाट्य भी कहा जाता है। जगदीशचंद्र माथुर इन्हें 'परम्पराशील नाट्य' कहने पर बल देते हैं। इसके उद्भव के उन्होंने चार कारण गिनाये हैं, भागवत धर्म का अखिल भारतीय प्रसार, रंगमंच का मन्दिर, धार्मिक स्थलों, मेलों में आश्रय, संस्कृत का जनसाधारण से अलगाव और भाषा गीतों का नाटकों में समावेश और गीतात्मक प्रस्तुति शैली में विभाजित किया है।

आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य का इतिहास डेढ़ शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। इस्लाम धर्म की कट्टरता के कारण नाटक को मुगल काल में उस प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिला जिस प्रकार का प्रोत्साहन अन्य कलाओं को मुगल शासकों से प्राप्त हुआ था। इस कारण मुगलकाल में के दो-ढाई सौ वर्षों में भारतीय परंपरा की अभिनयशालाओं अथवा प्रेक्षागारों का सर्वथा लोप हो गया परन्तु रामलीला आदि की तरह लोक कला के माध्यम से भारतीय थिएटर जीवित रहा। अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में व्याप्त होने पर उनके देश की अनेक वस्तुओं ने भी हमारे देश में प्रवेश किया। उनके मनोरंजन के निमित्त पाश्चात्य नाटकों का भी प्रवेश हुआ। उन लोगों ने अपने नाटकों के अभिनय के लिए यहाँ अभिनयशालाओं का संयोजन किया, जो थिएटर के नाम से अधिक विख्यात हैं। इस ढंग का पहला थिएटर कहा जाता है, प्लासी के युद्ध के बहुत पहले कलकत्ता में बन गया था, एक दूसरा थिएटर 1795 ई. में खुला। इसका नाम 'लेफेड फेयर' था। इसके बाद 1812 ई. में 'एथीनियम' और दूसरे वर्ष 'चौरंगी' थिएटर खुले। हिंदी रंगमंच संस्कृत, लोक एवं पारसी रंगमंच की पृष्ठभूमि का आधार लेकर विकसित हुआ है। "हिंदी नाटक रंगमंच की इस पृष्ठभूमि ने पारसी कम्पनियों की स्थापनाओं को प्रेरणा दी। सन 1853 ई. में दादा भाई नैरोजी और

[110] डॉ. मिथलेश गुप्ता : समकालीन हिंदी नाटक रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में, पृष्ठ संख्या 61
[111] गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक हिंदी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 52

एदलजी नसवार जी मजगाँववाला एमेच्यूअर्स कम्पनी की स्थापना की। पारसी छात्रों ने अंग्रेजी नाट्य प्रदर्शन के लिए ड्रामेटिक क्लब की अथापना की।"[112] ध्यातव्य है कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'नाट्य' शब्द का प्रयोग केवल नाटक के रूप में न करके व्यापक अर्थ में किया है, जिसके अंतर्गत रंगमंच, अभिनय, नृत्य, संगीत, रस, वेशभूषा, रंगशिल्प, दर्शक आदि सभी पक्ष आ जाते हैं।

भारत में संस्कृत रंगमंच के पृष्ठभूमि में चले जाने के बाद भी लोक रंगमंचों की परंपरा अत्यंत सुदृढ़ रही है। नौटंकी, रासलीला, रामलीला, स्वांग, नकल, खयाल, यात्रा, यक्षगान, नाचा, तमाशा आदि लोकप्रिय लोक-नाट्य रूप रहे हैं। इसी प्रकार पारसी रंगमंच की भी हिंदी रंगमंच के विकास में ऐतिहासिक भूमिका है। "मुसलमानों द्वारा तलवार के जोर पर इस्लाम धर्म के प्रचार के समय आठवीं शताब्दी के अग्नि पूजक पारसी ईरान से भाग कर भारत के पश्चिमी तट पर आकर बस गए।"[113] भरतमुनि के नाट्यशास्त्र और संस्कृत के नाटकों की खोज भी तब हुई जब प्राच्यविदों ने भारतीय ग्रंथो की खोज का काम शुरू किया। "विलियम जोन्स ने कालीदास के नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम' की खोज की और 1789 में इसका अनुवाद प्रकाशित किया। भास जो कालीदास के पूर्ववर्ती नाटककार थे, उनके नाटक बीसवीं सदी में खोजे गए। संस्कृत का रंगमंच शास्त्रबद्ध था।"[114] जिसमें नाट्य प्रकारों, रंग स्थल, अभिनय, मंच सज्जा, रंगोपकरणों के साथ शैली की भी परिभाषा निर्धारित थी। 'रस' इसका केंद्रीय तत्व था। वैसे भास ने शास्त्र की सीमा का बार-बार उल्लंघन किया। "शुद्रक, भवभूति, हर्ष, विशाखदत्त संस्कृत के उल्लेखनीय नाटककार हैं। हजारवीं सदी तक संस्कृत रंगमंच का अवसान हुआ जिसके कतिपय कारण थे। 'अपभ्रंश भाषाओं के विकास के साथ ही संस्कृत का, जो पहले से भी जनभाषा नहीं थी, क्षेत्र संकुचित हो गया। अपभ्रंश भाषाओं में भी साहित्यिक रचना होने लगी। इसके साथ ही क्षेत्रीय भाषाओं में भी रंगमंच का विकास हुआ"[115] जिसने संस्कृत रंगमंच की विशेषताओं को भी अपनाया।' जनभाषा में होने के कारण इन नाट्यरूपों को अधिक लोकप्रियता मिली। कुछ विद्वान संस्कृत रंगमंच के अवसान के लिए राजनीतिक परिस्थितियों को भी जिम्मेवार ठहराते हैं।

भारतीय रंगमंच में नाट्यधर्मिता के साथ लोकधर्मिता भी रही है जिसे लोकनाट्य विधा की संज्ञा कहते हैं। लोकनाट्य परंपरा ने ही वस्तुतः भारतीय रंगमंच को जीवित रखा। नौटंकी, माच

[112] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 43
[113] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 43
[114] वागर्थ : संपादक - एकान्त श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी, मई 2013, पृष्ठ संख्या 84
[115] गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक हिंदी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 96

विदेशिया, आल्हा, भांड आदि अनेक लोक नाट्य शैलियाँ प्रचलित रहीं जिनमें किसी लिखित आलेख के बिना ही कलाकार मनोरंजन हेतु किस्से गढ़ लेते थे कालांतर में आधुनिक हिंदी रंगमंच में संगीतबद्ध या संगीत पर आधारित लोकनाट्य जैसे मंचन हिंदी रंगमंच की कड़ी बन गए। जैसा कि पहले जिक्र किया गया है लोक नाट्य परम्परा जिन्हें लोकधर्मी नाट्य भी कहा जाता है। जगदीशचंद्र माथुर इन्हें 'परम्पराशील नाट्य' कहने पर बल देते हैं। इसके उद्भव के उन्होंने चार कारण गिनाये हैं, भागवत धर्म का अखिल भारतीय प्रसार, रंगमंच का मन्दिर, धार्मिक स्थलों, मेलों में आश्रय, संस्कृत का जनसाधारण से अलगाव और भाषा गीतों का नाटकों में समावेश और गीतात्मक प्रस्तुति शैली में विभाजित किया है। इस प्रकार "पाश्चात्य रंगमंच के संपर्क में सबसे पहले बंगाल आया और उसने पाश्चात्य थिएटरों के अनुकरण पर अपने नाटकों के लिए रंगमंच को नया रूप दिया। इस दौर में गुजरात की कई मंडलियाँ हिंदी नाटकों का प्रदर्शन कर है थी। दूसरी ओर बंबई में पारसी लोगों ने इन विदेशी अभिनयशालाओं के अनुकरण पर भारतीय नाटकों के लिए, एक नए ढंग की अभिनयशाला को जन्म दिया, पारसी नाटक कंपनियों ने रंगमंच को आकर्षक और मनोरंजक बनाकर अपने नाटक उपस्थित किए।"[116] आचार्य नंददुलारे वायपेयी के मत से सन 1860 से लेकर 1930 तक पारसी रंगमंच हिंदी का एकमात्र रंगमंच बना रहा है। "पारसी नाटकों में एक साथ कई संवेदनाओं और उद्देश्यों की प्रतिष्ठा की जाती थी। अति नाटकीय प्रसंगों की भरमार दैव योग संयोग आदि के द्वारा कथानक में आकस्मिकता उत्पन्न की जाती थी।"[117] इसी संदर्भ में डॉ लक्ष्मी नारायण लाल कहते है कि जब तक नाटक के अंत में वन्स मोर की पुकार न होती तब तक नाटक श्रेष्ठ नहीं माना जाता था। नाट्य प्रस्तुति के प्रारम्भ में संस्कृत नाटकों की भांति मंगलाचरण होता था। पारसी रंगमंच भारतीय और पाश्चात्य रंगमंच का एक मिलाजुला रूप था।

आज के वर्तमान समय में दिल्ली भारत की राजधानी है लेकिन ब्रिटिश शासनकाल में भारत की राजधानी कलकत्ता हुआ करती थी, वहां 1854 में पहली बार अंग्रेजी नाटक मंचित हुआ। इससे प्रेरित होकर नवशिक्षित भारतीयों में अपना रंगमंच बनाने की इच्छा जगी, मंदिरों में होने वाले नृत्य, लोकगीत, त्यौहारों में होने वाले नाच और खेल आदि ही आम आदमी के लिए मनोरंजन के साधन थे। उस दौर में इन कलाओं के अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत जैसी धार्मिक कृतियों, पारंपरिक लोक नाटकों, हरि कथाओं, धार्मिक गीतों, जात्राओं जैसे पारंपरिक मंच प्रदर्शनों से भी लोग मनोरंजन करते थे। "मॉडर्न थिएटर ने कृष्ण सुदामा गणेश जन्म कुवारी किन्नरी आदि

[116] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 87

[117] डॉ. मिथलेश गुप्ता : समकालीन हिंदी नाटक रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में, पृष्ठ संख्या 58

नाटक खेले।"[118] पारसी थियेटर से लोक रंगमंच का जन्म हुआ। एक समय में सम्पन्न पारसियों ने नाटक कंपनी खोलने की पहल की और धीरे-धीरे यह मनोरंजन का एक लोकप्रिय माध्यम बनता चला गया। इसकी जड़ें इतनी गहरी थीं कि आधुनिक सिनेमा आज भी इस प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया है। "पारसी रंगमंच का सबसे बड़ा योगदान हिंदी भाषा भाषियों को अपनी नाट्य परम्परा की ओर आकृष्ट कराने में दिया। पारसी रंगमंच ने सभी भारतीय भाषाओँ के रंगमंच को प्रभावित किया।"[119] इसी की प्रेरणा से विभिन्न शहरों में नाटक क्लब बने। रंगमंचीय नाटकों ने पारसी रंगमंच पर हिंदी नाटक को प्रतिष्ठित करने में प्रशंसनीय कार्य किया।

पारसी रंगमंच 19वीं शताब्दी के ब्रिटिश रंगमंच के मॉडल पर आधारित था। इसे पारसी रंगमंच इसलिए कहा जाता था क्योंकि इससे पारसी व्यापारी जुड़े थे। वे इसमें अपना धन लगाते थे। उन्होंने पारसी रंगमंच की अपनी पूरी तकनीक ब्रिटेन से मंगायी। "पारसी रंगमंच की स्थापना 1853 में पारसी नाटक मंडली के नाम से हुई थी। यह रंगमंच पूर्व और पश्चिम, शास्त्रीय और लोक, व्यावसायिक और पुनरुत्थानवादी तथा राष्ट्रीय और रोमानी चेतनाओं का अपूर्व संगम था।"[120] इसमें प्रोसेनियम स्टेज से लेकर बैक स्टेज की जटिल मशीनरी भी थी लेकिन लोक रंगमंच-गीतों, नृत्यों परंपरागत लोक हास-परिहास के कुछ आवश्यक तत्वों और इनकी प्रारंभ तथा अंत की रवाइतों को पारसी रंगमंच ने अपनी कथा कहने की शैली में शामिल कर लिया था। दो श्रेष्ठ परंपराओं का यह संगम था और तमाम मंचीय प्रदर्शन पौराणिक विषयों पर होते थे जिनमें परंपरागत गीतों और प्रभावी मंचीय युक्तियों का प्रयोग अधिक होता था। कथानक गढ़े हुए और मंचीय होते थे जिसमें भ्रमवश एक व्यक्ति को दूसरा समझा जाता था। घटनाओं में संयोग की भूमिका होती थी, जोशीले भाषण होते थे। चट्टानों से लटकने का रोमांच होता था और अंतिम क्षण में उनका बचाव किया जाता था। सच्चरित्र नायक की दुष्चरित्र खलनायक पर जीत दिखाई जाती थी और इन सभी को गीत-संगीत के साथ विश्वसनीय बनाया जाता था। पारसी रंगमंच की चार प्रमुख विशेषताएँ हैं। पहला पर्दों का नायाब प्रयोग मंच पर हर दृश्य के लिए अलग अलग पर्दे प्रयोग में लाए जाते हैं ताकि दृश्यों में गहराई और विश्वसनीयता लाई जा सके। आजकल जैसे फिल्मों में अलग अलग लोकेशन दिखाए जाते हैं वैसे ही पारसी रंगमंच में ये काम पर्दों के सहारे होता था। "पारसी रंगमंच में अभिनय शैली भी अतिरंजक होती थी। अभिनेता हाथ पाँव आदि द्वारा आंगिक अभिनय ज्यादा करते थे। उनके स्वराघातों में कृत्रिमता रहती थी और उतार चढ़ाव का भी नियम एक सा रहता था।

[118] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 46

[119] डॉ. मिथलेश गुप्ता : समकालीन हिंदी नाटक रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में, पृष्ठ संख्या 59

[120] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि और शिल्प, पृष्ठ संख्या 22

पारसी रंगमंच के लिए लिखे गए नाटकों, उनके चरित्र भाषा और दृश्य योजना आदि भी एक प्रकार की अतिरंजना ही है।"[121] यह सब मिलकर एक इकाई बनाता था। पंडित देवकीनंदन त्रिपाठी ने इनके प्रदर्शन के विषय में कहा- "पारसी लोग वर्तमान में नाटक करने में प्रसिद्द हैं, उससे वह रुपया भी अधिक पैदा कर सकते हैंऔर वाह वाह भी पाते हैं परन्तु यदि मनोरंजन छोड़ दें और दूसरा कहीं भी नहीं है।"[122] इसका प्रभाव तत्कालीन हिंदी रंगमंच पर पड़ा। पारसी रंगमंच की मंच सज्जा का विधान बड़ा ही जटिल होता है। दूसरी खासियत पारसी नाटकों में नृत्य और गायन का यही मेल हिंदी फिल्मों ने अपनाया। तीसरी खूबी वस्त्र सज्जा यानी 'कॉस्ट्यूम' है। पारसी रंगमच पर अभिनेता या अभिनेत्री जो कपड़े पहनते हैं उसमें रंगों और अलंकरण का खास ध्यान रखा जाता था। चूंकि दर्शक बहुत पीछे तक बैठे होतें हैं इसलिए उनको ध्यान में ऱखते हुए वस्त्रों और पात्रों के अलंकरण में रंगों की बहुतयात होती थी। पारसी रंगमंच की चौथी बड़ी खूबी लंबे संवाद हैं। पारसी नाटकों के संवाद ऊंची आवाज में बोले जाते थे इसलिए संवादों में अतिनाटकीयता भी रहती थी।

सन 1853 में अपनी शुरुआत के बाद से पारसी थियेटर धीरे-धीरे एक 'चलित थियेटर' का रूप लेता चला गया और लोग घूम-घूम कर नाटक देश के हर कोने में ले जाने लगे। पारसी थियेटर के अभिनय में 'मेलोड्रामा' अहम तत्व था और संवाद अदायगी बड़े नाटकीय तरीके से होती थी। विद्वानों के मतानुसार 'आज भी फिल्मों के अभिनय में पारसी नाटक के तत्व दिखाई देते हैं।' लगभग 80 वर्ष तक पारसी रंगमंच और इसके अनेक उपरूपों ने लोगों के मनोरंजन क्षेत्र में अपना सिक्का जमाए रखा। फिल्म के आगमन के बाद पारसी रंगमंच ने विधिवत् अपनी परंपरा सिनेमा को सौंप दी। पेशेवर रंगमंच के अनेक नायक, नायिकाएं सहयोगी कलाकार, गीतकार, निर्देशक, संगीतकार सिनेमा के क्षेत्र में आए। पारसी रंगमंच की मूल विशेषताएं निम्नलिखित थी- रंगमंच को व्यवसायिक रूप देकर प्रतिष्ठित करना और वेतन आधारित अभिनेताओं से कार्य कराना अर्थात रंगकर्म की स्वतंत्र सत्ता स्थापित करना। पूरी हिंदी भाषी जनता से संरक्षण प्राप्त करना और साहित्य व रंगमंच की दूरी को समाप्त करना। रंगमंच की प्रवृत्ति के अनुकूल भाषा एवं अभिनय शैली पर बल देना इत्यादि।

हमें पारसी नाटकों की मिलती है ये अपने सारे कलेवर में व्यवसायिक थी प्रत्येक कंपनी अपने नाटककार रखकर इस हिसाब से नाटक लिखवाती और खेलती थी, जिससे वे जनता में लोकप्रिय हों और अधिक से अधिक धनोपार्जन कर सकें जोर अतिनाटकीयता और चमत्कार पर

[121] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि और शिल्प पृष्ठ संख्या 22

[122] डॉ. सुरेश वशिष्ठ : हिंदी नाटक और रंगमंच ब्रेख्त का प्रभाव, पृष्ठ संख्या 56

था। चमत्कार भी नाटक के कथानक भाषा अथवा रसभावना में नहीं, रंगमंच की ऊपरी चटकमटक और वेशभूषा की नवीनता में था। "आख्यान इतिहास या पुराण से भी तो नाटक नायक नायिका के प्रेम शेरो-शायरी और वेशभूषा और नाच गाने की चाशनी में लपेटकर पेश किये जाते थे। पारसी थियेटर की यह व्यावसायिक परंपरा रंगमंच से ज्यादा फिल्मों के हिस्से आई और आज भी हिंदी फिल्में लगभग उसी नमूने पर चटपटी मसालेदार बन रही हैं। जिनमें दिमाग बंद कर केवल मनोरंजन के लिए देखा जाय तो कुंठा नहीं होगी।"[123] भारतेंदु ने इन्हीं परंपराओं का समन्वय कर औपचारिक हिंदी रंगमंच की स्थापना की। इससे भारत में व्यावसायिक रंगमंच का उद्भव हुआ। पारसी रंगमंच ने नाट्य की कंपनियां बनाई जो व्यवसाय के लिए प्रस्तुति करती थी और देश के विभिन्न हिस्सों में घूमती थी। भारत की विभिन्न भाषाओं में यह कंपनियां बनी। मुख्यतः यह विक्टोरियन रंगमंच की नकल था। जिसमें पृष्ठभूमि के लिए रंगे पर्दों का इस्तेमाल होता था। प्रस्तुति गीत संगीत नृत्य से युक्त और अभिनय मेलोड्रामाई था। "मुनाफ़े के मुख्य ध्येय को अर्जित करने के लिए यह तमाम तरह के लटको झटकों पर आश्रित होती गई और सवाक सिनेमा के आगमन के बाद इसका अवसान हो गया क्योंकि इसकी बहुत सारी विशेषताएं सिनेमा ने अपना ली। द्विवेदी युग एवं छायावाद युग राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के चरण थे जिसमें राष्ट्रीय संस्कृति एवं मर्यादा पर अधिक बल होने के कारण पारसी रंगमंच की व्यवसायिक पद्धतियों की तीव्र भर्त्सना की गई।"[124] पारसी रंग शैली को जनमानस में इतनी लोकप्रियता प्राप्त थी कि उससे भारतेंदु एवं प्रसाद अप्रभावित नहीं रह सके। दोनों ने पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया में लिखा लेकिन दोनों ने उसकी रंग-शैली, अभिनय-शैली और गीत संगीत के प्रभावों को जाने अनजाने ग्रहण किया है। "हिंदी में पाश्चात्य रंगमंच या अन्य भारतीय भाषाओं से अधिग्रहीत हुई। भारतेंदु से पूर्व इप्सन या बर्नार्ड शॉ का यथार्थवादी थियेटर हुआ। सार्त्र का अस्तित्ववाद और कालातंर में एब्सर्ड थियेटर भी हुए। उसमें भी ब्रेख्त की धाराएँ सबका समन्वय कर हिंदी रंगमंच ने अपना रास्ता बनाया।"[125] सभी पाश्चात्य धाराओं में जिनका भारतीय राजनीतिक वातावरण में भारतीय रूपांतरण हुआ एक बात समान रूप से पाई जाती है।

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतेंदु पूर्व रंगमंच पूरी तरह समृद्ध न होते हुए भी लोक कलाओं के माध्यम से जनता में अपना स्थान बना पाया। परम्पराशील रंगमंच की मुख्यतः दो प्रवृतियां है पहली, धार्मिक जिसमें रासलीला, रामलीला, कुट्टियाट्टम, अंकिया नाट, थेरुकुट्टु, यक्षगान जैसी शैलियां है जो विशुद्ध लोक नाट्य से उपजी हुई हैं। इनके कथानक के आधार और

[123] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 48

[124] डॉ. रमेश गौतम : हिन्दी के प्रतीक नाटक, पृष्ठ संख्या 12

[125] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 32

प्रक्रिया धार्मिक हैं। दूसरा लौकिक, जिनमें स्वांग, खयाल, नौटंकी, नाचा, माच जैसी शैलियां मिलती हैं। इनके कथा स्रोत सामान्य जन जीवन हैं। अपने अपने क्षेत्रों में परंपराशील नाट्य निर्विवाद रूप से लोकप्रिय हुए। "उन्नीसवीं सदी में एक भिन्न राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था के आगमन और उसके वर्चस्व ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। निरंतर पुनरावृति, प्रेरणा की कमी, लौकिक नाटकों के कथानक की आवृति और कवायद में तब्दील होते चले जाने की वजह से इस रंगमंच में ठहराव गया।"[126] आज का नाटक तो भरत के अनुसार केवल शुद्ध प्रयोग तक सीमित है, उसे चित्र प्रयोग बनना है, किन्तु उसकी यात्रा भ्रान्तियों के जाल में फँसकर रुक गई है। आज का रंगकर्मी यह निश्चय नहीं कर पा रहा है कि उसे सफलता प्राप्त करने के लिए कौन-सा मार्ग चुनना चाहिये? उसके चारों ओर विभिन्न प्रकार की नाट्य-शैलियों का एक चक्रव्यूह खड़ा कर दिया गया है, जिसमें विदेशी आयातित सिद्धान्त और शैलियों के स्तम्भ खड़े हैं। समाज में एक फैशन-सा बन गया है कि विदेशी चीजें अपनाओ। संस्कृति का स्वरूप माँ की तरह होता है, उससे हमारी परम्परा का भावात्मक पक्ष जुड़ा रहता है। अतः हमें कभी न कभी यह सोचने को बाध्य होना पड़ेगा कि हमारा प्रयोग विदेशी शैलियों से नहीं, भारतीय शैलियों से सफल होगा। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे देश के भाषायी रंगमंच हैं। मराठी रंगमंच, बंगाली-रंगमंच, तमिल और तेलगू के रंगमंच, मलयालम और कन्नड़ के रंगमंच अपने कलेवर में नाट्यशास्त्रीय परम्परा के सिद्धान्तों से जुड़े हुए हैं। अतः उनकी अपनी पहचान है और आज सिने तथा दूरदर्शन के युग में भी अपनी निजी शक्ति से जीवन्त और सक्रिय हैं। इनके अलावा देश के विभिन्न क्षेत्रों में चलने वाले परम्परित नाट्य रूप, जिन्हें आजकल भ्रान्तिवश लोकनाट्य कहा जाता है-में भी नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अंग जीवित हैं, अतः उनका वर्चस्व और मौलिकता अपनी अलग पहचान बनाये हुए हैं।

[126] गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक हिंदी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 37

2.2 भारतेन्दुकालीन हिंदी रंगमंच

औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों द्वारा अपने मनोरंजन के लिए आयातित रंगमंच, शासन व्यवस्था, शिक्षा, और प्रिंट जैसे अविष्कारों के प्रभाव तथा रंगमंच में प्रोसेनियम और शेक्सपीयर के परिचय से एक नितांत भिन्न रंगमंच का आवीर्भाव हुआ। जिसकी परंपरा भारतीय रंगमंच में नहीं थी। इसने नाट्य लेखन, प्रस्तुति और देखने की एक नई शैली प्रचलन में आई। अब प्रदर्शन का मतलब हो गया लिखित या छपे हुए नाट्य पाठ को प्रोसेनियम मंच पर अभिनेताओं द्वरा खेला जाना। नाटक देखने का शुल्क लगने लगा। इसे अब केवल सामने से देखा जा सकता था। दर्शक और अभिनेता की बीच एक आभाषी दीवार आ गई। रंगमंच अब सामुदायिक नहीं था, जिसमें दर्शक और अभिनेता एक ही समुदाय के अंग थे। परंपराशील रंगमंच में नाटक 'इम्प्रोवाइजेशन' के जरिए खेले जाते थे और रात भर चलते थे वहीं आधुनिक प्रदर्शनो की समय सीमा निश्चित हो गई। औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजों के स्वमनोरंजन के लिए आयातित रंगमंच के अनुकरण से भारतीय भाषाओं में आधुनिक रगमंच का विकास हुआ। आधुनिक हिंदी रंगमंच का उद्भव भी इसकी कड़ी है। भारतेन्दु 'जानकी मंगल' को हिन्दी का पहला मंचित नाटक घोषित करते हैं और क्षोभ प्रकट करते हैं कि "पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलने वाला कोई आर्य शिष्ट जन का नाटक समाज नहीं है।"[127] बांग्ला में और उसके बाद मराठी में अभिजात्यों के सरंक्षण में रंगमंच का विकास हुआ। पारसी से अलग इसने अंग्रेजी रंगमंच के सौंदर्यबोध से युक्त प्रस्तुति की। संपूर्ण भारतवर्ष में व्यावासायिक रंग मंडलिया बनी। मराठी और बांग्ला की व्यावसायिक रंग मंडलियों का प्रभाव देशव्यापी रहा। भारतीय नवजागरण का आरंभिक आगमन बांग्ला और मराठी में हुआ था। इसलिए यहां के रंगमंच ने अपने को इस आंदोलन से जोड़ा। "माइकल मधुसूदन दत्त के मेघनाथ वध, दीनबंधू मित्र के नीलदर्पण इत्यादि नाटकों ने समकालीन समय को अभिव्यक्त किया। हिंदी में और संभवतः भारतीय रंगमंच में पहली बार भारतेंदु हरिश्चंद्र ने विधिवत रूप से साहित्यिक रंगमंच की स्थापना की प्रयास की और इसे राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने का आह्वान किया।"[128] बांग्ला और मराठी जिसमें गिरिश चंद्र घोष, शिशिर नाथ भादुड़ी, बाल गंधर्व, इत्यादि जैसे रंगकर्मी थे। जैसी परम्परा अहिन्दी भाषी क्षेत्र में हुई उस तरह हिंदी में ऐसी परंपरा नहीं स्थापित हो सकी है।

हिंदी रंगमंच का प्रारंभ 1853 ई. में नेपाल के माटगांव में अभिनीत 'विद्याविलाप' नाटक से माना जाता है किंतु यह नेपाल तक ही सीमित रह गया। वस्तुतः हिंदी रंगमंच का नवोत्थान 1871 ईसवी में स्थापित 'अल्फ्रेड नामक मंडल' से हुआ। जिसने भारतेंदु, राधाकृष्ण दास के

[127] महेश आनंद: भारतेंदु युगीन हिंदी रंगमंच, पृष्ठ संख्या 78

[128] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 41

नाटकों का मंचन प्रस्तुत किया। राधेश्याम कथावाचक इस मंडली के प्रमुख नाटककार थे। "इस मंडली के मंच पर स्त्री चरित्रों की भूमिका पुरुष पात्र ही किया करते थे। इसी बीच कोलकाता के 'मॉर्डन थिएटर' ने मुंबई की 'पारसी रंगमंच' की 'इम्पीरियर'आदि अनेक नाटक कंपनियों को खरीदकर कोलकाता को रंगमंच का केंद्र बना दिया।"[129] इन संस्थाओं के एकीकरण के कारण नारायण बेताब, आगा हश्र, तुलसीदत्त शैदा, हरिकृष्ण जौहर आदि अनेक नाटककारों का संगम स्थल कोलकाता का 'मॉडर्न थिएटर' हो गया। मुंबई और कोलकाता के इन रंगमंच के एकीकरण मे हिंदी रंगमंच के विकास में अभूतपूर्व योगदान दिया। "हिंदी में अव्यवसायिक रंगमंच का सूत्रपात 1868 ईस्वी में बनारस थिएटर के साथ हुआ। 1884 में बनारस में 'नेशनल थियेटर' की स्थापना हुई। भारतेंदु के 'अंधेर नगरी' का प्रथम मंचन 'नेशनल थियेटर' में ही किया था। हिंदी रंगमंच के विकास में 'भारतेंदु नाटक मंडली' (1906) की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है।"[130] इस मंडली ने लगभग डेढ़ दर्जन नाटकों का मंचन किया। जिसमें सत्य हरिश्चंद्र, सुभद्रा हरण, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी प्रमुख है। इस नाटक मंडली ने भारतेंदु युगीन नाटकों के साथ-साथ प्रसाद के नाटकों को भी सफलतापूर्वक मंचित कर हिंदी के अपने स्वतंत्र रंगमंच के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। जयशंकर प्रसाद के नाटकों को मंचित कर इस संस्था ने सिद्ध किया कि प्रसाद के नाटक पूर्णतः अभिनेय है। आगे चलकर काशी हिंदू विश्वविद्यालय की 'विक्रम परिषद' की स्थापना 1939 ईस्वी में हुई थी। "इसने नाटकों में स्त्री पात्र के लिए स्त्रियों द्वारा ही अभिनय की परंपरा डाली। हिंदी रंगमंच के विकास में 'बलिया नाट्य समाज' 1884 की भूमिका दी ऐतिहासिक मानी जाती है। 1884 ई. में यही पर भारतेंदु ने नाटक पर एक लंबा व्याख्यान दिया था। उसी समय सत्य हरिश्चंद्र तथा नीलदेवी नाटकों का मंचन किया गया था। उसी समय भारतेंदु ने हरिश्चंद्र की भूमिका निभाई थी।"[131] इस नाटक के मंचन को उस क्षेत्र में अपार लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। हिंदी रंगमंच के विकास में काशी के पश्चात इलाहाबाद के रंगमंच यो का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यहां के महत्वपूर्ण नाट्य मंच 'आर्य नाट्य सभा', 'श्री रामलीला नाटक मंडली' तथा 'हिंदी नाट्य समिति' थे। कानपुर की संस्थाओं ने भी हिंदी रंगमंच को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

साहित्यिक नाटकों के रंगमंच में आगा हसन लिखित 'इन्दरसभा' और पंडित शीतल प्रसाद लिखित 'जानकी मंगल' उल्लेखनीय रचना है। इनमें 'इन्दरसभा' रंगमंचीय नाटक था। इनकी रचना 1843 ई. में हुई थी। यह एक भिन्न नाटक के रूप में प्रसिद्ध है। इसका रंगमंच बहुत अव्यवस्थित, अपूर्व और अश्लीलता लिए हुए था। भारतेन्दु इसी से बहुत ही विक्षुब्ध हुए थे। यद्यपि

[129] सुप्रिया पाठक : रंगमंच एवं स्त्री, पृष्ठ संख्या, 53
[130] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 15
[131] डॉ. रमेश गौतम : हिन्दी के प्रतीक नाटक, पृष्ठ संख्या 74

'जानकी मंगल' का अभिनय करने का प्रयास किया गया था लेकिन वह रंगमंच की दृष्टि से सफल नहीं हैं। "पारसी रंगमंच भारत में अंग्रेजों के आगमन से शुरू हुआ था। इस रंगमंच का प्रयास इग्लैण्ड में बहुत जोरों से हुआ था और विकसित भी हुआ।"[132] उनकी प्रेरणा और प्रयास से भारत में कुछ पारसियों के प्रयास से उनकी नए ढंग से इस रंगमंच की स्थापना की गई। उनके प्रयासों से बहुत सी थिएट्रिकल कंपनियाँ खुली जिसमें मनोरंजन-नाटकों के अनुकूल रंगमंच का विकास किया गया। "इन कम्पनियों में अल्फेड थिएट्रिकल कम्पनी, न्यू अल्फेड थिएट्रिकल कम्पनी, कारथिएन विक्टोरिया थिएट्रिकल कम्पनी तथा एलेग्जेन्ड्रीया कम्पनी विशेष प्रसिद्ध थी। उन सारी कम्पनियों की स्थापना सन् 1870 से 1920 ई. के आस-पास हुई थी। उन सब कम्पनियों का प्रमुख उद्देश्य जनरुचि को तृप्त करके पैसा कमाना था। जिसका परिणाम यह हुआ कि इन्होंने जो नाटक प्रदर्शित किए वे साधारण कोटि के उत्तेजक नाटक थे।"[133] जिनमें 'खंजर', 'खंजा', 'खूबसूरत औरत', 'पंजाब मेल' इत्यादि। इन्होंने कुछ प्राचीन नाटकों को भी रंगमंच पर दिखाने की कोशिश की किन्तु पैसा कमाने की कामाना में वे सफल नहीं हुए। "भारतेन्दु स्वयं इस समय के रंगमंच से काफी क्षुब्ध रहते थे। उन्हीं प्रतिक्रिया के रूप में उन्होंने साहित्यिक नाटक मंडली की स्थापना की और साहित्यिक नाटकों का सफल अभिनय किया। उसी की प्रेरणा से हिन्दी रंगमंच में नई चेतना का संचार हुआ और बड़े-बड़े नगरों में बहुत सी नाट्य मंडलियाँ की भी स्थापना हुई जैसे कि बलिया, प्रयाग, मेरठ, कानपुर मंडलिया स्थापित हुई जिनका उद्देश्य व्यवसाय न होकर अभिनयकला का विकास करना रहा था।"[134] भारतेंदु युग में व्यापक पैमाने पर न सिर्फ नाट्य -लेखन हुआ बल्कि उनके मंचन के लिए भी प्रेरणा मिली। स्वयं भारतेंदु नाट्य लेखन एवं अभिनय के केंद्र में एक संस्था की तरह कार्यशील थे। भारतेंदु से पूर्व भी पारसी रंगमंच व्यवसायिक स्तर पर सक्रिय था। भारतेंदु ने सक्रिय होकर पारसी रंगमंच के समानांतर एक अव्यवसायिक रंगमंच का आरंभ किया। भारतेंदु ने हिंदी रंगमंच के विकास में परंपरा और आधुनिकता का समन्वय करते हुए संस्कृत नाट्य परंपरा के महत्वपूर्ण तत्वों को लोक नाट्य परंपरा के साथ समन्वित करते हुए अपनी विशिष्ट प्रतिभा से हिंदी के अपने रंगमंच के विकास को तीव्र गति प्रदान की। उन्होंने पश्चिम की ग्रीक परंपरा को भी सीमित मात्रा में समाविष्ट किया। भारतेंदु ने अपने नाटकों को अधिकाधिक अभिनेय बनाए जाने पर बल दिया। उन्होंने अपने नाटकों में पात्र योजना, भाषा, संवाद योजना में रंग संकेतों के माध्यम से अभिनेता का भी ध्यान रखा।

---

[132] सुप्रिया पाठक : रंगमंच एवं स्त्री, पृष्ठ संख्या, 12

[133] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 17

[134] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 53

2.3 प्रसादयुगीन हिंदी रंगमंच

हिंदी भाषा की दृष्टी से द्विवेदी युग अत्यंत महत्पूर्ण काल है। भाषा का मानकीकरण तथा उसके शुद्ध रूप के लिए यह युग वरदान है। सरस्वती पत्रिका के माध्यम से हिंदी भाषा के मानकीकरण का नया रूप देखने को मिलता है। एक ओर जहाँ भाषा के लिए यह काल चरमोत्कर्ष साबित हुआ। वहीं हिंदी नाटक और हिंदी रंगमंच के लिए यह काल शिथिलता लिए हुआ था। "उत्तर भारत में रंग मंडलियाँ घूम घूम कर मंचन किया करती थी। महावीर प्रसाद द्विवेदीजी के शुष्क प्रवृत्ति के आगे इन नाटक मंडलियाँ आगे बढ़ न सकी। इसी बीच प्रतिभाशाली नाटककार जयशंकर प्रसाद का उदय हुआ।"[135] प्रसाद के नाटकों के विषय के संदर्भ में नाट्य मंडलियों की यह धारणा थी कि ये नाटक अभिहित नहीं हो सकते है किन्तु बनारस में चन्द्रगुप्त नाटक का सफल अभिनय सन् 1934 में किया गया। इसके अभिनय में नगर की अन्य मंडलियों का भी सहयोग रहा। "तत्कालीन समय में प्लेटो, विगोसीन, सीनरियों, टेम्पो, ट्रोक्सीनों आदि का बोलबाला था। उसी मंच पर दृश्यान्तर गत दृश्य प्रदर्शन का भी विधान रहता था। सीन ट्रांसफर के द्वारा कलात्मक चित्रों के प्रदर्शित करने की व्यवस्था भी थी।"[136] नृत्य, गान आदि की अच्छी संगति रहती थी।

भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी को उसका निजी 'नाट्य' देने का महत्त्वपूर्ण और सार्थक प्रयास जयशंकर प्रसाद ने किया 'प्रसाद' का आविर्भाव हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में नया अध्याय है। नयी दिशा का संकेत है। "नाटक के क्षेत्र में प्रसादजी एक युग प्रवर्तक कलाकार के रूप में आये। उन्होंने संस्कृत नाटकों के रस सिद्धान्त पाश्चात्य नाटकों के अन्तः संघर्ष, बाह्य संघर्ष तथा शील वैचित्र्य की परम्परा, बंगला नाटकों के भाव संवेदन को अपनाकर अपनी प्रतिभा के समन्वय से हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी अभिनव नाट्य कला को जन्म दिया।"[137] उन्होंने नाटक को विचारों या भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम माना। प्रसाद ने वस्तु, चरित्र, रस टेक्निक तथा वातावरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। प्रसादजी के सम्मुख एक ओर तो नवयुग प्रवर्तक भारतेन्दुजी प्राचीनता के प्रतिनिधि के रूप में खड़े थे और दूसरी ओर पश्चिमी नाटकों की अभिनय कला अपनी नवीन मोहिनी शक्ति का जादू डाल रही थी। ऐसे सन्धिकाल में प्रसादजी ने साहित्य-सृजन का कार्य प्रारम्भ किया। "प्रसादजी ने समन्वयात्मक शैली का अनुगमन किया। उन्होंने भारतीय रंग-विधान और पाश्चात्य शील वैचित्र्य के समन्वय का पथ अपनाया। प्रसाद ने प्रारम्भ में अपने नाटकीय विधान में संस्कृत नाटक के शास्त्रीय तत्त्वों के साथ पाश्चात्य नाट्य पद्धति का अद्भुत समाहार किया

[135] सं. डॉ. विनय समकालीन : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 42

[136] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 85

[137] राम किशोर यादव : लोक नाट्य पृष्ठ, संख्या 13

और अन्ततः वे अपने नाटकों के लिए एक स्वतन्त्र शैली की खोज में भी सफल हुए। वस्तु के स्तर पर प्रसाद की प्रयोगशीलता व्यापक विशुद्ध काव्यात्मक अनुभूति की सृष्टि में है।"[138] प्रसाद की नाट्य वस्तु की तीन मौलिक शक्तियाँ हैं-काव्यात्मक, ऐतिहासिक चेतना और सांस्कृतिक चेतना। प्रसाद-मूलतः कवि थे और उनका यह कवित्व सम्पूर्ण नाटकीय संयोजन में है। उनकी कथाएँ सुदूर इतिहास और कल्पना के जगत से चुनी हुई हैं। "उनके प्रमुख नाटक प्राचीन भारतीय इतिहास के स्वर्णिम युगों गुप्तकाल', 'मौर्यकाल' और 'हर्षवर्द्धन के युग' से जुड़े हैं।

इतिहास में भीतर से नाटकीय कथानकों के चयन के पीछे प्रमुख कारण था प्रसाद में अपने समसामयिक युग की चेतना और समस्याओं का बोध प्रसाद ने समसामयिक वातावरण और सुदूर अतीत की घटनाओं के बीच एक समानता पायी। प्रसाद गहरे जीवन दृष्टा थे।"[139] उनका आधुनिक जीवन का अध्ययन भी असाधारण था। अत एव उनके नाटकों में आज भी समस्याएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलती हैं। उनके नाटकों में पात्रों के नाम वेशभूषा, चरित्र, बातचीत सभी इतिहास के काल विशेष के अनुरूप होते हुए भी युग जीवन या युग-धर्म से अप्रभावित नहीं है। "पारसी रंगकारों की तरह उन्होंने इतिहास के तथ्यों को ज्यों-का- त्यों उठाकर नाटक में पेश नहीं किया बल्कि उन्हें भली-भाँति परखा, सँवारा और फिर अपनी मौलिक कवि कल्पना के संस्पर्श से उनका नवीन प्रस्तुतीकरण किया। प्रसाद का संवेदनशील सर्जक युगीन चेतना से अप्रभावित नहीं रह सकता था। अपने नाटकों में उन्होंने इतिहास के केवल उन्हीं पृष्ठों को चुना है जो हिन्दू भारत के चरमोत्कर्ष के युग थे। गुप्तकाल प्राचीन इतिहास का स्वर्ण युग है।"[140] प्रसाद ने वस्तुतः पाश्चात्य और भारतीय दोनों नाट्य के सत्त्व को ग्रहण करने की चेष्टा की है। प्रसाद ने अपने युग के जीवित रंगमंच को अनचाहे ही ग्रहण का आधार बनाया है। प्रसाद के नाटक एक भिन्न स्तर पर पारसी रंगमंच के युग की ही चरम उपलब्धि सूचक है। प्रसाद के नाटक पारसी रंगमंच की बुनियाद पर ही खड़े रहे हैं, उनका कार्य-व्यापार का विन्यास, दृश्य संयोजन रूपबन्ध-सब कुछ पारसी रंगमंच की रूढ़ियों और व्यवहारों से निर्धारित हुआ है। प्रसाद का महान योगदान इसमें है कि अपने नाटकों में उन्होंने एक भिन्न प्रकार की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना का अन्वेषण किया, नाटक और रंगमंच दोनों को सर्जनात्मक स्तर प्रदान किया और सार्थक बनाया। प्रसाद और उनके समसामयिक नाटककारों में भारतीय साहित्य, संस्कृति और राष्ट्र की गरिमा का अनुभूति प्रवण आवेग लहराता था। उन्होंने अपने नाटकों में राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता, विश्व मैत्री और जन जागरण की भावात्मक और सशक्त अभिव्यक्ति थी।

---

[138] सं. डॉ. विनय समकालीन : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 42

[139] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 152

[140] राम किशोर यादव : लोक नाट्य पृष्ठ, संख्या 57

प्रसाद युग तक के नाटककारों ने अनेक ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामाजिक नाटकों का प्रणयन किया किन्तु प्रसाद जैसा जीवन का गहन, दृश्य जीवन की जटिल समस्याओं में भावों का संवेग भरने की क्षमता इस युग के अन्य किसी नाटककार में नहीं मिलता। प्रसाद ने नाटकों की दिशा में जो विविध प्रयोग 1910 से 1915 तक किये हैं, उनका ज्ञान केवल प्रसाद की नाटकीय कला के विकास के लिए ही नहीं, वरन् हिन्दी नाट्य साहित्य के विकास के लिए भी अपेक्षित है। क्योंकि इस समय हिन्दी की नाट्यकला- संस्कृत की परम्परागत नाट्य प्रणाली, पाश्चात्य की अभिनव नाट्य प्रणाली तथा हिन्दी की स्वतन्त्र नाट्य प्रणाली के संक्रमण काल से गुजरती है। प्रसाद के इन नाटकों में तीनों प्रकार के प्रयोगों की झलक मिलती है। नाटक रचना का प्रारम्भिक काल होने के कारण प्रसाद की नाट्य कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। "औपनिवेशक आधुनिकता वाले रंगमंच की शैली यथार्थवादी थी। जिसमें संकलन त्रय (स्थान, समय और क्रिया) का निर्वाह और यथार्थवादी दृश्य विधान में प्रस्तुति होने लगी। 'संघर्ष' केंद्रिय तत्व था, अधिकतर नाटक तीन अंकीय थे, गीत संगीत गौण हो गया। यद्यपि पारसी रंगमंच और मराठी रंगमंच पर संगीत की उपस्थिति थी।"[141] रवीन्द्रनाथ टैगोर और जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों के माध्यम से यथार्थवादी शैली का विकल्प तलाशा और नाटक भारतीय प्रदर्शन शैली में लिखे। टैगोर ने जहां इसमें नृत्य, गीत संगीत से युक्त नाटक लिखे वहीं प्रसाद ने संकलन त्रय के बंधन से मुक्त नाटक लिखा और 'रस' एवं 'संघर्ष' का समन्वय किया लेकिन यथार्थवादी रंगमंच में इनकी समाई न हो सकी। "स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्रीय पहचान निर्मित करने में रंगमंच की भूमिका को भी महत्वपूर्ण मान कर राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना की राजकीय पहल हुई। आजादी के पूर्व ही भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) ने अपने प्रयासों से अखिल भारतीय रंगमंच को खड़ा किया।"[142] राजनीतिक और जन सरोकारों से युक्त नाटक करने के लिए इन्होंने रंगमंच को प्रोसेनियम से बाहर निकाला और परंपराशील नाट्यशैलियों की ओर उन्मुख हुए। आजादी के बाद इसका आंदोलनात्मक स्वरूप क्षीण हुआ लेकिन इससे जुड़े अनेक रंगकर्मी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय रगमंच के सूत्रधार बने। औपनिविशिक रंगमंच की परंपरा आजादी के बाद भी रही जिसे मुख्यतः शहरी अभिजात मध्यवर्गीय रंगकर्मियों ने आगे बढ़ाया। यथार्थवाद आधुनिकता की उपज थी इसलिए यह मान लिया गया था कि शहर और आधुनिक जीवन की विसंगतियों को यथार्थवाद ही व्यक्त कर सकता है।

[141] सं. डॉ. विनय समकालीन : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 27

[142] डॉ. सुरेश वशिष्ठ : हिंदी नाटक और रंगमंच ब्रेख्त का प्रभाव, पृष्ठ संख्या 95

जयशंकर प्रसाद के समक्ष मूल चुनौती हिंदी में गंभीर ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटकों की अनुपस्थिति की थी। उन्होंने गंभीर साहित्य नाट्य लेखन पर बल दिया एवं रंगमंच को निर्देशक एवं अभिनेता की प्रतिभा पर छोड़ दिया। उन्होंने साफ तौर पर कहा कि 'नाटक के लिए रंगमंच होना चाहिए न कि रंगमंच के लिए नाटक' तब भी, उनके नाटकों में पर्याप्त रंग संकेत उपलब्ध हैं। पारसी रंगमंच की रंग पद्धतियों को अस्वीकार करते हुए भी प्रसाद ने उनसे पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। प्रसाद के नाटकों में कई जगह अतिनाटकीयता एवं गीतों की बहुलता पूर्णतः पारसी रंगमंच के प्रभाव से है। "प्रसाद ने पाश्चात्य रंग परिकल्पना से भी प्राप्त प्रभाव ग्रहण किया है, वस्तुतः नाटकों का वृहदाकार पात्रों की बहुलता, देशकाल का विस्तार, युद्ध, मृत्यु जैसे दृश्यों का समावेश पाश्चात्य नाट्य परंपरा से ही प्रेरित है। प्रसाद शेक्सपियर एवं बर्नार्ड शॉ के नाटकों से प्रभावित थे। दर्शकों की सांस्कृतिक अभिरुचियों के परिष्कार पर बल रखने के कारण प्रसाद जी ने भारतीय नाट्यशास्त्र से भी अनेक तत्वों को ग्रहण किया है।"[143] निसंदेह हिंदी रंगमंच के विकास में प्रसाद की नाट्य दृष्टि की भूमिका को कम नहीं किया जा सकता है। यह सही है कि अपनी कई संरचनात्मक विशेषताओं जैसे पात्र- बाहुलता, कठिन दृश्य योजना, अवांतर कथाओं की उपस्थिति, दर्शन के प्रक्षेपण आदि की वजह से प्रसाद के नाटक प्रायः अभिनेयता के गुण से वंचित माने जाते हैं किंतु कई रंग निर्देशकों जैसे इब्राहिम अल्काजी ने कहा है कि यह प्रसाद कि नहीं हिंदी रंगमंच की कमी है कि वह प्रसाद के नाटकों के लिए अपेक्षित प्रयोगशीलता का प्रदर्शन नहीं कर सका है। आगे चलकर मोहन राकेश ने भारतेंदु एवं प्रसाद की नाट्य दृष्टियों के समन्वय के आधार पर ही हिंदी के अपने स्वभाविक सांस्कृतिक रंगमंच के विकास पर बल दिया। "द्विवेदी युग एक प्रकार संकलन युग है। इसमें संस्कृत नाट्य, यूरोपियन नाट्य, यूरोपियन नाट्य शैली, पारसीक थियेटर, लोक नाट्य और हिन्दी के निजी रंगमंच का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। द्विवेदी युग की प्रमुख नाट्य संस्थाओं में नागरी प्रवर्द्धिनी सभा, श्री रामलीला नाटक मण्डली, बॉयज ड्रामेटिक क्लब, नागरी नाट्य कला, संगीत प्रवर्तक मण्डली, नागरी नाटक मण्डली, आदर्श भारतेन्दु नाटक मण्डली, हिन्दी नाट्य समिति, हिन्दू यूनियन क्लब लखनऊ, भरतनाट्य समिति कानपुर, कैलाश नाट्य समिति कानपुर, हिन्दी नाट्य परिषद्, कलकत्ता आदि की गणना की जाती है। ये संस्थाएँ व्यक्तिगत प्रयासों द्वारा स्थापित संचालित थी।"[144] नागरी नाट्य कला संगीत प्रवर्तक नाटक मण्डली को अवश्य धनाढ्य संस्था कहा गया है। इस युग के नाट्य प्रस्तुतीकरण बहुत कलात्मक नहीं थे। मंच का निर्माण सार्वजनिक स्थल पर ही होता था और घर में छोटे-छोटे परदे लगा करके नाट्य प्रदर्शन किया जाता था। द्विवेदी युगीन अभिनय कला अतिनाटकीयता प्रेरित थी। इसमें हास्य रस और प्रहसन को अधिक प्रोत्साहन दिया

[143] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 51

[144] सं. डॉ. विनय समकालीन : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 51

जाता था। इस युग के दर्शकों में सभी वर्गों के व्यक्ति थे, राजाओं- महाराजाओं का सम्मिलित होना विशेष गौरव का विषय बनता था। इसी युग की नागरी नाटक मण्डली ने मुद्रित आमन्त्रण पत्रों द्वारा दर्शकों को बुलाना आरम्भ किया। "रंगमंचीय समीक्षाओं का भी इस युग में पर्याप्त प्रचलन हो गया था। द्विवेदी युग का हिन्दी रंगमंच के शुद्धता अभियान में महत्त्वपूर्ण योग है।"[145] यह युग कलात्मक दृष्टि से बहुत विकसित तो नहीं है किन्तु हिन्दी रंगमंच में प्रचार-प्रसार भी इस दिशा में प्रयत्नशील अवश्य दिखता है।

हिन्दी रंगमंच के इतिहास में प्रसाद युग का अभूतपूर्व योगदान है। "इस युग में नाट्य कृतियों को शुद्ध साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया गया और इन्हें सुरुचि सम्पन्न भी बनाया गया। इन कृतियों के माध्यम से रंगमंच में विविधता या बहुरूपीयता के दर्शन हुए। इन कृतियों में पर्याप्त रंग संकेत, विधिवत् अंक दृश्य विभाजन, कुतूहल और रोमांचक दृश्य भी प्रकट हुए। इस युग के रंगमंचीय प्रदर्शन अत्यल्प है, संस्थाबद्ध प्रयास के रूप में 4-5 नाट्य संस्थाएँ सक्रिय दिखाई देती हैं।"[146] नागरी नाटक मण्डली (काशी), हिन्दी नाट्य समिति (प्रयाग), इलाहाबाद यूनीवर्सिटी एस्पेसियेशन कलचर सेन्टर (इलाहाबाद) आदि। इस युग में प्रस्तुतीकरण अपेक्षाकृत जटिल दिखाई देते हैं। प्रसादजी अत्यन्त समुन्नत और सुविकसित रंगमंच की माँग कर रहे थे। "मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं, जो राह चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटा कर चार पर्दे मँगनी माँग लेती हैं और अन्नी अठन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खोंमचेवाले और दुकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। 'उत्तर रामचरित', 'शकुन्तला या 'मुद्राराक्षस' कभी न ऐसे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सकते हैं और न जनसाधारण में रसोद्रेक का कारण बन सकते हैं। उनकी काव्य प्रधान शैली कुछ विशेषता चाहती है, यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि सम्पन्न सामाजिक हों और पर्याप्त दृश्य काव्य में लाया जाय तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।"[147] प्रसादोत्तर युग में हिन्दी रंगमंच सम्बन्धी अनेक प्रकार के प्रयोग और परीक्षण दिखाई देते हैं। वस्तुतः हिन्दी रंगमंच का व्यवस्थित रूप यहीं प्रकट होता है। इस काल की प्रमुख नाट्य संस्थाओं में पृथ्वी थियेटर्स (मुम्बई), आदर्श भारतेन्दु नाटक मण्डली (काशी), कल्चर सेन्टर (इलाहाबाद), जन नाट्य संघ (इप्टा), बजरंग परिषद् (कलकत्ता), रंगमंच (प्रयाग), नूतन कला मन्दिर (कानपुर), नीटा (इलाहाबाद), भारतीय विद्या भवन (इलाहाबाद), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (दिल्ली), थ्री आर्ट्स क्लब (दिल्ली), तरुणसंघ (कलकत्ता), अनामिका (कलकत्ता), संगीत कला मन्दिर (कलकत्ता), आदि।

---

[145] राम किशोर यादव : लोक नाट्य पृष्ठ, संख्या 23

[146] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 63

[147] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 21

इप्टा थियेटर

पूर्व हो या पश्चिम-यों तो नाटक और रंगमंच की शुरूआत ही खुले में हुई अर्थात्- नुक्कड़ ही वह पहला स्थान था जो नाटकों के खेलने में इस्तेमाल हुआ। आदिम युग में सब लोग दिनभर शिकार करने के बाद शाम में अपने-अपने शिकार के साथ कहीं खुले में एक घेरा बनाकर बैठ जाते थे और उस घेरे के बीचो-बीच ही उनका भोजन पकता रहता, खान-पान होता और वहीं बाद में नाचना-गाना होता। इसके साथ ही अंकुरजी का यह भी मानना है कि भारत में नुक्कड़ नाटकों को प्रारम्भ भारतेन्दु के अन्धेर नगरी से ही मानना चाहिए। उनका कहना है- 'भारत में भारतेन्दु के 'अन्धेर नगरी' को भी इसी शैली का पहला आधुनिक नुक्कड़ नाटक कहा जा सकता है, जिसका पहला मंचन 1881 में दशाश्व मेधघाट, बनारस में खुले में हुआ था। बहरहाल, आजादी के आन्दोलन के दौरान नुक्कड़ नाटकों ने इप्टा के माध्यम से अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और उसके बाद भी आज तक कमोबेश उसी रूप में नुक्कड़ नाटकों का मंचन और प्रचलन जारी है। "इप्टा अर्थात इंडियन पीपल थिएटर एसोसिएशन का जन्म देश की आजादी की लड़ाई और विश्वव्यापी फासीवाद विरोधी आंदोलन के गर्भ से हुआ था। इसकी स्थापना 25 मई 1943 को मुंबई में हुई थी।"[148] इसका नामकरण रोमा रोला की पुस्तक 'पीपल थिएटर' के आधार पर किया गया था। सन 1943-47 के दौरान इप्टा की गतिविधियां अत्यधिक लोकप्रिय एवं देशव्यापी होने लगी थी। इन समूह ने प्रगतिशील नाटकों के मंचन पर बल दिया इसने लोक मंच के तत्वों को आत्मसात करते हुए नुक्कड़ नाटकों के मंचन को भी लोकप्रिय बनाया। "हिंदी, उर्दू एवं अन्य भारतीय भाषाओं के भी सभी प्रगतिशील एवं वामपंथी लेखक, साहित्यकार, बुद्धिजीवी या तो प्रत्यक्षता इससे जुड़े थे या अप्रत्यक्ष रुप से इसके प्रशंसक थे। आजादी के बाद भी 1960 तक सैकड़ों प्रगतिशील नाटकों का मंचन इप्टा द्वारा किया गया। अली सरदार जाफरी, कैफ़ी आज़मी, राजेंद्र रघुवंशी, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, ख्वाजा अहमद अब्बास, उपेंद्रनाथ अश्क जैसी महान हस्तियां इप्टा से जुड़ी थी।"[149] बलराज साहनी इप्टा के एक महत्वपूर्ण अभिनेता थे। हिंदी रंगमंच को आम जनता के साथ जोड़े रखने में इप्टा की भूमिका ऐतिहासिक मानी जाती है एक ठहराव के बाद आज भी इप्टा समकालीन रंगमंच पर अपनी सक्रियता बनाए हुए हैं।

देवेन्द्रराज अंकुर की ही भाँति नुक्कड़ नाटक का जन्म गिरिराजशरण अग्रवाल ने भी आदिम युग से ही माना है- 'हमारे यहाँ शताब्दियों पहले से धार्मिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक

[148] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 41

[149] दीनानाथ साहनी : समकालीन रंगमंच, पृष्ठ संख्या 21

नाटक खुले आसमान के नीचे खेले जाते रहे हैं। अतः नुक्कड़ नाटक वैसे तो आदिम युग से ही खेले जाते हैं परन्तु एक मण्डली या संघ बनाकर इसे गली-गली, चौराहे चौराहे पर खेलने वाला पहला संगठन इप्टा है।' "यह वह समय था, जब भारत में अंग्रेज शासकों का दमन अपनी पराकाष्ठा पर था। दूसरे महायुद्ध ने भारी नरसंहार किया था, महँगाई ने जनता के मुँह से रोटी छीन ली थी, बंगाल के अकाल ने तीस लाख लोगों से भी अधिक की जान ले ली थी। किन्तु जन विरोध को मुखर होने के लिए मार्ग कहीं मिल रहा था।"[150] ऐसे में नुक्कड़ नाटकों ने इस चुनौती को स्वीकार किया। गली-गली और गाँव-गाँव, चौराहे-चौराहे और नुक्कड़-नुक्कड़ इन नाटकों का प्रदर्शन किया गया। इनके साथ जनता बहुत बड़ी संख्या में जुही। अत: इन्होंने जनता को प्रेरित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। नुक्कड़ नाटक के सन्दर्भ में एक विशेष उल्लेखनीय और विचारणीय बात यह है कि यह एक आन्दोलन के रूप में उभरकर सामने कब आया। "हिन्दी में सन् 1974-75 के आसपास नुक्कड़ रंगान्दोलन की शुरूआत हुई थी। सन् 1974-75 का समय सामाजिक एवं राजनीतिक उथल- पुथल का था। यह समय जय प्रकाश-आन्दोलन एवं इन्दिरा गाँधी के आपातकाल का था। ऐसे दमनकारी, विक्रम एवं अनिश्चित के वातावरण में वामपन्थी आन्दोलन में भी बिखराव था। कुछ आपातकाल एवं श्रीमती गाँधी को अपना सहयोग दे रहे थे। कुछ गाँवों से शहरों एवं राजधानियों को घेरने का नारा दे रहे थे। ...इन्हीं विषम स्थितियों के बीच हिन्दी में नुक्कड़ रंगकर्म आरम्भ हुआ और देखते-ही-देखते जंगल की आग (दावाग्नि) की तरह हिन्दी पट्टी एवं पूरे देश में फैल गया।"[151] देश के कई कस्बों, नगरों एवं महानगरों में असंख्य नुक्कड़ रंगमण्डलियाँ सामने आई और देखते ही देखते ही एक सार्थक रंगान्दोलन ने एक स्वस्थ आकार ग्रहण कर लिया। इस आन्दोलन में इप्टा के माध्यम से लगे सफदर हाशमी ने सन 1973 में अलग होकर जन नाट्य मंच की स्थापना की। 1976-77 में राजनीतिक स्तर पर जनवादी चेतना के विस्फोट का स्पन्दन बहुत तेजी से नाट्य जगत में पहुँचा और हालात के साजगार होते ही जनवादी स्वरूप का नाटक प्रेक्षागृहों की पाबन्दियों को तोड़कर व्यापक दर्शक समूह की तलाश में गली-कूचों में निकल आया।

यहीं से आधुनिक भारतीय नाटक के इतिहास में दूसरी बार नुक्कड़ नाटक आन्दोलन की शुरूआत हुई। इस नाट्यदल ने दिसम्बर 1988 तक 30 से भी अधिक नाटकों के हजारों प्रदर्शन किये। फिर 1 जनवरी, 1989 को साहिबाबाद में 'हल्ला बोल' नुक्कड़ नाटक का प्रदर्शन करते समय सफ़दर हाशमी की शहादत हो गयी। इस शहादत के बाद अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने वालों के विरोध में बुद्धिजीवियों, विद्वानों, रंगकर्मियों कलाकारों का एक वर्ग खड़ा

[150] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 39

[151] कुसुम कुमार : हिंदी नाटक चिंतन, पृष्ठ संख्या 42

हो गया। जिसने सफ़दर के जन्म दिवस 12 अप्रैल 1989 को राष्ट्रीय नुक्कड़ नाटक दिवस मनाने का फैसला किया। इस दिन देशभर में नुक्कड़ नाटकों के कम से कम तीस हजार प्रदर्शन हुए। "इसी वर्ग ने सफदर हाशमी मैमोरियल ट्रस्ट (सहमत) की स्थापना की। यह प्रत्येक वर्ष अखिल भारतीय स्तर पर नुक्कड़ नाटक समारोह का आयोजन करती है। अतः सहमत, जनम, दिशा, युवानीति, संकेत, संकल्प, चेतना, अभियान, जन संस्कृति आदि मण्डलियाँ आज भी सक्रिय हैं। समाजोन्मुखी साहित्य के विकास में नुक्कड़ नाटकों का विशेष महत्त्व है। यह एक विरोधी प्रवृत्ति है।"[152] नुक्कड़ नाटक जनता में उत्तेजक प्रश्नों के साथ, नये विचारों के साथ, झकझोरने वाले सन्देशों के साथ, विरोधी की भावना और अपने उत्साह के साथ उतरता है। सफ़दर हाशमी का कहना है- 'मूल रूप से यह विरोध का एक संघर्षशील राजनीतिक थियेटर है। इसका काम है जनसाधारण को आन्दोलित करके उन्हें संघर्षरत संगठनों के पीछे लामबन्द करना। नुक्कड़ नाटक जन भावनाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए एक जोरदार साधन है। इस विधा के माध्यम से राजनीतिक दमन, शोषण को जनभावनाओं के साथ उधेड़ा जाता है। वस्तुतः यह विरोध के स्वर का नाटक है।' अपने वर्तमान रूप में यह पूँजीवादी तथा सामन्ती शोषण के अधीन रहने वाले श्रमजीवी वर्ग की विशिष्ट आवश्यकताओं से उत्पन्न हुआ कला रूप है और यह बीसवीं सदी की उपज है। अतः नुक्कड़ नाटक शोषण का विरोध करता है। नुक्कड़ नाटक का शाब्दिक अर्थ ही हुआ, वह नाटक जो गाँव, शहर या कस्बे के किसी भी मोड़ पर किसी चौराहे या नुक्कड़ पर खेला जा सके। अतः नुक्कड़ नाटक चौराहे पर गली में, फैक्ट्री गेट पर, मोड़ पर, सार्वजनिक पार्क, बीच बाजार, मेला-ठेला, बस-स्टॉप आदि जगहों पर खेला जा सकता है और यही इसका रंगमंच है। वृत्ताकार अभिनय स्थल, प्रस्तुति की शर्तें, अभिनेता और दर्शक की समीपता और अपनी अलग शैली जिसकी संरचना गीत, संगीत, कोरस कलाबाजी, नटगिरी, जादूगिरी जैसी तत्त्वों से होती है, इससे खास मिजाज बनता है जो दर्शकों को बाँध लेता है। बगैर उनके दिलों-दिमाग को झकझोर देता है। अतः इसका रंगमंच गली-चौराहे, नुक्कड़ पर जनता के बीच है।

नुक्कड़ नाटकों के मुख्य विषय राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि समस्याओं पर केन्द्रित होते हैं या चुनावों को दिशाहीनता, उसकी उदासीनता अथवा युवाओं के 'फ्रस्ट्रेशन' पर आधारित होते हैं। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध रंगकर्मी देवेन्द्रराज अंकुर का कहना है "एक ऐसा माध्यम जो स्वयं लोगों के बीच पहुँचता है, उन्हीं की समस्याओं से रू-ब-रू होता है और उन्हीं की भाषा में संवाद करता है। उसकी भूमिका मुख्यतः विरोध की रहती है क्योंकि उसका उद्देश्य

[152] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 78

किसी भी तत्कालीन व्यवस्था में गलत हो रही बातों की तरफ जनमानस का ध्यान आकृष्ट करके उन्हें उसके प्रति जागृत करना है और यदि सम्भव हो तो उस गलत व्यवस्था से लड़ने के लिए तैयार करना है।"[153] दूसरे शब्दों में कहें तो नुक्कड़ नाटक की मूल प्रकृति एक उत्प्रेरक की है। अतः नुक्कड़ नाटक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह जन-भाषा के मुहावरे को सार्थक सिद्ध करता हो। नुक्कड़ नाटक में प्रयुक्त होने वाली भाषा किसी विद्वता या पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं करती, बल्कि आम जन की सहज प्रस्फुटित भाषा ही कही जा सकती है। सीधी, सरल, सपाट भाषा का प्रयोग नुक्कड़ नाटक के लिए अपेक्षित है, ताकि कथ्य के सम्प्रेष्य में आम दर्शक तक आराम से पहुँच सके। "क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग नाटक के सम्प्रेषण में बाधक हो सकने की वजह से उसकी प्रभविष्णुता को क्षीण कर सकता है, इसलिए सहजता के साथ लोकमानस तक पहुँचने वाले शब्दों का प्रयोग ही अपेक्षित हो जाता है।"[154] अतः नुक्कड़ नाटक भूलतः गलत बात के विरोध का गली, चौराहे, मोड़ आदि पर जन-भाषा में खेले जाने वाला एक सशक्त माध्यम है।

[153] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 86

[154] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 12

पृथ्वी थिएटर

1944 में पृथ्वीराज कपूर ने ही 'पृथ्वी थिएटर' की नींव रखी। पृथ्वीराज कपूर ने फिल्म से कमाई अपनी सारी आमदनी उन्होंने इस थिएटर समूह में लगा दी। इसकी स्थापना कर उन्होंने हिंदी रंगमंच को एक राष्ट्रीय स्वरुप प्रदान किया। प्रख्यात जनकवि और नाटककार शील ने पृथ्वी थिएटर को देश का राष्ट्रीय हिंदी रंगमंच मानते हुए पृथ्वीराज कपूर को सांस्कृतिक योद्धा बताया। अपनी यात्रा के 16 वर्ष तक पृथ्वी थिएटर ने पूरे भारत में नाटक मंचित किए। इसमें कुल 8 नाटक थे- शकुंतला, दीवार, पठान, आहुति, कलाकार, पैसा, किसान, दत्ता इनमें कुल रंग सदस्यों की संख्या 80 से 90 हुआ करती थी। इसका वार्षिक बजट तीन से चार लाख रुपए का था और एक लाख रुपये की सहायता सरकार से मिलती थी। "इस थियेटर ने देशभर में अपनी प्रस्तुतियां दी। पृथ्वी थिएटर पारसी थियेटर के बाद ऐसा नाटक समूह था जो अपने नाट्य दल, रंग-सज्जा तथा रंग उपकरण के साथ उत्तर एवं दक्षिण भारत के सभी क्षेत्रों में यात्रा करता एवं प्रस्तुतियां देता था।"[155] इसमें पृथ्वीराज के अतिरिक्त जोहरा सहगल, राज कपूर, शम्मी कपूर, प्रेमनाथ, सुदर्शन सेठी और श्रीराम महत्वपूर्ण कलाकार थे। इनके नाटकों में साम्राज्यवाद विरोध, सामंतवाद विरोध, पूंजीवाद के विकृत रूपों का विरोध, हिंदू-मुस्लिम एकता आदि महत्वपूर्ण विषय होते थे। पृथ्वी थिएटर आज भी सक्रिय है, कपूर परिवार की संजना कपूर पृथ्वी थिएटर का संचालन आज भी पूरी प्रतिबद्धता एवं व्यवसायिकता के साथ कर रही है। हाल ही में इस समूह में अखिल भारतीय नाट्य उत्सव का आयोजन किया था मुंबई और दिल्ली में आज भी यह समूह प्रतिवर्ष नाटकों का आयोजन करता है।

[155] डॉ. भगवतीप्रसाद शुक्ल : प्रसादयुगीन हिंदी नाटक, पृष्ठ संख्या 81

2.4 मोहन राकेश और हिंदी रंगमंच का विकास

मोहन राकेश की रंगदृष्टि हिंदी रंगमंच के विकास में मील का पत्थर साबित करती है, उन्होंने पश्चिमी रंगमंच से पृथक हिंदी के नए एवं मौलिक रंगमंच की खोज करने का प्रयास किया। जहां पश्चिम का रंगमंच दृश्य योजना और तकनीकी पर आधारित है। उन्होंने हिंदी के लिए ऐसा रंगमंच बनाने की कोशिश की जो मानव तत्व और शब्द तत्व पर आधारित हो, ताकि कम से कम संसाधनों के साथ संश्लिष्ट से संश्लिष्ट प्रयोग किए जा सके। अपने पहले नाटक आषाढ़ का एक दिन की भूमिका में उन्होंने हिंदी के मौलिक रंगमंच के उद्देश्य की चर्चा की है वह लिखते हैं "हिंदी रंगमंच को हिंदी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक मूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा हमारे दैनंदिन जीवन के राग रंग को प्रस्तुत करने के लिए हमारे संदेशों और स्तंभों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं दिन होगा।"[156] अपनी इसी रंग-दृष्टि को मोहन राकेश ने अपने सभी नाटकों 'आषाढ़ का एक दिन' , 'लहरों के राजहंस' तथा 'आधे अधूरे' में प्रयुक्त किया। यह रंग-दृष्टि मंच पर इतनी अधिक सफल रही कि इसमें हिंदी नाटक रंगमंच के नए मुहावरे गढ़ दिए। सिर्फ एक दृश्य के माध्यम से नाटक के सभी अंगो की प्रस्तुति , मंचीय संवादों के अतिरिक्त नेपथ्य से बहुत सी ध्वनियों का सार्थक प्रयोग, अभिनेताओं की आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से अकथनीय को भी कह देने की ताकत जैसी विशेषताओं ने मोहन राकेश की रंगमंचीय प्रयासों को यह अभूतपूर्व सफलता दिलाई। जिनके रंगमंच में योगदान वे विषय में आगे के अध्याय में चर्चा की गई है।

[156] मोहन राकेश- आषाढ़ का एक दिन, भूमिका

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय

विश्व स्तर पर भारतीय रंगमंच की सही पहचान कराने के उद्देश्य से संगीत नाटक अकादमी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना की गई। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना सन् 1959 को हुई। आज देशभर में इस संस्था से प्रशिक्षित रंगकर्मी फैलते जा रहे हैं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रथम निदेशक विख्यात रंगशिल्पी निर्देशक इब्राहिम अल्काजी बने थे 'लोगों का कहना है कि अल्फाजी व्यक्ति नहीं संस्था थे, जिन्होंने पन्द्रह वर्ष की अनवरत साधना से एनएसडी को वह दृष्टि प्रदान की, जिसके आधार पर यह राष्ट्रीय मान्यता और महत्ता हासिल कर सका।' अतः अल्काजी पूर्ण रूपेण समर्पित थे। राष्ट्रीय शब्द को सार्थक करते हुए इस विद्यालय ने देशव्यापी स्तर पर अपने कार्य को फैलाया है। ओम शिवपुरी, नसीरूद्दीन शाह, राज बब्बर, ओमपुरी, कारन्त, विनायक प्रसन्ना, पंकज कपूर, रंजीत कपूर जैसी अनेक प्रतिभाएँ यहाँ से प्रशिक्षित होकर बाहर आई हैं और अपना निरन्तर सहयोग संस्था को दे रही हैं।

रंगमंच को लेकर इस संस्था में जिस काम की शुरूआत हुई वह एक ऐसी तकनीकी क्रान्ति थी जिसने पहली बार नाटक को अखिल भारतीय स्तर पर विकसित और जीवन्त रंगमंच का व्यापक सन्दर्भ दिया। 'देश की नाट्य प्रतिभाएँ एकत्रित हुई। "भारतीय कलाओं के इतिहास में शायद पहली बार ही रंगमंच पर देश की विभिन्न भाषाओं प्रान्तों, साहित्यों, अभिनेताओं, निर्देशकों, लेखकों और रंगकर्मियों की प्रतिभाएँ एकजुट हुई। यहीं से इन प्रतिभाओं ने रंगमंच को एक दिशा देनी प्रारम्भ कर दी।"[157] राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में विभिन्न प्रतिभाएँ एकजुट होने के दौरान मैं अल्काजी के सहयोग से हिन्दी के अन्धायुग, आधे-अधूरे, आषाढ़ का एक दिन और लहरों के राजहंस नाटकों की चर्चित प्रस्तुतियाँ प्रस्तुत की। कुछ सफल रूपान्तरों का प्रदर्शन भी किया, जिसमें मुद्राराक्षस का आला अफसर रंजीत कूपर का बेगम का तकिया और मुख्यमन्त्री, हबीब तनवीर का आगरा बाजार आदि प्रमुख हैं।' भारतीय रंगमंच की तलाश और विशेषकर हिन्दी रंगमंच को एक महत्त्वपूर्ण ऊँचाई पर पहुँचाने का कार्य इस संस्था ने किया है। अभारतीय नाटकों में अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूपझी, चीनी, जापानी आदि विविध भाषाओं के अनूदित नाटकों को उन्हीं की रंग शैलियों में प्रस्तुत करने के अलावा हिन्दी संस्कृत, कन्नड़, मराठी, गुजराती, बंगाली, तेलगू आदि के नाटकीय अनुवादों को अनेक रंग शैलियों में प्रस्तुत करने का सफल श्रेय एनएसडी को है। अतः इस क्षेत्र में एनएसडी अद्वितीय कार्य कर रहा है। अल्काजी के बाद प्रसिद्ध रंगशिल्पी ब. व. कारन्त के आने पर विद्या सुन्दर, अन्धेर नगरी और मुद्रा राक्षस को नया जीवन मिला और छोटे सैयद बड़े सैयद में नये प्रयोग हुए, जिसमें हमें कारन्त की प्रतिभा और क्षमता का परिचय प्राप्त हुआ।

[157] डॉ. रमेश गौतम : हिन्दी के प्रतीक नाटक, पृष्ठ संख्या 37

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के बारे में विद्वानों की अलग-अलग राय है- 'ब्रेख्तेरियर मिरर' के अभिताभ दास गुप्त का कथन है- "विद्यालय का वातावरण इण्डियन है, भारतीय नहीं। नाटकों के चुनाव, प्रस्तुतीकरण, रिहर्सल तथा सम्पूर्ण व्यवहार में विदेशी प्रस्तुतियों की नकल मिलती है।"[158] उनका तर्क है कि- "अधिकांश अध्यापक मध्यम वर्ग से आये हैं, उनमें एम्बीशन है इसलिए वे पैंटी बुर्जुआ का व्यवहार करने लगते हैं। अपनी झूठी गरिमा बनाये रखने के लिए वे विदेशी वातावरण तथा अंग्रेजी व्यवहार का पोषण करते हैं। मिस्टर गुप्त व. व. कारन्त के समय को 'भारतीय वातावरण का समय' मानते हैं।"[159] उनका कहना है कि- "निदेशक कारन्त के आने से स्कूल में भारतीय वातावरण आया था, जो एक सुखद बदलाव से मण्डित था। फिर भी एनएसडी का विशेष महत्व एवं पहचान है, जिसे हिन्दी रंगमंच ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय रंगमंच बहुत कुछ ग्रहण कर रहा है। इसने नाटकों की प्रस्तुतियों के मानक बनाएँ हैं।"[160] इस प्रकार यह विद्यालय नाट्य शिक्षा एवं प्रदर्शन में अनोखा संस्थान है। इस विद्यालय ने न सिर्फ देश की महत्वपूर्ण रंग प्रतिभाओं, निर्देशकों, अभिनेताओं को जन्म दिया है, बल्कि हिंदी के नाटकों के मंचन एवं रंगमंच के विकास में 1960 के बाद ऐतिहासिक दायित्व निभाया है। इस विश्वविद्यालय में रंग-मंडल की स्थापना 1964 ईस्वी में की गई जो उसका प्रदर्शन विभाग है। रंग-मंडल ने शैलीगत संगीत से लेकर भारतीय नाट्य की समकालीन कृतियों, अनुवादों और विदेशी भाषाओं के नाटकों के नाट्य रूपांतरण की 200 से अधिक प्रस्तुतियां की है। रंग-मंडल के साथ राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय ख्याति के प्रमुख रंग निर्देशकों ने काम किया है। रंग-मंडल भारत के मुख्य शहरों में प्रस्तुतियां तो करता ही है इसने विदेशों में भी कई प्रदर्शन किए हैं। इसके प्रथम निर्देशक इब्राहिम अल्काजी ने हिंदी नाटक और रंगमंच को नगण्य और उपेक्षित स्थिति से ऊपर उठाकर बड़े फलक पर प्रतिष्ठित करने का उल्लेखनीय कार्य किया लेकिन कुछ नाट्य आलोचकों का मानना है कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय पर पाश्चात्य रंग शैलियों का प्रभाव कुछ ज्यादा ही है। "भारतीय नाटक की शास्त्रीय परंपरा और हिंदी प्रवेश की लोक परंपराओं की इसके द्वारा कई बार उपेक्षा हुई है किंतु आधुनिक तकनीकों, प्रकाश एवं ध्वनि के इस्तेमाल में हिंदी रंगमंच के विकास को अंतरराष्ट्रीय स्तर प्रदान किया है। प्रसाद के जिन नाटकों को अनभिनेय माना जाता था। उनका सफल प्रदर्शन तकनीकी सामग्रियों के कारण संभव हो सका।"[161] स्वर्ण जयंती के अवसर पर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने भारत रंग महोत्सव का आयोजन प्रारंभ किया। इस महोत्सव में विभिन्न राज्यों की राष्ट्रीय स्तर की प्रस्तुतियों को 'राष्ट्रीय नाट्य

[158] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 59

[159] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 153

[160] कुसुम कुमार : हिंदी नाटक चिंतन, पृष्ठ संख्या 49

[161] राम सागर त्रिपाठी : भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 174

विद्यालय' के सभी मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। इन परिस्थितियों के कारण हिंदी रंगमंच पर अखिल भारतीय स्वरूप के विकास एवं संगठन में मदद मिली है। सांस्कृतिक औद्योगीकरण एवं कलाओं के तीव्र व्यवसायीकरण के दौर में हिंदी रंगमंच को संभाले एवं संगठित रखने में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की भूमिका ऐतिहासिक है।

2.5 प्रसादोत्तर हिंदी रंगमंच

नाट्य और रंगमंच को लेकर व्यापक स्तर पर सजगता सन् 1950 के बाद ही आ सकी जबकि स्वतन्त्र भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक परिस्थितियाँ एक देशी रंगमंच की माँग करने लगी हिन्दी के पास उस समय तक तो पाश्चात्य यथार्थवादी रंगमंच के ही आदर्श पर निर्मित यथार्थाभाषी रंगमंच था, जिसके छिटपुट प्रदर्शन स्कूल-कॉलेजों या सभा-सोसायटियों के मंचों पर दिखाये जाते थे या फिर पाठ्य नाटकों की लम्बी परम्परा थी। पारसी व्यावसायिक रंगमंच भी अन्तिम साँसें भर रहा था और यूँ भी उसके भद्दे प्रदर्शनों में हमारी निजी संस्कृति न तो थी न ही हम उसे दिखा ही सकते थे और पृथ्वी थियेटर्स नामक एकमात्र हिन्दी रंगमंच में भी, लगता है पृथ्वी थियेटर्स में सब कुछ था - सिर्फ एक चीज नहीं थी, यानी नाटक। शब्दाडम्बर था, ऊँचे आदर्श थे, सारे माहौल पर छाया पृथ्वीराज का अभिनेता व्यक्तित्व था लेकिन किसी गहन मानवीय सत्य के साथ साक्षात्कार करने वाला नाटक गायब था। अभाव की इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए यह महसूस किया जाने लगा कि हिन्दी का भी एक निजी रंगमंच होना चाहिए और उस रंगमंच के निर्माण के प्रयास भी होने लगे। "राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर रंगमंच की इस माँग के साथ ही एक और कारण भी था जिसने हिन्दी नाटककार को अपनी रंगमंच की इस पिछड़ी स्थिति के प्रति सचेत किया और वह था पाश्चात्य नाट्य प्रयोगों का प्रभाव। पश्चिम का रंगमंच भी इस समय यथार्थवादी रंगमंच की सीमाओं को तोड़कर नयी भूमियों की तलाश के लिए प्रयोग कर रहा था।"[162] मंच पर खेला जाने वाला नाटक नहीं साक्षात् जीवन ही लगने लगा था जैसा जीवन में होता है ठीक वैसा ही नाटक में दिखाया जाये। कल्पना, कविता की जगह नाटक में नहीं है। यथार्थवादी रंगमंच की कलात्मक शक्ति को जो कि काव्य और इतिहास को अपने भीतर भर लेने में समर्थ है, नये हिन्दी नाटककार ने पकड़ा और उसे नये पश्चिमी रंगान्दोलन से जोड़कर ग्रहण किया।

पाँचवें दशक में संगीत नाटक अकादमी (1954) की स्थापना हुई और 1956 में अखिल भारतीय नाट्य गोष्ठी का भी आयोजन हुआ। पश्चिम से प्रभावित रंगमंचीय सजगता का यह आन्दोलन अखिल भारतीय स्तर पर कार्यरत हुआ। बंगला, मराठी, गुजराती, कन्नड़ और हिन्दी सभी भाषाओं में एक नयी रंगदृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। पश्चिम के प्रभाव के साथ-साथ अपने निजी रंगमंचीय दाय के प्रति भी इस युग का नाट्यकर्ता सजग हुआ और उसने पाया कि भारत रंगपरम्पराओं से शून्य नहीं है। सुरेश अवस्थी लिखते हैं "इस समय पश्चिमी देशों में रंगमंच के क्षेत्र में जो भी नया और महत्त्वपूर्ण काम हो रहा है वह पूर्वी नाट्य परम्पराओं के साथ ही चमत्कार से प्रेरित

[162] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 23

और प्रभावित है।"[163] जर्मनी के महान नाटककार ब्रेख्त ने जिस महाकाव्यात्मक और संगीत-मूलक रंगमंच की खोज अपने नाट्य और रंगकर्म में की उसका आधार संस्कृत, चीन और जापान का नाटक है। ब्रेख्त के नाटकों में संस्कृत तथा लोक-नाटकों के समान क्रिया- व्यापार, नृत्यमूलक, शैलीबद्ध और ओजपूर्ण काव्य और संगीत का समन्वित रूप प्रस्फुटित है। इनमें प्रस्तावना रहती है तथा सूत्रधार की ही तरह कथावाचक रहते हैं। संस्कृत नाटकों में अनेक संवाद नाटकीय क्रिया-व्यापार का निर्देश करने के साथ-साथ पूरे परिवेश का विस्तृत वर्णन करते हैं और क्रिया व्यापार को चित्रमयता-प्रदान करते हैं, उसी प्रकार ब्रेख्त के नाटकों में भी "कभी नाटकीय संवाद और कभी कथावाचक क्रिया-व्यापार की पृष्ठभूमि और पात्रों की मनःस्थिति का सूक्ष्म वर्णन करते हैं।"[164] ब्रेख्त निश्चित रूप से भारतीय रंगकार की प्रेरणा अवश्य बना। उसने भारतीय नाट्यकर्ताओं को अपनी निजी रंगपरम्पराओं के मन्थन-अवलोकन के लिए प्रेरित किया। "ब्रेख्त अपने कार्य और विचार दोनों से हमें ऐसी सच्ची भारतीय रंगदृष्टि की खोज के लिए प्रेरित करता है जिसमें अपने देश की रंगमंचीय विरासत का आज की जिन्दगी के यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए सृजनशील उपयोग करने की क्षमता है।"[165] नाटक का रचयिता सचेत होकर अपने नाटक का रंगशिल्प और रूपबन्ध चुनने लगा। भव्य और रूपबन्ध की समन्वित योजना द्वारा सम्पूर्ण नाट्य की खोज का प्रयास हुआ। नाटककार ने पहली बार अपने आपको रंगमंच का अभिन्न अंग अनुभव किया और अपने नाट्य लेखन के माध्यम से हिन्दी के निजी रंगमंच-अन्वेषण का सच्चा प्रयास किया जगदीश चन्द्र माथुर, मोहन राकेश और पं. लक्ष्मीनारायण लाल आदि नाट्यकारों ने अपने माध्यम से नये रंग प्रयोग किये जिसमें एक ओर भारतीय और पाश्चात्य रंग-परम्पराओं का अन्वेषण है तो वहीं मौलिक दृष्टि और गहरा युगबोध है। "इन सभी नाट्यकारों ने इसी मौलिक दृष्टि और युगबोध के द्वारा अलग-अलग धरातलों पर अपनी प्रयोग की दिशाओं का सन्धान किया। ये नाटक प्रयोग के धरातल पर परम्परा का अनुगमन न कर, उसके अन्वेषण द्वारा या समकालीन यथार्थ के साथ सीधे साक्षात्कार द्वारा कुछ-न-कुछ नया देने की कोशिश प्रत्येक कृति द्वारा करते हैं। इन नाट्य प्रयोगों की दिशाएँ बहुमुखी हैं और इनमें रंगमंच या नाट्य के नये रूपों की खोज के विविध प्रयास दिखते हैं।"[166] समग्र रूप में देखें तो नाट्यान्वेषण की प्रमुखतः तीन दिशाओं को रेखांकित कर सकते हैं- पुराण-मिश्रक और इतिहास का आधुनिक सन्दर्भों में उपयोग, पाश्चात्य यथार्थवादी और विषयगत रंग-परम्परा का रूप सामयिक भारतीय जीवन सन्दर्भों में सार्थक उपयोग और लोक नाट्य की रूढ़ियों, परम्पराओं और रंगदृष्टि का नये सन्दर्भों में प्रयोग।

---

[163] नटरंग :खंड 2 अंक 6 भारतीय रंगमंच का नया संदर्भ : शैली की खोज पृष्ठ संख्या 561

[164] नटरंग :खंड 2 अंक 6 भारतीय रंगमंच का नया संदर्भ : शैली की खोज पृष्ठ संख्या 562

[165] नटरंग : खंड 2 अंक 8 पृष्ठ संख्या 41

[166] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 52

तत्कालीन साहित्यकारों ने समसामयिक जीवन से वस्तु चयन न करके मिथक या इतिहास के माध्यम से समकालीन संघर्ष का सम्प्रेषण कथा और चरित्रों को व्यापक आयाम और गहनता प्रदान करने के लिए किया। इस प्रकार कथा और चरित्रों का संचरण एकाधिक स्तरों पर गतिवान् होता है और उनमें जीवन के गहनतर धरातलों के स्पर्श की क्षमता भी होती है। इसीलिए अमरीकी नाट्यालोचक एलन एम. डाऊनर का कहना है कि "हर महान नाटककार के पीछे मिथक अवश्य मौजूद रहता है।"[167] साहित्यकार इतिहास में तथ्य खोजने नहीं जाता अपितु इतिहास के सूत्रों से जुड़कर उसमें सत्य व्यापकता और शाश्वतता पाते हैं। मोहन राकेश के शब्दों में- "साहित्य इतिहास को समय से बेधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है। युग से युग को अलग नहीं करता, कई-कई युगों को एक साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास के 'आज' और 'कल' उसके लिए 'आज' और 'कल' नहीं रह जाते, समय की असीमता में कुछ ऐसे जुड़े हुए क्षण बन जाते हैं जो जीवन को दिशा संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य होते हैं। इस तरह साहित्य में इतिहास अपनी यथातथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता, घटनाओं को जोड़ने वाली ऐसी कल्पनाओं में व्यक्त होता है जो अपने ही एक नये और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है। यह निर्माण रूहिगत अर्थ में इतिहास नहीं है। उस इतिहास की खोज के लिए इतिहास की शोध-पुस्तकों की ओर जाना चाहिए।"[168] वस्तुतः इस काल के नाटककार का ध्येय चरित्रों और घटनाओं की ऐतिहासिकता उभारना नहीं है, उनकी समसामयिकता और व्यापकता उभारना है। इसी समसामयिक सार्थकता के लिए लेखक ने उनका चुनाव किया। विष्णुकान्त शास्त्री ने अपने लेख 'नया नाटक साहित्य : एक सर्वेक्षण' में कहा है "किन्तु नये नाटककारों के लिए इतिहास उपकरण मात्र है, जिसका प्रयोग वे अपने कथ्य को अधिक परिपुष्ट एवं प्रभावशाली बनाने के लिए करते हैं। उनकी मूल-निष्ठा अपने कथ्य के प्रति है, ऐतिहासिक घटनाओं या चरित्रों को बिलकुल आधुनिक प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करने में उनको हिचक नहीं होती।"[169] मिथक या इतिहास के आधार को ग्रहण करने का कारण समकालीन लेखकों का आधुनिकता बोध है। आधुनिकता सम्पूर्ण की अभिव्यंजना है। शंभु मित्रा और हबीब तनवीर और बाद में के.एम.पणिक्कर, रतन थियम जैसे निर्देशकों और गिरिश कर्नाड, विजय तेंदुलकर जैसे नाटककारों ने यथार्थवाद से अलग रास्ता निकाला। मित्रा और तनवीर ने माना कि भारतीय परंपरा से जुड़े बिना असली भारतीय रंगमंच नहीं हो सकता है। इसलिए अनुकरण की मानसिकता को त्याग कर नृत्य संगीत, और संकलन त्रय के बंधन से मुक्त नाटक लिखे जाने चाहिए। जिससे कि व्यापक दर्शकों तक पहुंचा जा सके। इसके लिए परंपराशील प्रदर्शन

[167] सं. एलन एम. डाऊनर : अमरीकन ड्रामा, पृष्ठ संख्या 04

[168] मोहन राकेश : लहरों के राजहंस, भूमिका पृष्ठ संख्या 20

[169] सं इंद्रनाथ मदान : हिंदी नाटक और रंगमंच, परख और पहचान, पृष्ठ संख्या 154-155

शैली से रंगमंच को जोड़ा जाए। यह टैगोर और भारतेंदु का दिखाया रास्ता था। यथार्थवादी मुहावरे के पक्षधरों का कहना था कि इसकी भी परंपरा सौ वर्ष की है और शहर में भी एक लोक विकसित हो चुका है इसलिए इस मुहावरे को त्यागा नहीं जा सकता है। "सत्तर के दशक में यथार्थवादी उपकरणों को अभारतीय बताते हुए 'जडों के रंगमंच' का नारा सामने आया और जड़ों से जुड़ने के लिए परंपराशील रंगमंच संस्कृत नाटक और ब्रेख्त की ओर ध्यान गया। यथार्थवादी नाटककारों ने शंका जताई कि ये शैलियां एक खास परम्परा की उपज हैं। इनके आलंकारिक इस्तेमाल से एक नकली रंगमंच विकसित होगा और यह रंगमंच को आधुनिक मुल्यों की ओर जाने से रोकेगा लेकिन परंपराशील मुहावरे ने यथार्थवादी रंगमंच को अपदस्थ कर दिया।"[170] इस प्रकार प्रसाद युगीन रंगमंच साधना सम्पन्न न होते हुए भी विकास की ओर उन्मुख था। प्रसाद जी रंगमंच के कामकाज इतने संतुष्ठ न थे। इसी कारण कहा था हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था, तभी सस्ती भावुक्ता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलन वाले थियेटर्स का उदय हो गया। फलतः अभिनयों का रंगमंच नहीं-सा हो गया।

[170] कुसुम कुमार : हिंदी नाटक चिंतन, पृष्ठ संख्या 23

2.6 साठोत्तरी हिंदी रंगमंच

पूर्व आधुनिक प्रकार का भारतीय रंगमंच उत्सव प्रधान था और सामुदायिक जीवन के उल्लास से जुड़ा था। वहीं आधुनिक रंगमंच में या एक ओर व्यावसायिक मूल्य हावी रहा तो दूसरी तरफ़ उसमें अपने समकालीन जीवन से जूड़ने की ललक भी रही। इसी ललक में रंगमंच अंग्रेजी शासन के प्रतिरोध के स्वरूप में उभरा। इप्टा का जन्म ही साम्राज्यवादी गतिविधियों के प्रतिरोध के लिए हुआ था। इसने अंग्रेजी राज्य और आजाद भारतीय राज्य दोनों की आलोचना की। नुक्कड़ नाटक के रूप में अनोखी शैली भारतीय रंगमंच में आई जिसमें रंगमंच जनता तक पहुँचती थी। "समकालीनता की अभिव्यक्ति के लिए लोकप्रिय शैली के रूप में सत्तर के दशक में इसमें गति आई, भारत के विविध क्षेत्रों में नुक्कड़ नाटक मंडलियां गठित हुई। बादल सरकार ने अपने परवर्ती सभी नाटक इसी शैली के लिये लिखे और तीसरे रंगमंच की प्रस्तावना की। सफ़दर हाशमी ने नुक्कड़ नाटक को राजनीतिक ओज दिया।"[171] मोहन राकेश के रंगमंच में वे अपने 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की भूमिका में कहते है कि "हिन्दी रंगमंच की हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे जीवन के रागरंग को प्रस्तुत करने के लिए हमारे संवेदों और स्पदंनों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है। वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा।"[172] जिस बात से प्रसाद पीड़ित थे वही बात मोहन राकेश को भी बहुत खलती थी पर वहां वे रुके नहीं आगे बढ़े नाटककार के दायित्व सबसे ऊपर है उसी के समर्थन की एक नई रंगदृष्टि तलाश की। उन्होंने रूढ़ियों को तोड़ा और रंगमंच के बारे में नए सिरे से शुरुआत की। "साहित्यिक तत्त्व अक्षुण रखते हुए रंगीय क्रिया व्यापार अपने नाटकों नए प्राण की सृष्टि की। 'आषाढ़ का एक दिन' में मेघ के बदलते रंग रंगमंच पर एक पूरी कविता रच डालते है। उसमें सच्चे अर्थों में रंगमंच के कवि दिखाई देते हैं। वह काव्य भाषा से नहीं अपितु स्थितियों से निर्मित हैं।"[173] इस तरह पूरी तरह रंगमंच का काव्य है जो शब्द पर निर्भर तो है पर उसके साथ-साथ पात्रा की स्थितियों, मनः स्थितियों मंचीय उपकरणों और प्रतीकों और बिम्बों पर भी आश्रित है। उदाहरण के लिए कालिदास और मल्लिका और विलोम की नाट्य स्थिति एक ओर प्रेम की रसासिक्ति तो दूसरी ओर संघर्ष अथवा विवशता की पीड़ा में नाट्यकीय ही नहीं प्रेक्षक के लिए समसामयिक आस्वाद देने वाली भी हैं।

---

[171] राम सागर त्रिपाठी : भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 152

[172] मोहन राकेश : लहरों के राजहंस, भूमिका पृष्ठ संख्या 22

[173] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 61

मोहन राकेश के नाटकों में दृश्यों के बहुलता नहीं है। एक अंक और दूसरे अंक के बीच काल का व्यवधान भी अधिक नहीं है। इस प्रकार राकेश जी नाट्य स्थितियों, पात्रा के द्वन्द्व और उसकी भाव भंगिमाओं और बदलती आकृतियों और संवादों को ढालने में कुशल है। "उनके नाटकों में शब्द रूप दृश्यरूप से अनुरूप है और वे सभी नाटकीय तत्त्वों का सफल प्रयोग कर दिखाते हैं। हिन्दी नाटक साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और जयशंकर प्रसाद के बाद यदि कोई नाम लीक से हटकर है तो वह है मोहन राकेश जी। हिन्दी नाटक को विशेषकर नए रंग संकेत देने का गम्भीर सम्बल मोहन राकेश के नाटकों में देखा जाता है।"[174] मोहन राकेश ने नाटक को अंधेरे बन्द कमरों से बाहर निकाला और उसे युगों के रोमानी रंग में डुबाकर एक नए दौर के साथ जोड़ने का कार्य किया। मोहन राकेश सिर्फ हिन्दी के नाटककार न रहकर पूरे भारतीय नाट्य प्रवृत्तियों के परिचायक बन गए। उन्होंने हिन्दी नाट्य-साहित्य को भारतीय स्तर की ही नहीं अपितु विश्व साहित्य के नाट्य साहित्य की धारा के साथ जोड़ती हैं। आजादी के बाद हिंदी रंगमंच का व्यापक विस्तार हुआ प्रशिक्षित रंगकर्मियों के द्वारा प्रशिक्षण शिविरों और नाट्य प्रस्तुतियों ने अनेक नाटक संस्थाओं को जन्म दिया। दिल्ली में श्रीराम सेंटर ने हिंदी रंगमंच के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। "हिंदी रंगमंच के केंद्र दिल्ली के साथ-साथ उत्तर भारत के अन्य शहरों में भी फैलने लगे एवं नई प्रतिबद्धता के आधार पर नई-नई रंगमंच टोलियों का संगठन होने लगा। अभियान, देशांतर, थिएटर यूनिट, नया थिएटर, अनामिका, जननाट्य मंच, प्रयोग, दर्पण, रुपांतर, मेघदूत, प्रतिध्वनी आदि अनेक संस्थाओं ने हिंदी रंगमंच की नींव को मजबूत किया। वस्तुतः 1960-70 का समय रंगकर्म में क्रांति लहर की तरह था। सर्वश्रेष्ठ हिंदी नाटक इसी समय में रचे गए एवं मंचित हुए। आगामी रंगकर्म की पीठिका इसी समय तैयार हुई और भारतीय भाषाओं के नाट्य अनुवाद हिंदी रंगमंच पर और हिंदी नाटक भारतीय रंगमंच पर प्रस्तुत होने लगे।"[175] अभियान और देशांतर ने एक दशक तक हिंदी रंगमंच को कई सार्थक प्रस्तुतियां प्रदान की। इसी समय में बहुत से अभिनेता निर्देशक और विशिष्ट कलात्मक प्रतिभा के कारण प्रतिष्ठित हुए उदाहरण के लिए ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी, ब. व. कारंत, मोहन महर्षि, मनोहर सिंह, रामगोपाल बजाज, सुरेखा सीकरी, जोहरा सहगल आदि ने अभिनय निर्देशन वह नाट्य लेखन के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किए। हिंदी रंगमंच के विकास में हबीब तनवीर एवं उनकी नाट्य संस्था नया थियेटर की ऐतिहासिक भूमिका है। उन्होंने अपने नाटकों की प्रस्तुति के माध्यम से हिंदी रंगमंच को लोक परंपराओं से संपर्क करते हुए उसे विश्व रंगमंच पर भी प्रतिष्ठा दिलाई। "1967 से 1977 तक का समय हिंदी नाटक और रंगमंच

[174] कमला प्रसाद, राजेंद्र अरुण : नाटक की इबारत, पृष्ठ संख्या 59

[175] कुसुम कुमार : हिंदी नाटक चिंतन, पृष्ठ संख्या 74

का अत्यंत सक्रियता और गतिविधियों से भरपूर रहा रंगकर्म की तीव्र गति प्रयोगशीलता और उत्साह ने नवीन कृतियों में नवीन संभावनाओं की तलाश की और विभिन्न देशी-विदेशी कृतियों के अनुवादों और उसके नाट्य रूपांतरण पर ध्यान केंद्रित हुआ।"[176] बंगाल, मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलगु, मलयालम के साथ साथ फ्रेंच, जर्मनी, अंग्रेजी, रूसी आदि भाषाओं की श्रेष्ठतम नाट्य कृतियों के अनुवाद तीव्र गति के साथ शुरू हुए। जिससे दूसरी भाषाओं की नाटक कृतियां और शैलियां हिंदी नाटक और रंगमंच पर आई।

मोहन राकेश ने हिन्दी नाटक को नई जमीन पर खड़ा कर दिया जो उन्होंने स्वयं ने जमीन तलाशी थी। उनके पूर्ववर्ती प्रयोगधर्मी नाट्यकारों- जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अश्क, लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती आदि जिन विश्वजनीन चेतना को अग्रसर किया था। उसका विकास क्रम मोहन राकेश में देखा जा सकता है जिन्हें हम आधुनिक भाव बोध का नाम भी दे सकते हैं। "जिनमें हम यथार्थवाद, प्रकृतिवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यक्तिवाद, एपिक थियेटर या अतियथार्थवाद या असंगतवाद आदि अनेक मत-मतान्तरों में देखा है। मोहन राकेश के नाटकों ने नाटक की क्षेत्रीय और देशीय परिसीमाओं तोड़कर विश्वभर की समान्तर प्रवृत्तियों के रूप में उभरी है। वस्तुतः यह समान जीवनानुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। मानवीय स्थितियों के बीच नाटक के ने एक ऐसा सामान्य स्वरूप ग्रहण किया। मोहन राकेश की रंग-दृष्टि हिंदी रंगमंच के विकास में मील का पत्थर साबित करती है, उन्होंने पश्चिमी रंगमंच से पृथक हिंदी के नए एवं मौलिक रंगमंच की खोज करने का प्रयास किया।"[177] जहां पश्चिम का रंगमंच दृश्य-योजना और तकनीकी पर आधारित है। उन्होंने हिंदी के लिए ऐसा रंगमंच बनाने की कोशिश की जो मानव तत्व और शब्द तत्व पर आधारित हो, ताकि कम से कम संसाधनों के साथ संश्लिष्ट से संश्लिष्ट प्रयोग किए जा सके। अपने पहले नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की भूमिका में उन्होंने हिंदी के मौलिक रंगमंच के उद्देश्य की चर्चा की है वह लिखते हैं "हिंदी रंगमंच को हिंदी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक मूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा हमारे दैनंदिन जीवन के राग रंग को प्रस्तुत करने के लिए हमारे संदेशों और स्तंभों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं दिन होगा।"[178] अपनी इसी रंग-दृष्टि को मोहन राकेश ने अपने सभी नाटकों 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' तथा 'आधे अधूरे' में प्रयुक्त किया। यह रंग-दृष्टि मंच पर इतनी अधिक सफल रही कि इसमें हिंदी

[176] कमला प्रसाद, राजेंद्र अरुण : नाटक की इबारत, पृष्ठ संख्या 96

[177] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 39

[178] मोहन राकेश : लहरों के राजहंस, भूमिका पृष्ठ संख्या 23

नाटक रंगमंच के नए मुहावरे गढ़ दिए। सिर्फ एक दृश्य के माध्यम से नाटक के सभी अंगो की प्रस्तुति, मंचीय संवादों के अतिरिक्त नेपथ्य से बहुत सी ध्वनियों का सार्थक प्रयोग, अभिनेताओं की आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से अकथनीय को भी कह देने की ताकत जैसी विशेषताओं ने मोहन राकेश की रंगमंचीय प्रयासों को यह अभूतपूर्व सफलता दिलाई।

जब हिंदी रंगमंच पश्चिमी रंग प्रयोगों और शैलियों से उठ चुका था तो हिंदी की अपनी स्वाभाविक सांस्कृतिक प्रकृति के अनुरूप रंगमंच का अन्वेषण करने के प्रयासों में 1976 से 77 के आसपास एक अलग किस्म की सक्रियता दिखाई पड़ी। "इसी समय सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' और मणि मधुकर के 'दुलारी बाई' जैसे नाटकों के देश के कोने-कोने में नौटंकी, ख्याल जैसे लोकनाट्य रूपों में और साथ ही पारसी रंगमंच एवं आधुनिक रंगमंच के प्रयोग में सैकड़ों मंचन हुए।"[179] उनका उपयोग नाटक प्रशिक्षण शिविरों के लिए भी हुआ और बड़े-बड़े समारोह के लिए भी हुआ। राष्ट्रीय फलक पर हबीब तनवीर छत्तीसगढ़ी लोकनाटय रूपों का आधुनिक संदर्भ में सृजनात्मक उपयोग अपने चरणदास चोर जैसे नाटक कर रहे थे। इसी दौरान में ब. व. कारंत ने दक्षिण की यक्षगान शैली के बहुत ही सार्थक प्रयोग अंधेर नगरी एवं हयवदन में किए। बंसी कौल, रतन थियाम ने भी नौटंकी एवं मणिपुर, असम की लोक नाट्य शैलियों का प्रयोग किया। दूसरी तरफ संगीत नाटक अकादमी ने भी अपने उत्सवों में लोक नाट्य रूपों में के प्रयोग को प्रोत्साहित करना शुरू किया।

साठोत्तर हिन्दी नाटकों की अर्जित उपलब्धियों में एक बड़ी उपलब्धि यह है कि "एक लम्बे समयान्तराल के बाद रंगमंचीय गतिविधियों के तीव्रतर होने और नाट्यधर्मिता तथा रंगधर्मिता जैसे चिन्तन के विकसित होने से इसे मंच सापेक्षता की स्थिति हासिल हुई है और नाटक को दर्शकों तक पहुँचाना रंगमंच का अनिवार्य धर्म माना गया है।"[180] स्पष्टतः दृश्य तत्त्वों के आधार पर दर्शकों के मन मंच पर नाटक को पूर्णतः अभिनीत कराना ही उसकी दृश्यात्मकता है और वही उसका रंगमंच भी। अतः रंगमंच नाट्यात्मक अनुभूति को उसी रूप में दर्शकों तक सम्प्रेषित करने का माध्यम है। इन नये नाटकों से हिन्दी रंगमंच पर इतनी उथल-पुथल हुई है कि नाटक और नाट्य समीक्षा से सम्बन्धित सारे विचारों का केन्द्र रंगमंच बन गया है और यही कारण है कि समीक्षा की दृष्टि तथा मूल्यांकन की पद्धति में भी अपेक्षित बदलाव एवं नयापन आया। आज एक नाट्य समीक्षक को नाटक की समीक्षा करते समय उसके दोनों पात्रों पर दृष्टि रखनी पड़ती है और कहा जा सकता है कि साठोत्तर नाट्य समीक्षा में इस दायित्व के प्रति अधिक सजगता दीखती है। यदि एक

[179] कुसुम कुमार : हिंदी नाटक चिंतन, पृष्ठ संख्या 93

[180] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 93

ओर वह काव्य के रूप में नाट्यलेख की समीक्षा करता है तो दूसरी ओर उसमें दृश्यत्व की सम्भावनाओं को पकड़कर उसकी रंगधर्मिता के सन्दर्भ में नाट्यालेख को रंगमंचीयता की दृष्टि से भी परखता है। "साठोत्तर नाट्य समीक्षक नाटक की प्रभावान्विति यानि नाटक की रचना-प्रक्रिया से दर्शकों तक ऐकान्तिक लयात्मकता और गत्यात्मकता के साथ प्रत्यक्ष सम्प्रेषण, नाट्यरचना का समग्र प्रभाव और अन्ततः रचनात्मक दृष्टिकोण तथा सृजनात्मक शक्ति के आधारभूत उपादानों की रंगधर्मिता के रूप में और रंगमंचीय काव्य के रूप में उसकी दृश्य एवं काव्य की समग्र चर्चा करता है जिसम रंगोपलब्धि की स्पष्ट एवं विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है।"[181] इस प्रकार नाटक की रचना से लेकर नाट्य प्रस्तुति तक के स्थूल सूक्ष्म तथा दृश्य-श्रव्य तत्त्वों का समायोजन किया जाने लगा। साठोत्तर नाट्य समीक्षा स्वयं को पूर्वागत सारे आग्रहों से मुक्त रखे हुए हैं और नाटक की पाण्डुलिपि से लेकर नाटक की प्रस्तुति तक को इसने अपनी संरचना एवं प्रकृति में समेट लिया है। इसी क्रम में अभिनय दर्शक, रंगपरिकल्पना तथा रंग दृष्टि जैसे अनिवार्य तत्त्व भी विवेचित होते गये एवं नाट्यरचना तथा नाट्य प्रस्तुति के बीच की गहराई को मापकर उसे यथासम्भव पाटने का प्रयास किया गया।

साठोत्तर नाट्य समीक्षा में रंगधर्मिता को विशिष्टता एवं रंगदृष्टि की प्रखर ने ही नाटककार का ध्यान रंगमंचीयता की ओर खींचा है, "इसलिए एक नाटककार नाट्यरचना करते समय अथवा नाटक की रचना-प्रक्रिया के दौरान उसकी रंग-परिकल्पना यानि दृश्यात्मकता को पहले महत्त्व देता है। कदाचित नाट्य समीक्षक भी सबसे पहले नाट्यरचना में रंगमंचीय प्रस्तुति से जुड़े तत्वों पक्षों एवं आधारों को और इस प्रकार नाटक की नाट्यधर्मिता तथा कहीं गहरे उसकी रंगधर्मिता को महत्त्व देते हैं।"[182] नाटक का सारा रंग-विधान उसके आलेख में रहता है यानि रंगमंच का सारा विधान नाट्यलेख में ही निहित होता है जो नाव प्रस्तुति के समय नाटककार द्वारा दिये गये रंग-निर्देशों, निर्देशित रंग-शिल्प तथा रंग-विधान के एक साथ संयोजन से मूर्त्तता प्राप्त करता है। "रंग-साधनों का सन्तुलित प्रयोग नाटक के बाह्य एवं आन्तरिक तत्त्वों का समायोजन रंगमंच के अन्तः रंगों का अन्वेषण, रंग दृष्टि की नवीनता तथा रंगधर्मिता से जुड़े अन्य सभी अनिवार्य पहलू नाटक के वस्तु-विधान में एक- एक कर इस तरह संगुम्फित रहते हैं जो प्रस्तुति के समय मूर्त स्वरूप प्राप्त करते हैं।"[183] मंचीय प्रस्तुति के समय कोई भी नाटक केवल रंग आयामों से परिपूर्ण दृश्य ही नहीं होता अपितु वहाँ नाट्यालेख भी दृश्य बन जाता है तथा आलेख में केवल काव्यत्व ही नहीं होता बल्कि उसमें दृश्यत्व की परिकल्पना भी होती है।

---

[181] कुसुम कुमार : हिंदी नाटक चिंतन, पृष्ठ संख्या 52

[182] परमानन्द श्रीवास्तव : हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया, पृष्ठ संख्या 12

[183] राम सागर त्रिपाठी : भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 39

विभिन्न रंग-निर्देशों, रंग-साधनों, रंग-सृष्टि तथा रंग-युक्तियों से सृजित नाटक का अपना आन्तरिक रंगमंच भी होता है। रंगमंच नाट्य रचना के भीतर होता है। "रंगमंच का व्यक्त रूप है नाट्य प्रस्तुति के लिए आयोजित दृश्यबन्धादि जहाँ सम्पूर्ण जीवन स्थिति को घटित होते हुए दिखाया जाता है। शिल्प- चेतना में आये बदलाव के कारण रंग-चेतना में भी बदलाव आया। अब नाटक के कथ्य को दृश्य बना सकते, उसे मूर्त अभिव्यक्ति प्रदान करने को महत्त्व दिया जाता है।"[184] इसलिए आज की रंग-संरचना को यह गौरव प्राप्त है कि यह एक ही नाटक की कई-कई भिन्न-भिन्न दृश्य व्याख्या प्रस्तुत करे। दरअसल रंगमंच, रंग-कर्म, रंग-संरचना की खोज और पहचान तो अब जाकर शुरू हुई है, जब यह महसूस किया गया कि नाटक और रंगमंच किसी वर्ग विशेष की सम्पत्ति नहीं। वह जनमानस का बिम्ब है इसलिए उसका भोक्ता जन- जन है। इस रंग दर्शन ने नाटक और रंगमंच को साधारण से साधारण आदमी से जोड़ने की पहल की, नाटक को रंग-संरचना में ढालकर जन-जन तक पहुँचाने का बीड़ा उठाया। "इसलिए आज के इन नाटकों का नायक या अन्य चरित्र सामान्य जन से लिए जाते हैं, शिल्प के धरातल पर नाटक के अभिनेता चरित्र दर्शक दीर्घा या दर्शकों के बीच में आकर अभिनय करते हैं। जैसे वे नाटक के अभिनेता न होकर सामान्य दर्शक हैं जो जरूरी हो उठने के कारण मंच पर आने के लिए विवश या प्रेरित हुए हो।"[185] सामान्य जन की कथा, सामान्य जन की व्यथा, सामान्य दर्शकों से अभिनेताओं का उठकर आना और फिर उन्हीं में वापस जाकर बैठना रंगशाला की दीवारों से नाटक को आजादी दिलाकर जन साधारण से उसे जोड़ने के लिए रास्ते, चौराहे पर ला खड़ा करना, रात और शाम की जगह दिन-दहाड़े नाटक प्रस्तुत करना ऐसी अनेक बातें हैं जो पिछले वर्षों सामने आये नये नाटकों की बदली हुई शिल्प- चेतना और रंग संरचना का एहसास कराती हैं।

रंग-रचना प्रस्तुत करने का प्रकाश एक आवश्यक अंग है। पिछले दशक के पूर्व तक के नाटकों में सामान्यतः प्रकाश का उपयोग मंचबन्ध को इस प्रकार आलोकित रखने तक सीमित था कि दर्शक क्रिया व्यापार स्पष्टतः देख लें लेकिन आठवें दशक के नाटकों ने प्रकाश के विभिन्न शिल्पगत अभियोजन की सम्भावनाएँ प्रस्तुत कीं। "पर्दा गिराने-उठाने की जगह दृश्य-परिवर्तन के लिए मंचीय क्रिया-व्यापार को अलग-अलग धरातल में बाँटने के लिए, स्मृति दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए, किसी घटना या चरित्र विशेष के अभिनय एवं मनोभावों की ओर दर्शकों का ध्यान केन्द्रित करने के लिए, मंच पर फैंटसी दृश्यों या अतिनाटकीय स्थितियों को प्रस्तुत करने के लिए

[184] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 32

[185] सिद्धनाथ कुमार: हिन्दी पद्य नाटक: सिद्धांत और इतिहास, पृष्ठ संख्या 41

प्रकाश व्यवस्था का शिल्पगत उपयोग किया गया है।"[186] इसी प्रकार ध्वनि विस्तारक यन्त्र की नयी एवं उन्नत व्यवस्था ने संवाद भाषण की परिपाटी बदल डाली है। साथ-ही-साथ विभिन्न ध्वनियों का नाटकीय क्रिया व्यापार के साथ इस प्रकार व्यंजक प्रयोग आज की रंग-संरचना के नये शिल्प में सम्भव हो गया है कि उससे सम्पूर्ण प्रदर्शन का प्रभाव निर्धारित होता है। ध्वनि एवं प्रकाश व्यवस्था यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति से सम्बद्ध है और वैज्ञानिक तकनीक से जुड़ा है तथापि इन वैज्ञानिक उपलब्धियों की जानकारी और उनके प्रयोग की सम्भावनाओं के ज्ञान ने नये नाटककार के नाट्य रचना शिल्प को इस अर्थ में प्रभावित किया है कि वे अपने शिल्प विधान में इन सब प्रयोगों के उपयोग की सम्भावनाओं के लिए स्थान और अवकाश का सायास अभियोजन कर लेते हैं। सन् "60 के बाद लिखे जाने वाले नाटकों को नवीन जीवन-दृष्टि के आधार पर रंगमंचीय उपलब्धियों के कारण हिन्दी नाटक और रंगमंच के इतिहास में गरिमापूर्ण स्थान मिला है। मोहन राकेश और डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में हिन्दी नाटक और रंगमंच की नयी दिशाएँ और सम्भावनाएँ नजर आती हैं। वस्तुतः सन् '60 से 70 के दौरान हिन्दी नाट्य लेखन नवीनता के आग्रह से नयी संवेदना और शिल्प प्रयोगों से रंगमंच को समृद्ध करने का काल है। मोहन राकेश के बाद एक नया नाम जो तेजी से उभर कर सामने आया, वह सुरेन्द्र वर्मा का है।"[187] सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में प्रसाद से मोहन राकेश तक चली आ रही ऐतिहासिकता तथा काव्यात्मक अभिव्यंजना का निर्वाह अवश्य है। किन्तु साथ ही रंगमंच के क्षेत्र में अभिनव प्रयोगों द्वारा सुरेन्द्र वर्मा नाटकों को सार्थक जीवन्तता प्रदान करते चलते हैं। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक जीवन की व्याख्या करना ही उनका उद्देश्य है।

किसी भी अच्छे रंगमंच के विकासमान रहने के लिए शिल्प उपकरणों एवं आधुनिकता आवश्यक है। यह भी सही है कि श्रेष्ठ रंगमंच की पहचान व स्थायित्व अपनी मौलिकता अपने संस्कारों विरासत एवं जीवन दर्शन से बनती है। "1980 के आस-पास से हिंदी नाटक एवं रंगमंच सारी जटिलताओं, विसंगतियों के बावजूद अधिक सार्थक प्रासंगिक जीवंत एवम मौलिक और साथ ही भारतीय मुहावरे की तलाश करने लगे।"[188] सुरेंद्र वर्मा के प्रयोगशील नाटक भारतीय रंगमंच की अवधारणा के निकट आते प्रतीत हुए अनामिका द्वारा नाट्यशास्त्र पर संवाद रतन थियाम द्वारा मणिपुरी शैली में 'अंधा युग' का प्रस्तुतीकरण सिद्ध करता है कि भारतीय रंगमंच अपने को एक और लोक शैलियों से, दूसरी ओर शास्त्रीय शैलियों से जोड़कर हिंदी रंगमंच को लगातार नवीनीकृत

[186] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि एवं शिल्प, पृष्ठ संख्या 64

[187] गोविन्द चातक: आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और सम्वादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 163

[188] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि एवं शिल्प, पृष्ठ संख्या 12

एवं प्रसांगिक बनाने हेतु संघर्षरत रहा है। छठे दशक में ही हिंदी रंगमंच को भारतीय रंगमंच में छाए पश्चिमी थिएटर के प्रभावों के विरुद्ध अपनी परंपराओं की ओर लौटने की जरूरत महसूस हुई आम जनता तक और अधिक व्यापक पहुंच सुनिश्चित करने हेतु और एक आम बोलचाल की भाषा में जनसमस्याओं को संबोधित करने की जरूरत ने नुक्कड़ नाटकों के प्रयोग को अपरिहार्य बना दिया। "ब्रेख्त और ग्रोटोवस्की के विचारों और पश्चिम के स्ट्रीट थिएटर में भी हिंदी में नुक्कड़ नाटकों के मंचन को प्रेरणा प्रदान की। देशव्यापी परिस्थितियों के बदलने से आम जनता के शोषण में वृद्धि और जन संघर्ष की जो अभिव्यक्ति साहित्य और कलाओं में उभर रही थी।"[189] उसको नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत करने में नुक्कड़ नाटकों का कोई सानी न था। परंपरागत भारतीय लोक मंचों की सादगी, उन्मुक्तता, लचीलापन, संगीतात्मकता, सामूहिकता, आर्थिक न्याय में कमी आदि ने नुक्कड़ नाटकों को और अधिक लोकप्रिय बनाया।

1975 से 1984 तक के दशक की सबसे अहम पहचान है इस दौर में भारतीय जनता के मुख्तलिफ़ स्तरों में फैली एक ऐसी जनचेतना जो लोकतंत्र की हिफ़ाज़त के लिए कमोबेश तौर पर संघर्ष करने में सक्षम साबित हुई। इस सक्रिय जनवादी चेतना का अक्स जिंदगी के हर पहलू पर पड़ा। नाट्य-जगत भी इस लहर से अछूता न रहा। "1942-44 से लगभग 1952-55 तक के प्रगतिशील नाट्य- आंदोलन के ह्रासोन्मुख होने के बाद हिंदुस्तानी शहरी नाटक का जनाधार सिकुड़ता चला गया था। छठे दशक के खात्मे तक हालत यह हो गई थी कि बंगाल को छोड़कर तक़रीबन हर प्रांत में शहरी नाटक महानगरों के साधन-संपन्न तबके के एक छोटे-से अंश तक महदूद रह गया था।"[190] मोटे तौर पर यह वह तबका था जो राजनीतिक क्षेत्र में गैर जनवादी और एकाधिकारवादी ताकतों के लक्ष्यों का हामी था। इस तबके के भोग के लिए रचित नाट्यकर्म एक तरफ उसकी आकांक्षाओं, कुंठाओं आदि को दर्शाता था, दूसरी तरफ समाज की जनवादी धारा से पैदा हुई धारणाओं और मूल्यों पर सचेतन-अचेतन रूप से प्रहार करता था और उसके धीरे-धीरे बढ़ते हुए प्रभाव से नाट्यजगत को बचाता चलता था। "सातवें दशक की शुरुआत से जनवादी आंदोलन के विकास का प्रत्यक्ष प्रभाव थियेटर पर फिर से पड़ने लगा और नाट्य-जगत के भीतर एक द्वंद्व शुरू हुआ। सबसे पहले तत्कालीन-नाट्यकर्म द्वारा निर्धारित परिमिधि के भीतर ही नाटक का कथ्य-स्वरूप बदलना शुरू हुआ।"[191] अगले चरण में इस बदलते हुए स्वरूप ने नाटक के जनाधार को व्यापक बनाने के लिए अंदर से जोर लगाना शुरू किया। 1975-77 में राजनैतिक स्तर

[189] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 93

[190] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 21

[191] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि एवं शिल्प, पृष्ठ संख्या 52

पर जनवादी चेतना के विस्फोट का स्पंदन बहुत तेजी से नाट्य-जगत में पहुँचा और हालात के साज़गार होते ही जनवादी स्वरूप का नाटक प्रेक्षागृहों की पाबंदियों को तोड़कर व्यापक दर्शक समूह की तलाश में गली-कचों में निकल आया। यहीं से आधुनिक भारतीय नाटक के इतिहास में दूसरी मर्तबा नुक्कड़ नाटक आंदोलन की शुरुआत हुई।

तब से अब तक भारत के छोटे-बड़े अनेक महानगरों, शहरों, कस्बों और आंचलिक इलाकों में नुक्कड़ नाटक नाट्यकर्म की एक छोटा-मोटा हिस्सा बन चुके हैं लेकिन इसके बावजूद यह कहना गलत होगा कि इस दौर में विकसित नुक्कड़ नाटक ने अपनी पृथक पहचान बना ली है, कि उसका एक विशिष्ट दिशा में विकास हुआ है, या कि उसने अब एक आंदोलन की शक्ल ले ली है। समकालीन नुक्कड़ नाटक के विकास का पहला कारण है जनवादी नाटक खेलने का एक माहौल, जिसकी वजह से जगह-जगह खुद-ब-खुद नाटक-मंडलियाँ उभर रही हैं लेकिन सिर्फ माहौल ही इस रंगकर्म को एक विशिष्ट दिशा, एक लक्ष्य, एक दर्शन या विचारधारा देने के लिए काफी नहीं होता। 'पृथक पहचान' मात्र किसी विधा की नहीं हुआ करती। विधा और विचारधारा या विधा और समाजदर्शन के संगम से जो कलारूप उत्पन्न होते हैं वे अपने दर्शन, अपने दृष्टिकोण, अपनी समझ के आधार पर अपनी पहचान बनाते हैं। मुख्यधारा का विचारधारा और दृष्टिकोण के आधार से समकालीन नुक्कड़-नाट्यकर्म को जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि उसने विभिन्न लक्ष्य निर्धारित करते हुए अलग-अलग रूप धारण किए हैं। वास्तव में विचारधारा और दर्शन विधा के स्वरूप को इस हद तक प्रभावित करते हैं कि उनके संपूर्ण विश्लेषण के बगैर विधा को समझा-परखा जा ही नहीं सकता। "इस आधार पर वर्तमान दौर के नुक्कड़-रंगकर्म में तीन मुख्यधाराएँ नज़र आती हैं- जनवादी धारा, छद्म क्रांतिकारी धारा (वास्तविक तौर पर अराजक दर्शन की धारा) और संशोधनवादी धारा। तीनों धाराओं ने तीन पृथक किस्म की संरचनाओं (Structures) को अपनाया है।"[192] तीनों धाराओं में से किसी एक ने अभी तक प्रधान धारा की शक्ल नहीं ली है, अभी इन तीनों में आपसी संघर्ष चल रहा है। "एक तरह से यह संघर्ष सामाजिके स्तर पर हो रहे संघर्षों से काफ़ी पिछड़ा हुआ है, क्योंकि सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर 'छद्म क्रांतिकारी' और संशोधनवादी धाराओं को जनवादी धारा लगभग पराजित कर प्रमुख धारा के रूप में विकसित हो गई है।"[193] कला और नाटक के क्षेत्र में प्रमुखता का निर्णय होना अभी बाकी है। और यह निर्णय स्वरूप या संरचना के आधार पर नहीं, बल्कि समाज-दर्शन और विचारधारा के आधार पर होगा।

[192] कुसुम कुमार : हिंदी नाटक चिंतन, पृष्ठ संख्या 21

[193] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 152

विधा की संरचना के सिद्धांतों और व्याकरण पर कोई बहस इसी परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। तीनों मुख्य धाराओं के नाटकों ने अब तक संरचना के स्तर पर कई प्रयोग किए हैं। कथारेखा, कथामाला, आकस्मिक घटना, असंबंधित घटनाक्रम, केवल वार्तालाप, केवल गायन, केवल नृत्य, मूकाभिनय आदि या इन सबके विभिन्न सम्मिश्रणों पर आधारित बहुत-से स्वरूप सामने आए हैं और सभी सफल और असफल शक्लों में खेले गए हैं। इन तमाम तत्वों की मिली-जुली संरचना का कोई जादुई नुस्खा नहीं हो सकता। किसी भी रचना को जीवंत बनाने का मात्र एक ही साधन है- रचयिता, निर्देशक और अभिनेताओं की कला कुशलता और किसी भी कलात्मक और जीवंत संरचना को अर्थपूर्ण बनाने का मात्र एक ही साधन है- उसकी प्रासंगिकता, उसकी आधारभूत विचारधारा का वैज्ञानिक सत्य। हिंदी के नुक्कड़ नाटक निश्चित तौर पर इप्टा की प्रगतिशील विचारधारा एवं वामपंथी राजनीतिक साहित्यिक विचारधारा से ग्रहण रूप से संबंध रहे हैं। नुक्कड़ नाटकों में समसामयिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक मुद्दों पर आधारित नाटकों का मंचन के लिए वरीयता दी जाती रही है। नाटक एवं जनता के बीच की दूरी को समाप्त करने में नुक्कड़ नाटक टोलियां वर्षों से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है। एक और प्रेमचंद एवं अन्य लेखकों की कहानियां नुक्कड़ मंच का मुख्य केंद्र बन गई, दूसरी और कोई प्रतिबध नाटककार भी नाट्य लेखन करते रहे। गुरुशरण सिंह, सफदर हाशमी, राधाकृष्ण सहाय, विभु कुमार आदि के अतिरिक्त कई नए नाटककार भी इस दिशा में सक्रिय हुए। दरअसल नुक्कड़ मंच सामाजिकता एवं राजनीतिक साझीदारी और दायित्व की बात उठाता है। उसका दर्शक समूह, सड़क चलते लोग, दफ्तरों कारखानों से निकले कर्मचारी, मजदूर, विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी आदि होते हैं। उसकी भाषा, उसके छोटे-छोटे दृश्य, तीव्रता, प्रखरता, प्रत्यक्ष साझेदारी, गीत- संगीत, एक्शन, व्यंग्य एवं वक्रोक्ति, प्रभावशाली संवाद आदि मौलिकता के आधार है। लोक नाटकों की तरह लचीलापन और परिवर्तनशीलता इसकी खासियत है। दिल्ली में नुक्कड़ नाटक को लोकप्रिय बनाने में सफदर हाशमी की भूमिका अविस्मरणीय मानी जाती है। भारत के लगभग सभी प्रमुख शहरों कि अपनी-अपनी नुक्कड़ टोलियां है। आज भी यह जनता एवं नाटक के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी के रुप में सतत क्रियाशील है।

2.7 इक्कीसवीं सदी का रंगमंच

समकालीन हिन्दी नाटक हिन्दीभाषी क्षेत्र के अतिरिक्त भारतीय नाटक की जीवित परम्परा में अपने आपको प्रतिष्ठित करने में सफल हो चुका है। वह हिन्दी की सर्जनात्मक धारा का एक गतिशील अंग है। एक सार्थक व महत्त्वपूर्ण मंचीय विधा के रूप में उसे प्रतिपदा मिली है। उसके पास वे साधन हैं, जिनसे उत्तम नाटकों की रचना व प्रदर्शन हो सके। "हिन्दी नाटकों में रंगचेतना का विकास है। नाटकों में दृश्य तत्त्व को प्रधानता दी गयी है। रंगशून्य या मात्र पाठ्य नाटकों की अब कोई अहमियत नहीं है।"[194] अधुनातन प्रयोगों द्वारा एक नवीन सशक्त रंगमंच की खोज की गयी। प्रतीकात्मक संकेतात्मकता तथा कल्पना के सहारे मंच को एक नयी दिशा मिली। मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल, शंकर शेष, भीष्म साहनी, सुरेन्द्र वर्मा इस नये रंगमंच की प्रेरणा एवं विकास की पृष्ठभूमि के प्रणेता तो थे ही साथ-ही-साथ नये मंच को सक्रिय करने में सहयोगी भी रहे। मोहन राकेश इस नवोन्मेष के पुरस्कर्ता थे। उनके नाटकों में उनका गहन अनुभव, सूझ-बूझ तथा सर्जनात्मकता परिलक्षित होती है। इस युग की अन्य उपलब्धि रंगमंच का नवोन्मेष है। इस समय सशक्त नाट्य लेखन तथा सशक्त रंगमंच निर्माता का कार्य एक साथ प्रारम्भ हुआ। "नाटककारों ने महसूस किया कि नाटक एक तो व्यावहारिक रंगमंच के लिए निर्मित हो तथा नाटक, रंगशिल्प व रूपबन्ध का स्वरूप निश्चित किया जाये। उन्होंने अनुभव किया कि वह 'रंगशाला' ही का एक अभिन्न अंग है, इसलिए उसने थियेटर में बैठकर नाटक लिखे। नाटककार को अपने नाटक के रंगमंच के विषय में चिन्ता हुई। वह नाट्य लेखन के माध्यम से रंगमंच अन्वेषण में लगा।"[195] इसी प्रक्रिया में रंग नाटक का जन्म हुआ। यह विभिन्न रंग शैलियों का नाटक था। इस नाटक का प्रारम्भ रंग अन्वेषण तथा रंग निर्माण की व्यावहारिक प्रक्रिया से प्रारम्भ होता है।

इस रंग नाटक की सबसे बड़ी विशेषता उसकी प्रयोगधर्मिता रही है। सही अर्थों में इसने संस्कृत की नाट्य परम्परा भारतीय लोक परम्परा तथा पाश्चात्य नाट्य परम्परा से अपना जीवन रस ग्रहण किया। नाटककार व रंगकर्मी को प्रयोगों के लिए नये-नये क्षितिज मिले। इस रंग उल्लास के पीछे एक व्यावहारिक रंगमंच की दृष्टि थी यह रंगनाटक अपने रंग अन्वेषण तथा रंग सामर्थ्य द्वारा हिन्दी एवं भारतीय रंगमंच को नयी-नयी पद्धतियाँ प्रदान कर रहा है। उसी तरह शिल्प व कला के क्षेत्र में काव्येत्तर प्रयोग नये-नये कीर्तिमान स्थापित कररहे हैं। आज हिन्दी नाट्य प्रदर्शनों को एक दिशा मिली है। कलकता, दिल्ली, मुंबई, वाराणसी आदि के अतिरिक्त रंगमंच नये शहरों तथा

[194] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 53
[195] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि एवं शिल्प, पृष्ठ संख्या 19

कस्बों में पहुँचा। आज टिकट खरीदकर नाटक देखने का एक दर्शक वर्ग खड़ा हो गया है। आज रंगकर्मियों तथा नाट्य लेखकों में काफी उत्साह है। हिन्दी रंगमंच राष्ट्रीय रंगमंच की भूमिका अदा कर रहा है। नाटककार पहली बार ड्राइंगरूम या अपने स्टडी रूम से बाहर निकलकर थियेटर में आया वह अभिनेता, रंगशिल्पी तथा दर्शक के साथ बैठकर नाटक लिखने में व्यस्त हुआ। इसके कारण कई सशक्त नाटक हिन्दी को मिले।

हिन्दी का क्षेत्र बहुत व्यापक है परन्तु यह भी हकीकत है कि बंगला व मराठी भाषा का रंगमंच काफी समृद्ध व प्रयोगशील है। हिन्दी की अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में अच्छे नाटक कम लिखे जा रहे हैं। समस्त भारतीय भाषाओं में नाट्यलेखन कम हैं और उसके प्रदर्शन और भी कम हैं। "भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी रंगमंच के उपयुक्त नाटकों की कमी कितनी अधिक है और प्राप्य नाटक कितने दुर्बल हैं...लेकिन सक्रिय पेशेवर मण्डली के लिए इस समस्या का समाधान अपेक्षाकृत सरल है। पेशेवर मण्डली आसानी से किसी प्रतिष्ठित अथवा प्रतिभावान नवोदित नाटककार को अपने साथ सम्बद्ध कर सकती है। सक्रिय रंगमंच के ऐसे घनिष्ठ और प्रत्यक्ष अनुभव से अभिनेताओं और निर्देशक के साथ निरन्तर सम्पर्क से, और नाटक लिखने की तात्कालिक आवश्यकता से प्रेरित होकर नाटककार थोड़े बहुत अभ्यास, प्रयत्न और प्रारम्भिक असफलताओं के बाद, मण्डली विशेष के उपयुक्त नाटक लिखने में सफल हो जाता है और फिर क्रमशः एक ऐसी दृष्टि उसे प्राप्त हो जाती है जिससे वह एक से अधिक रचनाएँ प्रस्तुत कर पाता है।"[196] हिन्दी रंगमंच के उपयुक्त नाटकों की कमी को दूर करने का कार्य आज का तरुण नाटककार अधिक आसानी से कर सकता है। अंग्रेजी, मराठी, बाँग्ला नाटकों के रूपान्तर, उपन्यासों के नाट्यान्तर आदि उपायों को मौलिक नाटकों की रचना की तैयारी के रूप में ग्रहण किये जाने चाहिए। "यह कार्य तरुण नाटककार के लिए एक प्रकार के व्यावहारिक प्रशिक्षण का काम देगा जिसका महत्त्व अनुभवगम्य ही है। विशेषकर सक्रिय रंगमंच के अभाव में हिन्दी के नाटककार को अथवा रंगमंच के हितकामी व्यक्तियों को तो बेझिझक इस कार्य में जुट पड़ना चाहिए।"[197] यह हिन्दी रंगमंच के लिए बहुत ही शुभ लक्षण है कि इसप्रवृत्ति के चिह्न हमें अब दृष्टिगोचर होने लगे हैं। "मेरा पक्का विश्वास है कि हिन्दी रंगमंच का भविष्य उज्ज्वल है और भारतीय भाषाओं के उन्नत रंगमंच के साथ अब उसकी तुलना की जा सकती है। कभी-कभी तो हिन्दी नाटकों का प्रस्तुतीकरण अन्य भारतीय भाषाओं के प्रस्तुतीकरण की तुलना में कहीं बेहतर होता है। यह सन्तोष की बात है फिर भी इस दिशा में प्रयास निरन्तर जारी रहना चाहिए ताकि हिन्दी रंगमंच हर तरह से समृद्ध हो

[196] नेमीचन्द्र जैन के साक्षात्कार, पृष्ठ संख्या 38

[197] कुँवर चंद्र प्रकाश सिंह : हिंदी नाटक साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, पृष्ठ संख्या 87

सके।"[198] रंगबोध एक गहन साधना है जिसमें प्रस्तोता की सूझ, कला, शैली और अभिव्यक्ति की परीक्षा होती है कि वह कहाँ तक दर्शकों को समझाने में सफल होता है। इसीलिए आज के रंगकर्मियों को दर्शक रुचि का धीरे-धीरे परिष्कार करना होगा।

हिन्दी का दर्शक आज अपेक्षाकृत बहुत कला सचेत है। हिन्दी रंगमंच ने अपनी विकास यात्रा के कई चरण पूरे कर लिये हैं किन्तु अभी इसका गन्तव्य अप्राप्य है। "आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इस रंगमंच को जन जीवन के मनोरंजन, ज्ञानवर्धन और उद्बोधन का विषय बनायें। इसके लिये हिन्दी मंच को एक त्रिकोणात्मक संघर्ष झेलना होगा। उसे एक ओर हिन्दी सिने संसार से प्रतिस्पर्धा करनी होगी, दूसरी ओर हिन्दी के परम्परित सतही नाट्य प्रदर्शनों का युगानुकुल नया संस्कार करना होगा और अन्त में हिन्दी की एक राष्ट्रीय रंग संस्था अथवा रंग आन्दोलन को संस्थापित प्रयास करना होगा। इस कलात्मक अनुष्ठान के लिए सरकारी योगदान के साथ-साथ वैयक्तिक और संस्थागत अथक प्रयास करने होंगे।"[199] निःसन्देह हिन्दी रंगमंच का भविष्य अत्यन्त उज्वल है। उसकी वर्तमान स्थिति अब सोचनीय नहीं कही जा सकती है पर भविष्य की तो अनन्त सम्भावनाएँ हैं। परन्तु इस विकास की दिशा में हिन्दी रंगसमीक्षा को भी अपने ढंग से योगदान देना होगा। भारतेन्दु के समय सारा परिवेश रंगमंचीय था। भारतेन्दु ने अपने नाटक व निबन्धों द्वारा अपने विचार खुलकर व्यक्त किये थे। नाट्य समीक्षा के क्षेत्र में मौलिक योगदान 'नटरंग' नाट्य पत्रिका तथा नेमिचन्द जी का है। नाटक की समीक्षा या तो मात्र साहित्यिक समीक्षा बनकर रह गयी है या नाट्य प्रदर्शन की मात्र रंग समीक्षा। हर नाट्य समीक्षक अपने ढंग से अपने आपको अभिव्यक्त कर रहा है। विवेचकों को चाहिए कि वे गहरे उतरें और नाटकों के काव्यविम्ब के साथ बिम्ब को भी समीक्षा करें। नाटक न तो निरा काव्य है और न ही मात्र रंगमंच। मंच की स्थूलता तथा उसके काव्यबिम्ब की सूक्ष्मता के समन्वय की खोज समीक्षक को करनी है। यह समन्वय विलक्षण नाट्यानुभूति से जुड़ा है। अपने समस्त गतिरोधों के बावजूद हिन्दी नाट्य समीक्षा एक नये मुहावरे की तलाश में आगे बढ़ रही है। समीक्षा के क्षेत्र में नेमिचन्द जैन, मोहन राकेश, गिरीश रस्तोगी, अज्ञात, गोविन्द चातक, नरनारायण राय, सुरेश अवस्थी, वीरेन्द्र नारायण, कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह, बच्चन सिंह, धर्मवीर भारती, बृजमोहन शाह, लक्ष्मीनारायण लाल, जयदेव तनेजा, विश्वनाथ शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

---

[198] नेमीचन्द्र जैन के साक्षात्कार, पृष्ठ संख्या 39

[199] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि एवं शिल्प, पृष्ठ संख्या 41

हिन्दी रंगमंच का यह भी दुर्भाग्य रहा है कि नाटकों का मंचन नियमित रूप से नहीं होता। सारा रंगकर्म कुछ लोगों तक ही सीमित है। महाराष्ट्र में नाटक लोगों के 'खून' में है। जन सहयोग के लिए उसे जनता के बीच रहना होगा। उसे अपने आपको पश्चिमीय प्रभाव से मुक्त एक सांस्कृतिक दृष्टि को भी विकसित करना होगा। "हिन्दी रंगमंच को हिन्दी भाषा की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतीक बनना होगा। हमारा रंगों व राशियों का विवेक नये रंगमंच की सज्जा को बल देगा। हमारे दैनन्दिन जीवन के रागरंग को प्रस्तुत करने के लिए, हमारे ब्याह त्यौहारों के स्पन्दनों को आकार देने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है वह पाश्चात्य शैली के रंगमंच से कहीं अधिक खुला होना चाहिए।"[200] नेमिचन्द जैन कहते हैं, "मैं मानता हूँ कि लोकनाट्य के समावेश से हिन्दी और भारतीय रंगमंच में जो विशिष्टता आयी है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है।"[201] इतने सारे रंगमण्डल बन चुके हैं जो सभी सक्रिय हैं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, भारत भवन, श्रीराम सेन्टर, हबीब तनवीर का 'नया थियेटर' दिनेश ठाकुर का अंक- ये सारे के सारे हिन्दी रंगमंच की बहुत पुख्ता जमीन तैयार कर रहे हैं। मगर दूसरी ओर धारावाहिकों, फिल्मों और मॉडलिंग ने ऐसी सम्भावनाएँ पैदा की हैं कि थियेटर से जुड़े लोग अपने शौक के साथ-साथ आजीविका के संसाधन भी जुटा सकें। "साठ-सत्तर के दशक में हिन्दी रंगमंच उत्कर्ष पर था तो कला सातवें-आठवें दशक में बौद्धिकता की कलात्मक अभिव्यक्ति थी, वह आज व्यावसायिकता के नाम पर पूँजीवादी अभिव्यक्ति हो गयी है...परम्परा लोकनाट्य शैलियों की है और जहाँ-जहाँ परम्परागत रंगमंच होता रहा है, वहाँ परम्परागत दर्शक भी हैं। दर्शकों को रंगमंच से जोड़ने के लिए देसी मानसिकता हमारी संस्कृति और समस्याओं से जुड़े नाटकों को भारतीय लोकनाट्य शैलियों में प्रस्तुत करना होगा तभी दर्शक रंगमंच से जुड़ सकता है और इन प्रयासों में निरन्तरता बनाये रखनी होगी।"[202] 21वीं सदी में कला माध्यमों की जगह इंटरनेट, उच्च तकनीक वाले गैजेट्स और सूचना क्रांति के तमाम दूसरे साधनों ने ले ली है लेकिन 20वीं सदी सिनेमा और थियेटर की सदी थी। इसी सदी में भारतीय थियेटर भी विकसित हुआ और अपनी बुलंदी पर पहुंचा। नब्बे के बाद भारतीय रंगमंच में स्त्री निर्देशकों का भी काम उभरा जिन्होंने जेंडरीकरण की प्रक्रिया को दिखाने के लिये रंगमंच पर शिल्प और वस्तु दोनों को बदला। उपलब्ध आलेखों को भी इन्होंने नितांत नई शैली, नये आख्यान में प्रस्तुत किया। "इस दौरान रंगमंच पर तकनीक का भी आगमन हुआ जिसमें डिजीटल छवियों, ध्वनियों, प्रकाश उपकरणों इत्यादि ने प्रस्तुति सरंचना को बदल दिया। भारतीय रंगमंच इस तरह से विविध रंग छवियों का कोलाज हैं जिसमें संस्कृत है तो उसके बरक्स परंपराशील भी है। भारतीय

[200] नेमीचन्द्र जैन के साक्षात्कार, पृष्ठ संख्या 45

[201] नेमीचन्द्र जैन के साक्षात्कार, पृष्ठ संख्या 38

[202] मोहन राकेश : साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, पृष्ठ संख्या 101

रस की केन्द्रीयता है तो पाश्चात्य संघर्ष है। परंपरा से नितांत भिन्न औपनिवेशिक रंगमंच है तो अपनी परंपरा से जुड़ने का प्रयास करता उत्तर औपनिवेशिक रंगमंच भी है।"[203] इसमें अभिजात का मनोरंजन है तो जनप्रतिरोध का स्वर भी है। भारतीय रंगमंच की इस विविधता ने ही विदेशी रंगकर्मियों को आकर्षित किया है।

यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि भारत में उन्नीसवीं सदी में आधुनिक नाटक की नींव पड़ी और रंगशालाओं का निर्माण प्रारंभ हुआ किन्तु आज भी इनकी संख्या बहुत कम है। "जहाँ देश के मुम्बई, दिल्ली, कोलकाता और भोपाल-जैसे बड़े शहरों में नियमित रंगशालाएँ हैं, वहीं देश के अधिकांश नगरों में इनका घोर अभाव है। जिसका नकारात्मक प्रभाव भारतीय रंगमंच पर पड़ना स्वाभाविक है।"[204] हमारे देश में प्रतिभा सम्पन्न प्रशिक्षकों, रंग-दिग्दर्शकों और कलाकारों की कमी नहीं है लेकिन ऐसा कोई बेहतर माध्यम और स्थान नहीं दिखता जहाँ वे अपनी कला को निखार सकें। यही वजह है कि "व्यावसायिक नाट्यमंडलियों की संख्या गिनी-चुनी है जो निरन्तर नाट्यप्रदर्शन से जुड़ी हैं। अव्यावसायिक और शौकिया नाट्यमंडलियों की अपनी सीमाएँ हैं। यह भी सच्चाई है कि समकालीन भारतीय रंगमंच के समक्ष कई चुनौतियाँ हैं। रंगमंच पर आज कई तरह के दबाव हैं।"[205] फिल्मों, वेब सीरिज, टेलीविजन के विविध चैनलों और इन्टरनेट ई-मेल के नये स्वरूप ने दर्शकों की रुचि को विकृत कर रखा है। दर्शक हमारे रंगमंच के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। बिना उनके कोई नाट्यप्रस्तुति संभव नहीं है लेकिन इस महत्त्वपूर्ण अंग की उपेक्षा हुई है। दर्शक वर्ग को प्रशिक्षित और संस्करित करने की कोशिश बहुत कम हुई है। "रंगकर्मियों को अपनी सस्ती लोकप्रियता के तरीके ढूंढ़ने की बजाय यह समझना जरूरी है कि भारतीय लोकजीवन की गहराई में जाकर गहरे संबंध स्थापित कैसे हों और रंगमंच सुविधा तथा साधन-सम्पन्न उच्च वर्गीय शौकीनों के कार्यकलाप और मनोरंजन की स्थिति से निकलकर व्यापक जनसमुदाय के मर्म का स्पर्श कैसे करे।"[206] समकालीन भारतीय रंगमंच के समक्ष एक गंभीर चुनौती धन की है। बिना सरकारी सहयोग के इस तरह राष्ट्रीय रंगमंच को बचाए रखना काफी कठिन है। रंगकर्मियों के ढूंढ़ने से जो प्रायोजक मिलते हैं, उनकी अपनी रुचियाँ होती हैं और एक सीमाएँ भी, जिनमें रंगकर्मियों को चाहे अनचाहे कई तरह के समझौते करने पड़ते हैं। रंगकर्म की ऐसी अर्थव्यवस्था की वजह से किसी रंगकर्मी का केवल रंगमंच पर निर्भर रहकर जी पाना असंभव नहीं तो मुश्किल अवश्य है। "आखिर कोई भी

[203] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 82

[204] सिद्धनाथ कुमार: हिन्दी पद्य नाटक: सिद्धांत और इतिहास, पृष्ठ संख्या 43

[205] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 32

[206] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 53

अभिनेता किसी नाट्यमंडली से कितने समय तक जुड़कर अपनी आजीविका चला सकता है। यही वजह है कि आज रंगकर्मियों का फिल्मों और टी.वी. चैनलों की ओर पलायन बढ़ता जा रहा है। हमारे पास समर्पित रंग-दिग्दर्शक और प्रतिभा सम्पन्न अभिनेता हैं लेकिन वे फिल्मों और धारावाहिकों में काम करने पर मजबूर हो रहे हैं। क्योंकि इस क्षेत्र में पैसा है और उन्हें पैसों की जरूरत है।"[207] इस प्रकार देखा जाए तो देश में तेजी से पैर पसार रहा है। टेलीविजन मनोरंजन-उद्योग हमारे प्रतिभा सम्पन्न युवाओं की सर्जनात्मकता की अंतिम बूंद तक निचोड़ने पर आमादा है और उन्हें चूस भी रहा है। वर्तमान समय में, भारतीय रंगमंच आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक जनसंचार माध्यम की चुनौतियों का सामना कर रहा है। यानि हमारे रंगमंच के समक्ष नयी चुनौतियाँ खड़ी हैं। इस स्थिति में रंगकर्म का महत्व और बढ़ गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में विदेशी प्रभाव में हमारे यहाँ नाटक और रंगमंच प्रारंभ हुए थे। "संस्कृत की नाट्य परम्परा से हमारा सम्पर्क टूट चुका था। हालांकि भरत नाट्यम, कुचिपुडि, कथकलि और ओडिसी आदि नृत्य शैलियों में उसके कुछ रूप मौजूद थे। केरल के कुटियाट्टयम में संस्कृत-अभिनय परम्परा का रूप शेष था लेकिन हमारे यहाँ एक-दूसरे सशक्त परम्परा पारम्परिक या लोक-नाट्यों की थी जो देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित थी। जैसे जात्रा, तमाशा, भवई, नौटंकी, रासलीला, स्वाँग आदि इनके कथानक प्रायः पौराणिक, ऐतिहासिक लोककथाओं, आख्यानों आदि पर आधारित होते थे।"[208] जब साठ-सत्तर के दशक में भारतीय रंगमंच में मौलिकता की तलाश प्रारंभ हुई तो यह भारतीय रंगकर्म को पारम्परिक संस्कृत-रंगकर्म और क्षेत्रीय या लोक-रंगकर्म की ओर ले गयी। पारम्परिक रंगकर्म हजारों वर्ष की अविच्छिन्न परम्परा रही है। इन्हीं क्षेत्रीय, लोक और पारम्परिक नाट्यरूपों ने समकालीन भारतीय रंगमंच को नयी आकृति दी। सन 1954 में हबीब तनवीर ने 'आगरा बाजार' की अपनी प्रस्तुति के साथ भारतीय रंगकर्म की परम्परा में अपनी नयी जड़ों को तलाशना शुरू की। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति की परम्परा में लोक और शास्त्र एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। इसलिए भारतीय रंगमंच को क्षेत्रीय लोक- परम्पराओं के साथ एक शास्त्रीय स्वरूप देने की जरूरत है। आज समकालीन रंगमंच इस आधार पर एक आकार ग्रहण कर रहा है। लेकिन कभी-कभी देखने को मिलता है कि 'लोक' का उपयोग मात्र एक उपकरण की तरह होता है न कि लोक परम्परा में। हमें इससे बचने की आवश्यकता है तभी समकालीन भारतीय रंगमंच सुनिश्चित यथार्थ को पा सकेगा।

---

[207] वागर्थ : संपादक - एकान्त श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी, मई 2013, पृष्ठ संख्या 41

[208] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि एवं शिल्प, पृष्ठ संख्या 29

रंगमंच एक दृश्य माध्यम है। इसलिए इसमें बगैर शब्दों के भी संप्रेषित हो पाने की क्षमता है। मंच पर कई बार खामोशी भी बहुत अर्थपूर्ण होती है। कलाकार बिना संवाद के अपने भावों से बनी बहुत कुछ प्रकट कर देता हैं जो संवादों से ज्यादा गंभीर होता है। 'शब्द' की प्रदर्शनीयता कर्मकांडों के दौरान किए जाने वाले वेद पाठ, लोकगीतों और पारम्परिक नृत्यों के उच्चरित ध्वनियों में देखी जा सकती है। "रंगकर्म में शब्दों का उपयोग इस बात पर निर्भर है कि हम किस तरह का रंगकर्म करना चाहते हैं। नाटक का रंगकर्म हमारे सामाजिक जीवन का अनिवार्य अंग है। रंगकर्म एक जीवन्त कला है और वैचारिक सहिष्णुता इसकी पहली शर्त है लेकिन इसको लेकर हमारे भारतीय समाज में एक तरह की उदासीनता है।"[209] इसको विकसित करने के लिए, इसे समृद्ध करने के लिए, इसे जन-जन तक ले जाने के लिए समाज के भीतर एक गहरी माँग होनी चाहिए, एक आन्दोलन होना चाहिए। तभी समकालीन भारतीय रंगमंच इस नयी सहस्राब्दी में एक सार्थक रूपाकार बन सकेगा।

इक्कीसवीं सदी के रंगमंच के समक्ष आज कई दबाव भी हैं। जहाँ मुंबईया फिल्मों और टेलीविजन के विविध चैनलों के आने वाले कार्यक्रमों ने दर्शकों की रुचि में तब्दीली लाई है, वहीं पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने दर्शकों, खासकर युवा वर्ग को प्रभावित किया है। "हमारे सांस्कृतिक परिवेश में गिरावट या बदलाव का यह एक अप्रत्याशित और चिन्ताजनक संकेतक है कि पिछले दशकों में देश के महानगरों में अंग्रेजी नाट्य मंचन की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में भारतीय रंगकर्म की कुछ ऐसी छवि दर्शकों के मानस में बनी है कि वह यांत्रिक और कुछ निश्चित विचारों पर सूत्रबद्ध है, वहाँ सब कुछ पहले से निर्धारित है और वह अभिजात्य से बंधा है।"[210] इस अंग्रेजी रंगमंच के सामने भाषाई और प्रादेशिक सीमा भी नहीं दिखती है और अंग्रेजी नाटकमंडली का स्वरूप तेजी से उभरता दिख रहा है। कुल मिलाकर आज के इस नये अंग्रेजी रंगकर्म को पैर जमाने और आगे बढ़ने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ और सुविधाएँ भी मौजूद हैं जो समकालीन हिन्दी रंगमंच के लिए एक चुनौती है। सच बात यह है कि आज का अंग्रेजी रंगमंच देश के जीवन में स्तर पर अंग्रेजी के आक्रामक उभार का सूचक है। हमारे देश का नया धनी अधिकार सम्पन्न अभिजात वर्ग बड़े पैमाने पर आर्थिक उदारीकरण के सूत्र से संस्कृति के भूमंडलीय या पश्चिमीकरण को अपना रहा है। उसी के माध्यम से वह आर्थिक और राजनैतिक ही नहीं, सामाजिक एवं सांस्कृतिक बौद्धिक तथा सर्जनात्मक स्तर पर भी वर्चस्व और प्रभुत्व स्थापित करने और फैलाने के लिए प्रयासरत है। इसके चलते भारतीय रंग-परम्परा को क्षति पहुँच रही है।

---

[209] कुँवर चंद्र प्रकाश सिंह : हिंदी नाटक साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, पृष्ठ संख्या 49

[210] कमलिनी मेहता : हिंदी नाटक और यथार्थवाद, पृष्ठ संख्या 13

नाटककार और निर्देशक के संबंधों को लेकर भारतीय रंगमंच-पटल पर अक्सर बहस होती रही है। एक जमाने में कहा जाता था कि रंगमंच के अनुरूप ही नाटक क्यों होने चाहिए, नाटक के अनुरूप रंगमंच का स्वरूप क्यों नहीं हो। लेकिन वर्तमान रंग-जगत में यह बात स्वीकार कर ली गयी है कि नाटककार को मंच की जरूरत को देखते हुए लिखना चाहिए और उसे मंच-शिल्प का ज्ञान होना चाहिए। नाटक और रंगमंच परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। "किसी भी नाटक को सिर्फ एक साहित्यिक रचना के रूप में नहीं देखा जा सकता। अब तक जितने भी सफल नाटककार हुए हैं वे रंगमंच की प्रक्रिया से घनिष्ठ रूप से जुड़े रहे हैं। वैसे भी रंगकर्म एक सामूहिक कर्म है जिसमें निर्देशक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसमें नाटककार, निर्देशक और अभिनेता के मध्य पारस्परिक समझ आवश्यक है। इसलिए जब तक असहमति में सहमति बनने की संभावना न हो, नाटक का मंचन संभव नहीं होगा। हालाँकि नाटक एक भाषागत विधा है। शब्द है तो लेखक का रहना भी अनिवार्य है नाट्यमंचन के अनुभव से यह बात उभर कर आयी है कि जहाँ नाटककार और निर्देशक में सहमति रही और नाटककार ने मंच की जरूरतों को ध्यान में रखकर अपनी रचना-धर्मिता में परिवर्तन किया और वहाँ नाट्यप्रस्तुति काफी प्रभावी रही।"[211] एक लम्बे अर्से से भारतीय भाषाओं में अच्छे नाटकों के अभाव की बात बराबर कही जाती रही है। इतना ही नहीं हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में मौलिक नाट्य-लेखन की कमी की निरन्तर चर्चा की जाती रही है। दरअसल नाट्य-मंडलियों और उपलब्ध नाटकों या नाटककारों में उचित संतुलन का अभाव अक्सर देखने को मिलता है। ऐसी स्थिति में रूपांतर, अनुवाद का जो भी मिले और उसके मंचन की संभावना हो तो उसकी प्रस्तुति का प्रयास होता है। कोई भी नाटक तो मंचन के लिए ही लिखा जाता है। मंचित होने के पश्चात उसे उसी तरह पूर्णता मिलती है। नाटककार भी इस सत्य को जानता है कि "मात्र लिख देने से उसकी प्रक्रिया पूरी नहीं हो गयी क्योंकि उसका नाट्य-लेखन का उद्देश्य ही प्रस्तुति के लिए है, वह कई चीजें छोड़ भी देता है लेकिन साहित्य की दूसरी विधाएँ मंचन के लिए नहीं लिखी जातीं। वहाँ पर वह बात शब्दों के जरिये ही कहनी होती है।"[212] नाट्य प्रस्तुति का भी अपना व्याकरण होता है जिसे रंगमंचीय सूत्र कह सकते हैं लेकिन नाटक से अलग साहित्य के मंचन का कोई व्याकरण नहीं होता सच्चाई यह है कि कोई भी नाट्य प्रस्तुति तभी अर्धपूर्ण बनती है जब वह एक नये भाव-बोध का सृजन करती है।

भारतीय रंगमंच में आज कहानी के रंगमंच की भी बड़ी चर्चा है। रंगमंच के क्षेत्र में कहानी-मंचन अब जोर पकड़ने लगा है। प्रख्यात निर्देशक एवं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के पूर्व निदेशक

[211] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 21

[212] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 82

देवेन्द्र राज अंकुर का इस क्षेत्र में विशेष योगदान है क्योंकि उन्होंने ही कहानी-रंगमंच को एक विशेष पहचान देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। यहाँ तक कि मोहन राकेश के लिखे पत्रों की प्रस्तुति भी अत्यन्त रोचक ढंग से सफल रही। कहानी-रंगमंच का 'ट्रेण्ड' अब महानगरों से नगर-कस्बों तक में आ चुका है। "वर्तमान समय में पूँजीवादी बाजार और पाश्चात्य संस्कृति भारतीय रंगमंच के लिए अहितकर साबित हो रही है। आज के रंगमंच के विश्व परिदृश्य में हम कहीं नहीं दृष्टिगोचर होते हैं। जिसके चलते भी भारतीय समाज में रंगकर्म के लिए जगह धीरे-धीरे कम होती जा रही है जबकि रंगमंच किसी भी राष्ट्र या समाज के लिए विचार और स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण अंग होता है।"[213] रंगमंच का महत्वपूर्ण दायित्व है कि वह सत्ता को प्रश्नों के घेरे में खड़ा करे। सच तो यह है कि सत्ता में मन में रंगमंच के लिए प्यार नहीं झलकता है, वह उससे भय खाती है। रंगमंच के लिए रूढ़िवाद का विरोध अनिवार्य है। किसी भी लोकतांत्रिक राष्ट्र में रंगमंच के लिए लोकतंत्र जरूरी है और लोकतंत्र के लिए रंगमंच। रंगमंच वह शक्ति है जो स्वयं से भी प्रश्न करता है और समाज में कई तरह की भूमिकाएँ अदा करता है। यानी सच्चा रंगकर्म ही लोगों को आगे बढ़कर, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्र की बुराइयों तथा विकट परिस्थितियों से प्रतिकार के लिए प्रेरित करता है। "भारतीय रंगमंच का पश्चिमी रंगसृष्टि और व्यवहार से प्रभावित चरण अब अंतिम दौर में है। हम तमाम चुनौतियों के बीच एक बार फिर अपनी विरासत को नया रंग-रूप देने में सक्षम होंगे। आज समकालीन रंगमंच में दलित और महिला-विमर्श भी उभर कर सामने आ रहे हैं। दलित प्रस्तुतियों के माध्यम से दबे-कुचले लोगों के प्रति मानवीयता की माँग, उनके इतिहास, उनकी सामाजिक चेतना की पुनः स्थापना की माँग उजागर भी होने लगी है।"[214] रंगमंच का यह स्वरूप जहाँ झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले लोगों के जीवन का चित्रण करता है। वहीं समाज तथा राष्ट्र में फैलते फासीवादी तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्ति से ग्रसित शक्तियों को भी रेखांकित कर रहा है। यह एक नया रुझान है जिसके दूरगामी परिणाम हो सकते हैं और पारम्परिक ग्रामीण और शहरी रंगमंच के बीच एक नयी अंतक्रिया शुरू हो सकती है। समकालीन रंगमंच के दोनों क्षेत्रों के समृद्ध और उर्वरा होने की संभावना प्रबल दिखती है।

आज जब हर चीज का बाजारीकरण हो चुका है, जैसे साहित्य की हर विधाओं में पर हिन्दी रंगमंच का बाजारीकरण नहीं हो पाया है। किसी विधा का विकास होने के लिए उसका बाजारीकरण होना आवश्यक है। दुर्भाग्यपूर्ण है कि हिन्दी में ही कॉलम, फीचर, लेख, समीक्षा इत्यादि कोई लेखक लिखता है तो कमोबेश उसे पारिश्रमिक अवश्य मिलता है लेकिन नाटक

[213] कमला प्रसाद, राजेंद्र अरुण : नाटक की इबारत, पृष्ठ संख्या 71

[214] कमलिनी मेहता : हिंदी नाटक और यथार्थवाद, पृष्ठ संख्या 93

लिखने और करने वालों का कुछ भी नहीं मिलता। इसीलिए भी हिन्दी नाट्यलेखन की कमी है। "मराठी तथा पंजाबी रंगमंच दोनों ही हिन्दी रंगमंच की तुलना में इतनी विषम परिस्थितियों के बावजूद श्रेष्ठ हैं। गुणात्मकता इनमें अधिक है। कुल मिलाकर हिन्दी रंगमंच जीवित है तो सिर्फ इसलिए कि यहाँ अभी प्रतिबद्ध रंगकर्मी जीवित हैं।"[215] वे अभी भी नयी ऊर्जा और उत्साह के साथ रंगमंच को एक आन्दोलन के रूप में है एक सबसे बड़ी सच्चाई तो यह है कि हम दर्शकों में नाटकों के प्रति जागरूकता पैदा नहीं कर पाये हैं जबकि दर्शकों में एक छटपटाहट है, वह ढूंढ़ रहा अच्छा रंगमंच क्योंकि रंगमंच जीवन के काफी करीब होता है।

हिन्दी रंगमंच में दर्शकों के अलावे जिस चीज का सबसे बड़ा संकट है, वह हैं अच्छे नाट्य-आलेख का। इसके बाद हिन्दी रंगमंच के लिए अर्थ-संकट भी एक ज्वलंत समस्या है। खैर, अर्थ-संकट को गौण करें तो हिन्दी रंगमंच के लिए जो नाटक लिखे जा रहे हैं, उनकी दृष्टि भी अस्पष्ट है। "वर्तमान हिन्दी नाटकों की भाषायी एवं अध्यात्मक रचनात्मकता इतनी दुरूह है कि चाह कर भी रंग-दिग्दर्शक लेखकीय संवेदना नहीं पहचान पाता है, इससे नाट्यप्रस्तुति प्रभावित होना लाजिमी है। हिन्दी नाटकों में दर्शकों की उत्साह हीनता का एक कारण यह भी है कि उपन्यासों और कहानियों के जो नाट्य रूपान्तरण किये जा रहे हैं, यह रूपान्तरण वैसे लोग कर रहे हैं, जिनका रंगकर्म से कोई रिश्ता नहीं है। अगर कोई रंगकर्मी नाट्य- रूपान्तरण करता है तो उसमें कथ्य की अपेक्षा कलापक्ष अधिक मजबूत हो जाता है। यानि कथ्य पर कलापक्ष हावी हो जाता है।"[216] जिससे नाट्यप्रस्तुति असंतुलित हो जाती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रंगमंच को जीवित होने का मतलब एक परंपरा को जीवित रखना है और इसके लिए हिन्दी रंगमंच में लेखन, मंचन और दर्शक को एक सूत्र में पिरोना होगा तभी हिन्दी रंगमंच विकास कर सकता है। आज हम अगर यह विश्लेषण करें कि लेखन के दृष्टिकोण से हिन्दी रंगमंच सिर्फ अनूदित नाटकों के भरोसे चल रहा है, किन्तु यह हिन्दी रंगमंच के लिए दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी के नाटककार और रंगकर्मी ये सच मानने से इंकार करते हैं उनके अनुसार, हिन्दी में अधिक मात्रा में नाटक हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि हिन्दी का नाटककार नाटक तो लिख देता है लेकिन वह नाटक अधिकतर मंचनयोग्य नहीं होता। वैसे तो हिन्दी के नाटकों के लेखकों की लम्बी-चौड़ी सूची है लेकिन उनमें से अधिकांश एक-दो नाटक लिखकर अपना मुँह मोड़ चुके हैं। वहीं कुछ हिन्दी नाटकों का कमजोर पक्ष है संवाद, दृश्य-संयोजन तथा सशक्तता का अभाव है। इसके लिए मात्र लेखकों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। बहुत बड़ी जिम्मेदारी प्रत्यक्ष रूप से रंगकर्मी और नाट्य-संस्थाओं की भी होती है क्योंकि

[215] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 39

[216] कुँवर चंद्र प्रकाश सिंह : हिंदी नाटक साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, पृष्ठ संख्या 62

जरूरत पड़ने पर लेखक और रंगकर्मी आपस में बैठकर एक-दूसरे की समस्याओं को सुन और सुलझाकर हिन्दी रंगमंच के विकास में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इस विचार-विमर्श से जो रंगमंचीय कृतियाँ सामने आयेंगी वे अवश्य ही परिणामपरक होंगी और इसी से हिन्दी रंगमंच के प्रति दर्शकों का खिंचाव भी होगा।

निष्कर्षतः आधुनिक हिंदी रंगमंच को हम डेढ़ सौ वर्ष पुराना कह सकते हैं और अभी तह कोई निश्चित परंपरा बन ही नहीं पाई है लेकिन परंपराओं के नाम पर कई सारी धाराएँ हैं, जिनसे प्रेरणा ग्रहण कर उन्हें आत्मसात करते हुए अनेक विरोधाभासी प्रवृत्तियों में समन्वय करने का प्रयत्न होता रहा है इन सबके साथ ही हिंदी रंगमंच की परंपरा बनने की प्रक्रिया में है। "पहली धारा संस्कृत नाटकों की सुदीर्घ और पुष्ट परंपरा है जो नवीं दसवीं शताब्दी तक मिलती है ऐसा प्रतीत होता है कि भरत का नाट्य शास्त्र एक लंबी अलिखित परंपरा का मानकीकरण एवं शास्त्रीकरण हैं अतिशास्त्रीयता शायद इसे नाटकों से दूर ले गई और भरत नाट्यम हमें आज नृत्य शैली के रूप में रंगमंच का हिस्सा बना मिलता है, जिससे संवाद गायब हो गए गायन बोल भावाभिनय और नृत्य का समावेश हो गया।"[217] नाट्यशास्त्र से लेकर 21वीं सदी तक के पूरे भारतीय, यूनानी, रूसी या पाश्चात्य रंगमंच सब में अभिनेता ही केंद्र में रहा है। नया ट्रेंड है, जिसमें निर्देशक एक डिजाइनर बन गया है। इस तरह के रंगकर्म में अभिनेता को सिर्फ एक उपकरण की तरह इस्तेमाल किया जाता है और यहां पर आकर अभिनेता होने के मूल्य में गिरावट आई है। रंगमंच के लिए जिस तरह अन्य तत्वों का इस्तेमाल होता है, अभिनेता की भी ठीक उतनी ही हैसियत रह गई है। "थिएटर में या चारित्रिक विकास में एक अभिनेता के लिए जो एक परिकल्पना थी उसे आज के निर्देशक ने गायब कर दिया है।"[218] पारंपरिक या यथार्थवादी धारा का जो रंगमंच है उसमें आज भी अभिनेता ही केंद में है, पर यह जो उत्तर आधुनिक रंगमंच के तौर पर एक इंस्टालेशन या डिजाइनर थिएटर सामने आया है, उसने अभिनेता को गौण कर दिया है, उसकी भूमिका बहुत सीमित कर दी है। उसकी जगह दूसरे ऑडियो-विजुअल और दृश्यात्मक तत्व प्रमुख हो गए हैं। वहां चूंकि कथानक टुकड़ों में बंटा हुआ होता है इसलिए अभिनेता के स्वाभाविक विकास की कोई संभावना ही नहीं बचती। "हिंदी रंगमंच की जो सबसे बड़ी सीमा बन गई है वह यह कि एक व्यावसायिक रंगमंच की तरह इसका विकास नहीं हो पाया। व्यावसायिक से मतलब सिर्फ पैसे कमाना नहीं है, बल्कि एक कलात्मक मूल्य अर्जित करना भी है। रंगमंच आज भी समाज की जरूरत नहीं बन सका है।"[219] जब

[217] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 69

[218] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 51

[219] गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, पृष्ठ संख्या 145

तक वह समाज की जरूरत नहीं बनता, उसमें स्थायित्व नहीं आ सकता। सिनेमा ने वह स्थान प्राप्त कर लिया है और वह समाज का हिस्सा बन गया है। हिंदी रंगमंच में जितने प्रयोग हो रहे हैं, जितनी विविधता यहां दिखाई पड़ती है वह अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध नहीं है। अपनी इस प्रयोगधर्मिता का उसे यह खमियाजा भुगतना पड़ा है कि आज उसका दर्शक-वर्ग छोटा-सा ही रह गया है। इक्कीसवीं सदी जहाँ तकनीक के लिए वरदान हैं वहीं रंगमंच के लिए नई चुनौतियाँ लेकर आई है।

अध्याय - 3

हिंदी कहानी का नाट्य रूपान्तरण

वर्तमान समय में नाट्य रूपांतरण को एक सशक्त विधा के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। बीते कुछ दशकों में कविता, कहानी और उपन्यास का नाटक में तथा नाटक का फिल्म में खूब रूपांतरण हो रहा है। विदेशों में तो रंगमंच सिनेमा के साथ-साथ चलता है बल्कि यहाँ तक कहना तर्कसंगत होगा कि दोनों ही विधाएं एक दूसरे के अनुकूल हैं लेकिन भारतीय परिवेश में सिनेमा और रंगमंच का रूप बिलकुल अलग है। "जब कहानियां मंच पर उतरती हैं तो उनका स्वरुप भी पहले की अपेक्षा कुछ विलग होता है। यह तथ्य सर्वमान्य है कि पढ़ने के बजाए देखी गई चीजें हमें ज्यादा याद रहती हैं शायद इसीलिए कहानी की तुलना में नाटक अधिक प्रभावशाली माध्यम माना जाता है। नाटक की लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अब तक हिंदी की अनगिनत कहानियों और न जाने कितने ही उपन्यासों का छोटी और गैर-सरकारी संस्थाओं ने अपने स्तर पर नाट्य रूपांतर कर उनका मंचन किया है।"[220] कुछ महत्वपूर्ण और चर्चित रचनाओं में गोदान, पंचलैट, तीसरी कसम, सद्गति, तीन एकांत, राग-दरबारी, महाभोज, दुनिया का सबसे अनमोल रतन, सुहाग के नूपुर, चीफ की दावत, उसने कहा था, कफन, दोपहर का भोजन, रंगभूमि, बाणभट्ट की आत्मकथा, निर्मला, सेवा सदन, पंच परमेश्वर आदि का नाम लिया जा सकता है। इन कहानियों में संवाद को अलग तरह से पेश किया जाता है। इन कहानियों को मंच पर देखना इनको फिर से जीने के बराबर है। इन कहानियों को अलग कलेवर में चढ़ा कर मंच पर उतारा जाता है। जब ये कहानियां मंच पर जाती है तब इनमें संवाद की विविधता, प्रकाश विन्यास, रूप सज्जा, संगीत और एक साथ कई सौ दर्शकों को कहानी का रसास्वादन मिलता है। वैसे तो साहित्य जगत में सैकड़ों कहानियों का नाट्य रूपांतरण और उनका सफल मंचन हुआ है लेकिन कुछ ऐसे रचनाकार जिनका पादुर्भाव समय को लांघ कर अभी तक प्रासंगिक है उनकी कहानियां आज भी समय से संवाद करती हुई नज़र आती हैं। प्रेमचंद की पंच परमेश्वर, भीष्म साहनी की चीफ की दावत, फणीश्वर नाथ रेणु की तीसरी कसम उर्फ़ मारे गए गुलफाम और निर्मल वर्मा की तीन एकांत कहानियां का विश्लेषण-अध्ययन इस अध्याय के केंद्र में हैं। इस अध्याय में उन रचनाओं के विषय में शोध किया गया है, जो प्रासंगिक तो है ही साथ ही उनका तत्कालीन समय में भी चर्चा का केंद्र रहे हैं।

[220] कमला प्रसाद, राजेंद्र अरुण : नाटक की इबारत, पृष्ठ संख्या 45

इस आधार पर प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों को देखा जा सकता है। उनके उपन्यासों की विषय-वस्तु गंभीर होती है और उसका उचित निर्वाह करते हुए रचना की शैली में भी यह गंभीरता आ जाती है। कहानियों में यह बाधा नहीं आती है। अतः प्रेमचन्द कहानी कहते हुए जितने सहज और मुक्त होते हैं, उतने उपन्यास लिखते हुए नहीं उपन्यास के विस्तृत फलक के बीच-बीच में वह ऐसे अवसर खोजते रहते हैं। शायद यही कारण है कि उनके उपन्यासों की विषय-वस्तु का मुख्य हिस्सा आर्थिक और राजनीतिक जीवन से संबंधित है। "कहानी में उन्होंने सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को प्रमुखता दी है। असल में प्रेमचन्द उपन्यासों में एक से अधिक कहानी कहते चलते हैं। उसमें अनेक पात्रों का जीवन चलता रहता है। उसमें भी वह उनके आर्थिक और राजनीतिक जीवन को प्रमुखता देते हैं। फिर भी ऐसे अनेक प्रसंग बचे रह जाते हैं, जिन पर वह उपन्यास में कुछ लिख नहीं पाते। कहानी उन्हें ऐसा अवसर देती है। इसीलिए 'मोटेराम शास्त्री' जैसे चरित्र कहानियों में आ पाते हैं या नारियों के आभूषण- प्रेम को लेकर अनेक कहानियों की रचना कर डाली गयी, हालांकि इस समस्या को उन्होंने गबन में भी उठाया था।"[221] चूंकि कहानी कहते हुए रचनाकार मुक्त हो जाता है अतः प्रेमचन्द मजे से लेकर कहानी सुनाते चलते हैं। उनकी कहानियों में रचनाकार रोनी सूरत बनाए हुए दार्शनिक रंग धारण नहीं करता, बल्कि हँसता-हँसाता चलता है। यहाँ तक कि दुःख और अभाव का वर्णन भी वह मजे ले लेकर करते हैं। गंभीर से गंभीर विषय और पात्र को भी प्रेमचन्द कहानी में जरा से हल्केपन से लाते हैं। इस संदर्भ में एक तथ्य महत्वपूर्ण है। उन्होंने अधिकतर मध्ययुगीन इतिहास को ही कहानी का आधार बनाया है। अब तक प्राचीन काल को ही साहित्य का विषय बनाने की परिपाटी चली आ रही थी। प्रेमचन्द ने लगभग 300 कहानियां लिखी हैं, उनमें विषय और रूप की दृष्टि से पर्याप्त विविधता है।

प्रेमचन्द की कहानियों की शुरुआत सहज और प्रभावशाली तरीके से होती है । कव्य का प्रभाव पहले वाक्य से पड़ना शुरू हो जाता है। "लोक कथाओं की तरह कहानी की शुरुआत तो उनके यहाँ है ही। कई बार जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण से भी कहानी शुरू हो सकती है। ऐसा निरीक्षण मूल कथ्य के बाह्य संदर्भों से सम्बन्ध को प्रकट करता है। जिससे कहानी की स्वाभाविकता के साथ व्यंग्य के छींटे भी पड़ते रहते हैं। प्रेमचन्द की कहानियों के विषय और शैली पर्याप्त विविधता लिए हुए हैं।"[222] प्रेमचन्द निरुद्देश्य कहानीकार नहीं हैं। वह 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के विरोधी हैं। यह कला को उपयोगी मानते हैं। उनके साहित्य में राष्ट्रीय जागरण की अभिव्यक्ति हुई है। कहानी को भी वह सामाजिक परिवर्तन में सहायक मानते हैं। उद्देश्यों से पूर्ण होते हुए भी उनमें नैतिक शिक्षा

[221] डॉ. रामबक्ष : प्रेमचंद, पृष्ठ संख्या 44

[222] डॉ. रामबक्ष : प्रेमचंद, पृष्ठ संख्या 44

का प्राधान्य नहीं है किस्सागो और शिक्षक का व्यक्तित्व मिलकर कहानीकार प्रेमचन्द बनता है। इसका कारण यह है कि उनकी कहानियाँ अमूर्त विचार को मूर्त करने के लिए उदाहरण के रूप में नहीं लिखी गयी हैं बल्कि जीवन के ज्ञान और अनुभव की जिन्दा जमीन से निर्मित होती हैं। जिन कहानियों में स्पष्ट उद्देश्य हैं, उनमें भी जीवन का प्रवाह है।

3.1 प्रेमचंद और कहानियां का मंचन

हिन्दी साहित्य जगत की कल्पना प्रेमचंद के कथा साहित्य के बिना करना लगभग असंभव है। प्रेमचंद के अमूल्य योगदान से आज कहानी विधा विषय, कथ्य स्वरूप, आदर्श व शिल्प की दृष्टि से नये-नये आयामों को आत्मसात करती हुई विकास की मंजिल तक पहुँचने में सक्षम हो चुकी है। इनकी सार्थक कहानी कला के विषय में एक आलोचक का कथन है, "ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, चरित्र व व्यक्तिगत स्तरों तक फैले प्रेमचंद की भावपक्ष की विविधता व गहनता इसकी कलात्मकता व साहित्यिक महत्ता की द्योतक है। विषय की व्यापकता, चरित्र चित्रण की सूक्ष्मता, सशक्त संवाद, सजीव वातावरण, भाषा की गंभीरता, प्रवाहमयी शैली व लोक संग्रह भावना की दृष्टि से प्रेमचंद की कहानियां अद्वितीय हैं। पंच परमेश्वर, आत्माराम, बड़े घर की बेटी, शतरंज के खिलाड़ी, नशा, ठाकुर का कुआँ, पूस की रात व कफ़न विश्व की श्रेष्ठ कहानियों की पंक्ति में खड़े होने के योग्य हैं।"[223] इन कहानियों ने समय से संवाद किया है और आज के दौर में भी ये कहानियाँ सत्य के दर्शन कराती हैं। उनकी कहानियों में तब के यथार्थ और आज के यथार्थ में बहुत समानता है। "आज भी इन कहानियों के मंचन के समय थियेटर में जगह कम पड़ जाती है।"[224] तत्कालीन उच्च कोटि की साहित्यिक कथाओं, शैली की विशिष्टता कौतूहल, नाटकीयता, चरित्र व भावों के कुशल अंकन के बावजूद साहित्यिकता की दृष्टि से घटना वैचित्र्य, यथार्थवाद व मनुष्यता का अभाव का अंकन प्रेमचंद ने अपने 'कहानी कला' लेख में सशक्त ढंग से किया। वे लिखते हैं कि – "वे विद्वानों व आचार्यों ने कला के विकास के लिए जो मर्यादाएं बना दी, उससे कला का रूप निखरा है, प्रकृति में जो कला है, वह प्रकृति की है, मानव की नहीं। मनुष्य को वही कला मोहित करती है जिस पर मनुष्य की आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भांति मानव हृदय के सांचे में पड़कर परिष्कृत हो जाए।"[225] प्रेमचन्द की प्रत्येक कहानी मानव मन के अनेक दृश्यों, चेतना के अनेक छोरों, सामाजिक कुरीतियों तथा आर्थिक उत्पीड़न के विविध आयामों को सम्पूर्ण कलात्मकता के साथ अनावृत करती है।

हिंदी साहित्य में प्रेमचंद एक नाटककार के रूप में नहीं जाने जाते लेकिन उनकी कहानियों में नाटकीय तत्व मौजूद हैं। इसका प्रमाण है नाटक-मंडली अगर किसी साहित्यकार की कहानी मंचन के लिए चुनते हैं तो प्रेमचंद की कहानियां उनकी प्राथमिकता में होती है। "प्रेमचंद की कहानियों में पटकथा की भी क्षमता है। स्क्रीन प्ले के लिहाज से उन्होंने बड़ी महत्वपूर्ण कहानियां

[223] प्रेमचंद : विचारकोश, पृष्ठ संख्या 14

[224] नटरंग : संपादक - अशोक वाजपेयी और रश्मि वायपेयी, खंड 22, अंक 89-90, जुलाई दिसम्बर 2011, पृष्ठ संख्या 12

[225] प्रेमचंद : विचारकोश पृष्ठ संख्या 35

लिखी है जैसे 'सद्गति गोदान और शतरंज के खिलाड़ी'। शतरंज के खिलाड़ी पर सत्यजीत रे ने तथा ऋषिकेश मुखर्जी ने 'गबन' पर फिल्म बनाई। जो स्क्रीन पर बहुत सफल रही। उनकी कहानियों में नाटकीयता मौजूद रहती है चाहे पंच परमेश्वर, बूढ़ी काकी, ठाकुर का कुआँ हो या घास वाली, लॉटरी, बड़े भाई साहब जैसी कहानियाँ हों, ये रंगमंच पर आधुनिक बोध और समकालीनता देती है, इसके अलावा भी बहुत कहानियाँ हैं जिनकी लोग खोज नहीं कर पाये।"[226] मुंशी प्रेमचंद ने यूं तो तीन नाटक लिखे थे। संग्राम, कर्बला और प्रेम की वेदी पर यह नाटक मात्र संवादात्मक माने जाते हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि मुंशी प्रेमचंद आज की रंगकर्म की दुनिया में अपनी कहानियों के मंचन के माध्यम से लोकप्रिय हैं न केवल कहानियां बल्कि उनके उपन्यास, उनका व्यंग्य तक मंच पर लगातार मंचित किए जाते हैं। उनकी कहानियां कफन, मंत्र बड़े भाई साहब, पंच परमेश्वर, घासवाली, सद्गति, मन्त्र, गुल्ली डंडा, दूध का दाम, सवा सेर गेहूं, समर यात्रा, राजा हरदौल, ईदगाह आदि का मंचन लगातार होता रहा है, वहीं उनके उपन्यास 'गोदान, रंगभूमि और निर्मला' भी मंच पर लगातार मंचित होते ही रहे हैं। "कहानी मंचन की दृष्टि से मुंशी प्रेमचंद रंग निर्देशकों के सर्वाधिक प्रिय लेखकों में आते हैं। हिंदी गद्य का एक पूरा काल प्रेमचंद युग के नाम से जाना जाता है।"[227] इनकी कहानियों में दृश्य इतने वर्णनात्मक होते हैं कि पटकथा लेखन को दृश्य के साथ साथ संवाद भी जस के तस लिखे हुए मिल जाते हैं।

वरिष्ठ साहित्यकार शिवमूर्ति सिंह ने मुंशी प्रेमचंद के नाटकों के परिप्रेक्ष्य में चर्चा करते हुऐ कहा कि प्रेमचंद अपने कथा साहित्य एवं उपन्यास के लिये जाने जाते हैं यह वस्तुतः सही भी है क्योंकि यह बहुत कम लोगों को पता है कि उन्होंने नाटक भी लिखें हैं। "गीतकार गुलजार ने मुंबई में एक नाट्यसंस्था का गठन करके प्रेमचंद की कई कहानियों का नाट्य में रुपांतरण करवा कर मंचन भी करवाया है। वैसे उनकी सभी कहानियों में चाहें कफन हो, ईदगाह हो, पंच परमेशर हो, गुल्ली डंडा हो या बड़े भाई साहब, इसमें नाटक के सभी तत्व विद्यमान है। सभी कहानियाँ संवाद शैली में लिखी हुई है।"[228] कर्बला नाटक में प्रेमचंद की नाट्य कला का पूर्ण विकास देखा जा सकता है। यदि उन्होंने अपने को नाट्य लेखन की ओर केन्द्रित किया होता तो निसंदेह वे हिन्दी के बड़े नाट्यकारों में गिने जाते। "कर्बला नाटक कथानक, कथोपकथन, भाषा शैली, संवाद सभी दृष्टि से एक श्रेष्ठ नाटक है मुस्लिम पात्रों की भाषा उर्दू है हिन्दू पात्रों की भाषा संस्कृत भाषा है जो दुरुह है किन्तु भाव उसका स्पष्ट हो जाता है इस नाटक को पढ़कर प्रेमचंद के विषद अध्ययन का पता

[226] नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक, पृष्ठ संख्या 49

[227] डॉ. दशरथ ओझा : आज का हिन्दी नाटक, पृष्ठ संख्या 23

[228] डॉ. दशरथ ओझा : आज का हिन्दी नाटक, पृष्ठ संख्या 23

चलता है। कर्बला लिखने का मतलब सांप के बिल में हाथ डालना है यदि कहीं भी ऐतिहासिक या धार्मिक चित्रण में चूक होती तो मुस्लिम संप्रदाय इसका विरोधी हो जाता।"[229] यह नाटक हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रतीक है और प्रेमचंद का अभीष्ट भी था। नैतिक दुविधा और असमंजस पर इतने सादा अंदाज में चोट करने के लिए प्रेमचंद की तरह भाषा का सधाव चाहिए। लेकिन वह सिर्फ भाषा का नहीं, नैतिकता की भी साधना है जो इंसान को किसी भी प्रकार किसी भी तरह के स्वार्थ से मुक्त करती है। प्रेमचंद की नाट्य में संवाद कला इतनी बारीकी से लिखी गई है जिसका कोई जोड़ नहीं है। प्रेम की वेदी में भी संवादों के साथ साथ दृश्यों को भी ऐसे पिरोया गया है जहाँ पात्र कथनों को बिना दोहराए खुद ही मुँह से निकलने लगते हैं।

[229] नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक, पृष्ठ संख्या 41

3.1.1 नाट्य रूपान्तरण कथानक के स्तर पर

हिंदी कहानी की चर्चा प्रेमचंद के बिना संभव ही नहीं है। हिंदी की श्रेठ कहानियों की सबसे पहली पंक्ति में पंच परमेश्वर कहानी का नाम लिया जा सकता है। 'पंच परमेश्वर'कहानी प्रेमचंद ने सन् 1916 में लिखी है, इस कहानी में प्रेमचंद की दूसरी कहानियों की तरह ही अनेक स्तर हैं। "कहानी के माध्यम से प्रेमचन्द ने न्याय और मित्रता की परिभाषा को गढ़ा है जहाँ मित्र और न्याय में से किसी एक का चयन करना हो तो निसंदेह कोई भी आदर्शमुखी व्यक्ति न्याय को चुनना पसंद करेगा। कहानी और उसके नाट्य रूपान्तरण में जो चीजें कहानी को प्रभावशाली बनाती है उनका अध्ययन अति आवश्यक है पहले कहानी के मूल को समझना जरुरी है।"[230] कहानी में आए संवादों और उनके दृश्यों में किस तरह परिवर्तित कर के कहानी को और ज्यादा रोचक बनाया गया है।

कहानी की शुरुआत कुछ होती है 'जुम्मन शेख की अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी। साझे में खेती होती थी। कुछ लेन-देन में भी साझा था। दोनों का एक-दूसरे पर अटल विश्वास था। जुम्मन जब हज करने गये थे, तब अपना घर अलगू को सौंप गये थे और अलगू जब कभी बाहर जाते तो जुम्मन पर अपना घर छोड़ देते थे। उनमें न खान-पान का व्यवहार था, न धर्म का नाता, केवल विचार मिलते थे। मित्रता का मूलमंत्र भी यही है।' "यहाँ आज के समय का धर्म निरपेक्ष भी देखने को मिल जाता है। एक हिंदू था, दूसरा मुसलमान और एक साझा ज़िंदगी। जिसे हमारे समाज में गंगा-जमुनी संस्कृति कहा जाता है। यह आपसी भरोसा आज सपना लगता है लेकिन यह प्रेमचंद की दूसरी कहानियों में भी दिखलाई पड़ता है। इस गंभीर स्वर के बाद प्रेमचंद की आँखों से विनोद छलक पड़ता है।"[231] चित्रा मुद्गल द्वारा नाट्य रूपांतरित कहानी पंच परमेश्वर में इस तरह की कोई भूमिका नहीं दिखाई गई है कहानी के कथानक को सीधे संवाद से शुरू किया गया है।

पात्र चरित्र चित्रण एवं मानव चरित्र के विषय में प्रेमचंद का मत है कि-'मानवीय चरित्र इतना जटिल है कि बुरे से बुरा आदमी भी देवता हो जाता है और अच्छे से अच्छा आदमी पशु। पर वास्तव में मानव स्थितियों के हाथ का खिलौना मात्र है अर्थात मानव चित्रण की यह जटिलता स्थितियों की जटिलता का प्रतिबिम्ब है।' इसलिए प्रेमचंद रचनाओं में चरित्रगत विशेषता को परिस्फुट करने हेतु विभिन्न भावों के घात-परिघातों के साथ जीवन की घटनाओं, संघर्षशील स्थितियों को इस तरह समंजित कर देते हैं कि जान नहीं पड़ता कि कहानी घटना प्रधान है या चरित्र प्रधान। यही कारण है कि "प्रेमचंद के पात्रों को न परिचय की जरूरत है न व्याख्या की, चरित्र का

[230] वीरेन्द्र नारायण : रंगकर्म, पृष्ठ संख्या 52

[231] वीरेन्द्र नारायण : रंगकर्म, पृष्ठ संख्या 52

विश्लेषण नहीं हुआ अपितु मनोवैज्ञानिक अनुभूतियां जीवन्त हुई हैं।"[232] फलत: चरित्र चित्रण की दृष्टि से कहानियां पात्रों के बाह्य व्यक्तित्व की स्थूलता के स्थान पर आंतरिक सूक्ष्मता पर टिकी है। प्रेमचंद के अपने शब्दों में 'जो लेखक मानव हृदयों के रहस्यों को खोलने में सक्षम है, उसी की रचना सफल है वह उन्हीं पात्रों का सफल चित्रण कर सकता है जिनसे वह निजी अनुभव से परिचित है। मेरे अधिकांश पात्र यथार्थ जीवन से लिए गये। जब किसी पात्र का यथार्थ में अस्तित्व नहीं होता, तब वह छाया मात्र अनिश्चित अविश्वसनीय हो उठता है।'

कहानी में नाटक के तत्व हैं लेकिन जब कथानक पर बात की जाती है तो कहानी का कार्य व्यापार नहीं बदलता अपितु उसके भीतर की मंचन शैली बदलती है। नाटक का कथानक कहानी जैसा ही है, जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में मित्रता थी। उन दोनों में परस्पर विश्वास था। बचपन से ही उन दोनों में मित्रता थी। जुम्मन के पिता जुमराती ही दोनों के शिक्षक थे। जुम्मन का मान विद्या के कारण होता तो अलगू का सम्मान धन के कारण होता था। एक बार ऐसी घटना होती है कि दोनों की मित्रता टूटने लगी। कारण यह कि अलगू पंच बनाए गए थे और जुम्मन की बूढी खाला ने पंचायत बुलायी। उसकी सम्पत्ति जुम्मन को मिलने के बावजूद उसकी सेवा ठीक से नहीं हो रही थी। जुम्मन की बीबी करीमन तीखा बोलती थी "जुम्मन की पत्नी करीमन रोटियों के साथ कड़वी बातों के कुछ तेज–तीखे सालन भी देने लगी। जुम्मन शेख भी निष्ठुर हो गए। अब बेचारी खालाजान को प्रायः नित्य ही ऐसी बातें सुननी पड़ती थीं।"[233] दूसरी तरफ जुम्मन के अपने तर्क थे 'बुढ़िया न जाने कब तक जिएगी। दो–तीन बीघे ऊसर क्या दे दिया, मानो मोल ले लिया। इस घरेलू झगड़े ने पंचायत में जाना ही मुनासिब समझा। बूढी खाला ने कहा- बेटा, क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे?' अलगू उधेड़बून में फंस जाता है। 'हमारे सोये हुए धर्म, ज्ञान की सारी सम्पत्ति लुट जाए, तो उसे खबर नहीं होती, परन्तु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उससे कोई कुछ कह नहीं सकता।' बूढी खाला पंचायत से कहती है 'मुझे न पेट को रोटी मिलती है, न तन का कपड़ा। बेकस बेवा हूँ। कचहरी–दरबार नहीं कर सकती। तुम्हारे सिवा और किसको अपना दु:ख सुनाऊँ ? तुम लोग जो राह निकाल दो उसी पर चलूँ। अलगू चौधरी पंच थे। उन्होंने हिब्बनामा रद्द करने का फैसला दिया। खाला को मिलकियत वापस करने का फैसला दिया। फैसले को सुनकर जुम्मन शेख सन्नाटे में आ जाता है। शीघ्र ही एक दूसरी घटना में जुम्मन शेख को एक मौका मिलता है, अलगू चौधरी और समझू साहू के बीच पंच बनने का। बटेसर मेले से अलगू चौधरी ने बड़े मजबूत बैल

[232] डॉ. दशरथ ओझा : आज का हिन्दी नाटक, पृष्ठ संख्या 23

[233] प्रेमचंद रचनावली : पृष्ठ संख्या 131

खरीदे थे। एक बैल उसमें से मर जाता है। अब एक बैल को लेकर अलगू क्या करता? उसने उसे समझू साहू के हाथ बेच दिया। साहू उससे बेगारी लेता था। खूब पिटाई भी करता था। चारा खाने को भरपेट नहीं देता था। सड़क पर बैल गिर पड़ता है। वहीं रात काटनी पड़ती है। लेकिन किसी समय पलक झपक जाने पर किसी ने अंटी से रुपये ही नहीं गायब कर दिए, कई कनस्तर तेल भी नदारत। सहुआइन इन सबके लिए अलगू चौधरी को कोसती है-'न निगोड़ा ऐसा कुलच्छनी बैल देता, न जन्म भर की कमाई लुटती। अब अलगू चौधरी के बैल का दाम समझू साहू देने से इनकार कर देता है। गाँव में पंचायत बैठती है। इस बार दृश्य बदल जाता है। अलगू वादी है और जुम्मन पंच। जुम्मन शेख के मन में जिम्मेवारी का भाव पैदा होता है। वह बदला लेने की भावना मिटा देता है। जुम्मन सोचता है- 'मैं इस वक्त न्याय और धर्म के सर्वोच्च आसन पर बैठा हूँ। मेरे मुँह से इस समय जो कुछ निकलेगा वह देववाणी के सदृश होगा और देववाणी में मेरे मनोविकारों का कदापि समावेश न होना चाहिए। मुझे सत्य से जौ भर भी टलना उचित नहीं। अन्त में जुम्मन ने फैसला सुनाया की समझू साहू के लिए उचित है कि बैल का पूरा दाम दे। सभी प्रसन्न हुए 'पंच परमेश्वर की जय। थोड़ी देर बाद जुम्मन अलगू के पास आये। गले मिलकर बोले– 'भैया, जब तुमने मेरी पंचायत की तब से मैं तुम्हारा प्राणघातक शत्रु बन गया था। पर आज मुझे ज्ञात हुआ कि पंच के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त है, न दुश्मन। न्याय के सिवा उसे और कुछ नहीं सूझता। आज मुझे विश्वास हो गया कि पंच की जबान से खुदा बोलता है। 'अलगू रोने लगा। उसकी आँख से निकले इस पानी से दोनों के दिलों का मैल धुल गया। मित्रता की मुरझायी हुई लता फिर हरी हो गयी। कहानी के कथानक और उसके मंचन में बहुत तब्दिली नहीं की गई क्योंकि प्रेमचंद की इस कहानी में नाटकीयता और अभिनेता का पुट मौजूद है।

3.1.2 संवाद के स्तर पर

कोई कहानी जब मंच पर जाती है तो उसमें कई बदलाव किए जाते हैं। बड़ी कहानी के साथ यह बहुत ही संवेदनशील मुद्दा बन जाता है कि उस कहानी में किस स्तर तक छेड़छाड़ कर सकते हैं जिससे उसके मर्म को ठेस नहीं पहुंचें। कथानक को बहुत अधिक परिवर्तित नहीं कर सकते लेकिन संवादों के साथ यह छूट है कि उसे सूत्रधार अथवा नए पात्र गढ़ कर उसे और भी प्रभावशाली बनाया जा सकता है। प्रेमचन्द द्वारा लिखी इस कहानी में और चित्र मुद्गल द्वारा नाट्य रूपान्तरण में संवादों के स्तर पर कई स्थानों में बदलवा किए गए हैं। कहानी में एक तरह का वर्णन है लेकिन नाटक में जुम्मन शेख के मकान का दृश्य जहाँ जुम्मन की खाला और उसकी पत्नी करीमन हैं वहीं से सीधे संवाद शुरू होते हैं जहाँ खाला कहती है "जुम्मन बेटा, अब तुम्हारे साथ मेरा निर्वाह न होगा।"[234] इसी संवाद से कहानी का मंचन शुरू होता है। इससे पहले बस थोड़ा था जुम्मन शेख का मकान के विषय में बता दिया गया है। यही पहला फर्क दिखाई देता है जब कहानी के कथानक को मंच पर दिखाया जाता है। जुम्मन शेख़ की एक बूढ़ी खाला (मौसी) थी। उसके पास कुछ थोड़ी-सी मिलकियत थी परन्तु उसके निकट संबंधियों में कोई न था यह वर्णन कहानी में ऐसे दिया गया है लेकिन नाट्य रूपांतरण में उसे संवाद का रूप दे दिया गया है। खाला कहती है "बेटा जब तक मेरी मिलकियत तुमने अपने नाम न करवा ली तब तक तो खूब खातिरदारी की"[235] जुम्मन ने लम्बे-चौड़े वादे करके वह मिलकियत अपने नाम लिखवा ली थी, जब तक दानपत्र की रजिस्ट्री न हुई थी, तब तक खाला जान का ख़ूब आदर-सत्कार किया गया। कहानी कुछ आगे बढ़ती है, यहाँ कहानी और नाटक के कथानक को समझने की आवश्यकता हैं क्योंकि जुम्मन शेख और अलगू के अतीत की बात हो रही है, कहानी की शुरुआत यहीं से होती हैं "इस मित्रता का जन्म उसी समय हुआ, जब दोनों मित्र बालक ही थे, और जुम्मन के पूज्य पिता, जुमराती उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। अलगू ने गुरू जी की बहुत सेवा की थी, खूब प्याले धोये। उनका हुक्का एक क्षण के लिए भी विश्राम न लेने पाता था, क्योंकि प्रत्येक चिलम अलगू को आधे घंटे तक किताबों से अलग कर देती थी।"[236] अलगू के पिता पुराने विचारों के मनुष्य थे। उन्हें शिक्षा की अपेक्षा गुरु की सेवा-शुश्रूषा पर अधिक विश्वास था। वह कहते थे कि विद्या पढ़ने से नहीं आती, जो कुछ होता है, गुरु के आशीर्वाद से। बस, गुरु जी की कृपा-दृष्टि चाहिए। अत एव यदि अलगू पर जुमराती शेख के आशीर्वाद अथवा सत्संग का कुछ फल न हुआ, तो यह मानकर संतोष कर लेना कि विद्योपार्जन में मैंने यथाशक्ति कोई बात

---

[234] चित्रा मुद्गल: पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक पृष्ठ संख्या 47

[235] चित्रा मुद्गल: पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक पृष्ठ संख्या 47

[236] प्रेमचंद : प्रेमचंद की मानसरोवर की कहानियां, पंच परमेश्वर, पृष्ठ संख्या 137

उठा नहीं रखी, विद्या उसके भाग्य ही में न थी, तो कैसे आती? मगर जुमराती शेख स्वयं आशीर्वाद के कायल न थे। उन्हें अपने सोंटे पर अधिक भरोसा था, और उसी सोंटे के प्रताप से आस-पास के गाँवों में जुम्मन की पूजा होती थी। उनके लिखे हुए रेहननामे या बैनामे पर कचहरी का मुहर्रिर भी कदम न उठा सकता था। हल्के का डाकिया, कांस्टेबिल और तहसील का चपरासी - सब उनकी कृपा की आकांक्षा रखते थे। अत एव अलगू का मान उनके धन के कारण था, तो जुम्मन शेख अपनी अनमोल विद्या से ही सबके आदरपात्र बने थे।' यहाँ आते आते कहानी और नाटक में दृश्यों से लेकर संवादों तक काफी बदल दिया गया है जिसमें कुछ संवाद पहले और कुछ वर्णनों को संवादों के माध्यम से दिखाया गया है। कहानी जहाँ सीधे सीधे लिखी गई है वहीँ नाटकों में विभाजित करने में छः दृश्यों का सहारा लिया गया। नाटक में पात्रों का परिचय, उम्र, संगीत, स्थान इत्यादि का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

प्रेमचंद की इस कहानी को पढ़ते समय के इस अंश से आपके मन में अगर जुम्मन शेख के प्रति सद्भाव पैदा हो गया हो तो अगला हिस्सा उस भाव को भंग करता है। इसमें आपकी मुलाक़ात जुम्मन शेख की खाला से होती है। सिर्फ उनसे नहीं, उनके और जुम्मन और उनकी बीवी के बीच के रिश्ते से और कहानी यहाँ एक मोड़ ले लेती है। जब इसे मंच में देखते हैं जो यह दृश्य नाटक से नदारद है। जुम्मन शेख भी निठुर हो गये। अब बेचारी खाला जान को प्राय: नित्य ही ऐसी बातें सुननी पड़ती थी। कुछ संवाद इस तरह से भी लिखे गए जैसे- 'बुढ़िया न जाने कब तक जियेगी। दो-तीन बीघे ऊसर क्या दे दिया, मानो मोल ले लिया है! बघारी दाल के बिना रोटियाँ नहीं उतरतीं! जितना रुपया इसके पेट में झोंक चुके, उतने से तो अब तक गाँव मोल ले लेते' कुछ दिन खाला जान ने सुना और सहा। पर जब न सहा गया तब जुम्मन से शिकायत की "खीझते हुए खाला बोलती हैं और कितना मुंह खोलूं? क्या तुम नहीं सुनते रूखी सूखी रोटी थाली में पटकते तुम्हारी बीवी कैसी खरी खोटी कड़वी बातें सुनाती रहती है।"[237] जुम्मन ने यहाँ घर के मामले में दखल देना उचित न समझा।' यहाँ तक आते-आते जुम्मन शेख का चरित्र स्पष्ट हो जाता है। यहीं पर जुम्मन और खाला के बीच थोड़ी बहुत बहस हो जाती है।

कहानी का क्राफ्ट बहुत विशाल है क्योंकि जो व्यक्ति प्रेमचन्द को पढ़ता है वह प्रेमचन्द की एक कहानी पढ़े बिना रह ही नहीं सकता उसके भीतर अन्य कहानी पढ़ने की दिलचस्पी हो जाती है। "पंच परमेश्वर के कुछ दृश्यों को देख कर प्रेमचंद के पाठकों को 'बूढ़ी काकी' की याद आना

[237] चित्रा मुद्गल: पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक, पृष्ठ संख्या 46

स्वाभाविक है और 'बेटों वाली विधवा' की भी याद आ ही जाती है। केवल इतना ही नहीं प्रेमचंद की कहानियों में खुद प्रेमचन्द भी नज़र आने लगते हैं। संपत्ति और मानवीय सदाशयता में सदा का बैर है।"[238] यह प्रेमचंद के जीवन का भी सिद्धांत था। यह भारतीय घर और संयुक्त परिवार के रूमानी भरम को भी तोड़ती है। जुम्मन शेख अच्छे मित्र हो सकते हैं। लेकिन क्या वे ईमानदार भी हैं? खाला को लेकर उनकी नीयत में खोट है। गाँव में अपने रुतबे की वजह से भी उन्हें यकीन है कि कोई खाला की न सुनेगा। इस दृश्य को बहुत अच्छे से मंच पर दिखाया गया है। उससे पहले कहानी के संवाद को नाटक के संवाद में बदल कर लिखा गया है। यहाँ से जुम्मन और खाला के बीच का मनमुटाव मंच पर भी दिखने लगता है।

"जुम्मन ने धृष्टता के साथ उत्तर दिया - रुपये क्या यहाँ फलते हैं?"[239]

खाला ने नम्रता से कहा - मुझे कुछ रूखा-सूखा चाहिए भी कि नहीं? जुम्मन ने गम्भीर स्वर से जवाब़ दिया -तो कोई यह थोड़े ही समझा था कि तुम मौत से लड़कर आयी हो? खाला बिगड़ गयीं, उन्होंने पंचायत करने की धमकी दी। जुम्मन हँसे, जिस तरह कोई शिकारी हिरन को जाल की तरफ जाते देख कर मन ही मन हँसता है। वह बोले - हाँ, ज़रूर पंचायत करो। फ़ैसला हो जाय। मुझे भी यह रात-दिन की खटखट पसंद नहीं। इस तरह कहानी और नाटक के कथानक में ज्यादा अंतर नहीं है केवल कथानक में (व्यंग्य से हंस कर बोलने का चिह्न दे दिया है) यहीं पर एक लोकधुन बजती है और दूसरे दृश्य का आरम्भ होता है।

"(खाला लाठी ठकठकाती हांफती सी चल रही हैं झुकी कमर को वजह से उन्हें चलने में कष्ट हो रहा है अलगू के दरवाजे पहुँच कर उसे पुकारती है)"[240] इस कोष्टक के साथ दूसरे दृश्य की शुरुआत होती हैं जबकि कहानी में इससे अलग तरह का वर्णन है। "इसके बाद कई दिन तक बूढ़ी खाला हाथ में एक लकड़ी लिये आस-पास के गाँवों में दौड़ती रहीं। कमर झुक कर कमान हो गयी थी।"[241] कहानी और नाटक के इन शब्दों के भाव भले ही अलग अलग प्रतीत होते हो लेकिन इससे कथानक में किसी तरह का ह्रास नहीं हुआ और कहानी का कथानक तस का तस बना हुआ है और संवादों का प्रवाह भी मौजूद है।

[238] सिद्धनाथ कुमार: हिन्दी पद्य नाटक: सिद्धांत और इतिहास, पृष्ठ संख्या 187

[239] चित्रा मुद्गल: पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक पृष्ठ संख्या 46

[240] चित्रा मुद्गल: पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक पृष्ठ संख्या 47

[241] प्रेमचंद : प्रेमचंद की मानसरोवर की कहानियां, पंच परमेश्वर, पृष्ठ संख्या 139

इसके बाद के दृश्य से पंचायत शुरू होती है। पंचायत में किसकी जीत होगी, इस विषय में जुम्मन को कुछ भी संदेह न थ। आस-पास के गाँवों में ऐसा कौन था, जो उसके अनुग्रहों का ऋणी न हो। ऐसा कौन था, जो उसको शत्रु बनाने का साहस कर सके? किसमें इतना बल था, जो उसका सामना कर सके? आसमान के फरिश्ते तो पंचायत करने आवेंगे ही नहीं।"[242] अब खाला पंचायत के लिए लोगों को जुटाने में। उसका ब्योरा भी नोट करने की ज़रूरत है क्योंकि 'ऐसे न्यायप्रिय, दयालु, दीन-वत्सल पुरुष बहुत कम थे, जिन्होंने इस अबला के दुखड़े को गौर से सुना हो और उसको सांत्वना दी हो।' हर तरफ से निराश होकर खाला अलगू चौधरी के पास पहुँचती हैं। लेखक यहाँ एक संकट पैदा करता है। खाला को अलगू और जुम्मन की दाँत काटी दोस्ती का खूब पता है, फिर भी वे अलगू के पास इन्साफ की उम्मीद लेकर पहुँचती हैं। अलगू का जवाब वैसा ही है जैसा एक सामान्य व्यक्ति का होना चाहिए। इन वर्णनों के आधार पर मंचन करने में सुविधाएँ होती हैं। दृश्य को कुछ ऐसे बाँधा गया जैसे प्रेमचन्द ने नाटक ही लिखा हो। और इसी दृश्य में प्रेमचंद का वो संवाद आ गया जो प्रेमचंद के बाद लोगों की जुबान पर चढ़ गया।

"चारों ओर से घूम-घाम कर बेचारी अलगू चौधरी के पास आयी। लाठी पटक दी और दम लेकर बोली - बेटा, तुम भी दम भर के लिये मेरी पंचायत में चले आना।

अलगू - मुझे बुला कर क्या करोगी? कई गाँव के आदमी तो आवेंगे ही।

खाला- अपनी विपद तो सबके आगे रो आयी। अब आने न आने का अख्तियार उनको है।

अलगू - यों आने को आ जाऊँगा; मगर पंचायत में मुँह न खोलूँगा।

खाला - क्यों बेटा?

अलगू - अब इसका क्या जवाब दूँ? अपनी खुशी। जुम्मन मेरा पुराना मित्र है। उससे बिगाड़ नहीं कर सकता।

खाला उम्मीद नहीं छोड़तीं, 'खाला कहती हैं- बेटा, क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे? (रह रह वाक्य की अनूगूंज होती है) प्रकाश का कम होना और संगीत कोई ग्रामीण लोकधुन।"[243] इस तरह के संवाद के बाद कहानी में तो कोई परिवर्तन नहीं आया लेकिन मंच पर इस गंभीर संवाद के बाद मंच पर कोलाहल सा हो जाता है क्योंकि यह केवल संवाद नहीं अपितु

[242] प्रेमचंद : पंच परमेश्वर प्रेमचंद रचनावली पृष्ठ संख्या 132

[243] चित्रा मुद्गल: पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक पृष्ठ संख्या 47

जीवन का दर्शन है जो प्रेमचंद आम जन मानस से शोषक वर्ग तक को देना चाहते है। "हमारे सोये हुए धर्म-ज्ञान की सारी सम्पत्ति लुट जाय, तो उसे ख़बर नहीं होता, परन्तु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उसे कोई जीत नहीं सकता। अलगू इस सवाल का कोई उत्तर न दे सका, पर उसके हृदय में ये शब्द गूँज रहे थे- क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे?"[244] मंच पर इसे वोइस ओवर के जरिये समझाया गया, जिससे इसका प्रभाव और भी ज्यादा हो। यहाँ कहानी और मंच में ज्यादा अंतर नहीं है क्योंकि प्रेमचंद ने इस दृश्य को ऐसे वर्णनात्मक रूप में लिखा गया है मंचन के समय इन दृश्यों में खुसुर-फुसुर मंच पर लोगों की आवाजाही इत्यादि शामिल है। यहाँ कहानी और मंचन में विभिन्नता देखने को मिलती है कुछ अतीत की घटनाओं का वर्णन मिलता है तो उसे संवाद के माध्यम से बता दिया गया है।

तीसरे दृश्य में जहाँ नाटक को इस तरह शुरू किया गया है "(पेड़ के नीचे जुड़ी पंचायत की गहमागहमी लोग आपस में खुस फुस कर रहे हैं। ...आने वाले लोग एक दूसरे से सलाम जुहार कर रहे हैं हालचाल पूछ रहे हैं)"[245] इसे कोष्टक में दृश्य योजना के अंतर्गत दिया गया है वहीँ कहानी में संध्या समय एक पेड़ के नीचे पंचायत बैठी। शेख जुम्मन ने पहले से ही फर्श बिछा रखा था। उन्होंने पान, इलायची, हुक्के-तम्बाकू आदि का प्रबन्ध भी किया था। हाँ, वह स्वय अलबत्ता अलगू चौधरी के साथ जरा दूर पर बैठेजब पंचायत में कोई आ जाता था, तब दवे हुए सलाम से उसका स्वागत करते थे। जब सूर्य अस्त हो गया और चिड़ियों की कलरवयुक्त पंचायत पेड़ों पर बैठी, तब यहाँ भी पंचायत शुरू हुई। फर्श की एक-एक अंगुल जमीन भर गयी; पर अधिकांश दर्शक ही थे। निमंत्रित महाशयों में से केवल वे ही लोग पधारे थे, जिन्हें जुम्मन से अपनी कुछ कसर निकालनी थी। एक कोने में आग सुलग रही थी। नाई ताबड़तोड़ चिलम भर रहा था। यह निर्णय करना असम्भव था कि सुलगते हुए उपलों से अधिक धुआँ निकलता था या चिलम के दमों से। लड़के इधर-उधर दौड़ रहे थे। कोई आपस में गाली-गलौज करते और कोई रोते थे।"[246] इस तरह पंचायत शुरू होती है। आरंभ में ही खाला की ललकार सुनकर उनके भीतर धर्म ज्ञान के सजग होने की ख़बर मिल चुकी है। वह ललकार 'क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न करोगे?' उनके मन में गूँज रही है। इसी पंचायत में खाला अलगू को पंच बदती है। संवाद शुरू होता है "खाला बोली बेटा, खुदा से डरो। पंच न किसी के दोस्त होते हैं, न किसी के दुश्मन। कैसी बात कहते हो! और तुम्हारा किसी पर विश्वास न हो, तो जाने दो, अलगू चौधरी को तो मानते हो लो, मैं उन्हीं को सरपंच

[244] प्रेमचंद : प्रेमचंद की मानसरोवर की कहानियां, पंच परमेश्वर, पृष्ठ संख्या 138

[245] चित्रा मुद्गल: पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक पृष्ठ संख्या 48

[246] प्रेमचंद : प्रेमचंद की मानसरोवर की कहानियां, पंच परमेश्वर, पृष्ठ संख्या 139

बदती हूँ। अलगू के संकोच को मानो खाला हथौड़े से तोड़ डालती हैं, खाला ने गम्भीर स्वर में कहा 'बेटा, दोस्ती के लिए कोई अपना ईमान नहीं बेचता। पंच के दिल में खुदा बसता है। पंचों के मुँह से जो बात निकलती है, वह खुदा की तरफ से निकलती है।"[247] इसलिए इस पंचायत का फ़ैसला पहले ही लिखा जा चुका है। अलगू चौधरी खाला के पक्ष में निर्णय सुनाते हैं। दोनों दोस्तों की बेतकल्लुफी जाती रही। राह-रस्म बनी हुई है लेकिन गर्माहट खत्म हो गई। कहानी और नाटक में कुछ इसी तरह का अंतर देखने को मिलता है क्योंकि कहानी लिखने में एक साथ कई चीज़े लिख सकते हैं लेकिन मंच पर एक साथ एक ही चीज़े दिखा सकते हैं इस पंचायत एक और पंचायत का दृश्य है। जिसका वर्णन प्रेमचंद ने अपनी लेखनी से दिखा दिया लेकिन मंचन के समय निर्देशक को काफी मेहनत करनी पड़ी। साहू की व्यावसायिक क्रूरता बैल की जान ले लेती है। एक ही गाँव में किसान और बैल और साहूकार और बैल के रिश्ते में कितना अंतर है! एक मानवीय है, दूसरा पूरी तरह उपयोगितावादी। अलगू को बैल की कीमत देने में साहु जी हीला-हवाला करने लगे। आखिर पंचायत की ठहरी। और अब तक पाठक इतना तो समझ ही गया है कि इस बार साहु जी जुम्मन को पंच चुनेंगे।

"रामधन मिश्र ने कहा- अब देरी क्या है? पंचों का चुनाव हो जाना चाहिए। बोलो चौधरी किस-किस को पंच बदते हो।

अलगू ने दीन भाव से कहा- समझू साहु ही चुन लें।

समझू खड़े हुए और कड़कर बोले- मेरी ओर से जुम्मन शेख। जुम्मन का नाम सुनते ही अलगू चौधरी का कलेजा धक्-धक् करने लगा मानो किसी ने अचानक थप्पड़ मार दिया हो। रामधन अलगू के मित्र थे। वह बात को ताड़ गए। पूछा - क्यों चौधरी तुम्हें कोई उज्र तो नहीं?

चौधरी ने निराश हो कर कहा - नहीं, मुझे क्या उज्र होगा?"[248]

जुम्मन शेख के मन में भी सरपंच का उच्च स्थान ग्रहण करते ही अपनी ज़िम्मेदारी का भाव पैदा हुआ। "उसने सोचा, मैं इस वक्त न्याय और धर्म के सर्वोच्च आसन पर बैठा हूँ। मेरे मुँह से इस समय जो कुछ निकलेगा, वह देववाणी के सदृश है और देववाणी में मेरे मनोविकारों का कदापि समावेश न होना चाहिए। मुझे सत्य से जौ भर भी टलना उचित नही!' निर्णय अलगू के पक्ष में होता

[247] प्रेमचंद : प्रेमचंद की मानसरोवर की कहानियां, पंच परमेश्वर, पृष्ठ संख्या 140

[248] चित्रा मुद्गल : पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक, पृष्ठ संख्या 56

है।"[249] जैसा कहा, अंत धमाकेदार नहीं, चौकाने वाला नहीं, नाटकीय नहीं। लेकिन प्रेमचंद का इरादा भी यह नहीं है। कहानी उनकी दूसरी अनेक कहानियों की तरह आशा के नोट पर खत्म होती है। कहानी गाँव के बारे में है, उसके रिश्तों के बारे में, उसकी ज़िंदगी में दिलचस्पी लेते हुए कही जाती है। वह न्यायबोध के बारे में है, मित्रता के विषय में है।

प्रेमचंद की रचना दृष्टि समकालीन जीवन सत्यों से निर्मित होने के कारण बहुरंगी वर्गों के पात्र मजदूर, किसान, पूंजीपति, जमींदार, दलित, महाजन, मालिक-नौकर, शहरी-ग्रामीण आदि के आपसी सामाजिक व आर्थिक संबंधों, स्थितियों, संघर्षों, समस्याओं व मनन स्थितयों को बेहद आत्मीयतापूर्ण अभिव्यक्ति देते हैं। विषमताओं की कोख से उपजी कहानियों में महानता के स्थान पर साधारण व्यक्ति का प्रतिष्ठा हुई है। डॉ. इन्द्रनाथ मदान का कथन है- "कहानियों के पात्र बहुमुखी व विविध हैं इसका कारण प्रेमचंद के निजी अनुभव, विस्तृत ज्ञान, दार्शनिक व वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सामाजिक व्यवस्था के प्रति रूख और इनसे भी बढ़कर सर्वप्रमुख बात-आसपास की बिखरी जिंदगी में विचर रहे मनुष्यों को भीतर से जानने का प्रयास। लेखक का व्यक्तित्व भी वही विकास पाता है जब वो निम्न मध्यवर्ग, श्रमिकों, दलितों व कृषकों के जीवन संघर्ष को लेखनी में साकार करने को आतुर हो उठते हैं। प्रसंगानुसार तीखे-चटपटे हास्य व्यंग्य के अचूक प्रहार सामाजिक विषमता पर भी किये।"[250] संवाद कहानी के रचना विधान को निरन्तरता व विकासशील पथ की ओर उन्मुख करने में संवाद या कथोपकथन की निश्चित व संभावित भूमिका रहती है। सशक्त संवादों से रहित कहानी मौन व अधूरी रहती है, सार्थकता की मंजिल तक नहीं पहुंच पाती लेकिन प्रेमचंद की कहानी कला का श्रृंगार संवादों में कहानी की आत्मा सर्वत्र बोलती है। कथ्य सजीव, रोचक, विकसित करने, पात्रों के अन्त:करण के आलोड़न-विलोड़न को दर्शाने तथा देशकाल वातावरण को प्रभावी रूप से अंकित करने में संवाद सक्षम हैं। इसलिए वे शिक्षित-अशिक्षित, परिष्कृत, देशी-विदेशी, ग्रामीण-आंचलिक, लोकभाषा की स्थानीय बोलियों की रंग-बिरंगी छाप से पुष्ट हैं संतुलित हैं इसमें पर्याप्त गंभीरता है–'अलग हो जाने से बच्चे तो अलग नहीं हो गये।' संवाद लेखन में प्रेमचंद कहीं भी तटस्थ होकर कलम नहीं चलाते अपितु जीवन प्रवाह में सक्रिय भूमिका निभा उसे सशक्त गति प्रदान करने वाले कहानीकार हैं। संवादों की अन्य विशेषता उनमें कथ्य कम, तथ्य अधिक है अर्थात कथोपकथन नपे-तुले, अभिप्राय, मंतव्य को स्पष्ट करने वाले और सारगर्भित हैं।

---

[249] प्रेमचंद : प्रेमचंद की मानसरोवर की कहानियां, पंच परमेश्वर, पृष्ठ संख्या 141

[250] इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचंद, पृष्ठ संख्या 32

3.1.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर

प्रेमचंद के पात्रों के पास संवाद की कमी नहीं है, जिस कारण नाट्य रूपान्तरण करने के बाद अभिनेता के पास हमेशा अवकाश रहता है, जहाँ वो अपने संवाद को अभिव्यक्त करने के लिए नए-नए दृष्टिकोण का सहारा ले सकते हैं। जहाँ देशकाल, परिवेश, वातावरण और उसमें की गई अभिव्यक्ति है, वहां समसामयिक युग की आंतरिक व बाहरी स्थितियों को सहज रूप से समेटने का प्रयास प्रेमचंद की कहानियों में सहज भाव से देखने को मिलता है। इसलिए रचनाओं में धर्म, समाज, परिवार, घर, कृषि व उद्योग धंधों की विशिष्टतों को उभारा है। साथ ही भौगोलिक व प्राकृतिक शक्तियों का उल्लेख भी वातावरण को प्रभावशाली बनाता है।

इस कहानी जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में मुख्य दो पात्र ही है। इनके अतिरिक्त खाला, करीमन और समझू साहू नाटक का अहम हिस्सा हैं। बाद में गाँव के लोगों को पात्रों की भूमिका में रखा गया है। जुम्मन अपनी विधवा खाला के वारिस हो गए हैं और उन्होंने खाला से उनकी सम्पत्ति के दान पत्र की रजिस्ट्री अपने नाम करवा ली है। रजिस्ट्री के बाद उनकी पत्नी करीमन रोटियों के साथ कड़वी बातों के कुछ तेज, तीखे सालन भी देने लगी। जुम्मन शेख भी निठुर हो गये। अब बेचारी खालाजान को प्रायः नित्य ही ऐसी बातें सुननी पड़ती थी। ऐसा नहीं कि पत्नी के कारण ही जुम्मन निठुर हो गए।

कहानी के दूसरे मुख्य पात्र अलगू चौधरी हैं। प्रेमचंद ने लिखा है कि "उन्हें विद्या न आई। दोनों जुम्मन के पिता जुमराती के शिष्य थे। यद्यपि अलगू का मान उनके धन के कारण था तो जुम्मन शेख अपनी अनमोल विद्या के कारण सबके आदरपात्र बने थे।"[251] अलगू ठेठ भारतीय ढंग के मनुष्य हैं जो किसी पचड़े में पड़ना नहीं चाहते थे। जब खाला न्याय की आशा में उनके पास गई तो उन्होंने साफ साफ कहा "यों आने को आ जाऊँगा मगर पंचायत में मुँह न खोलूँगा।"[252] खाला के पूछने पर वे साफ कहते हैं, "जुम्मन मेरा पुराना मित्र है। उससे बिगाड़ नहीं कर सकता।"[253] असल में अलगू की समझ यही है कि एक गाँव में रहने वाले और बचपन के मित्र जुम्मन से दुश्मनी उचित नहीं फिर दोनों का साझा भी है और एक दूसरे पर भरोसा भी कहीं न कहीं अलगू को जुम्मन के कानूनी ज्ञान का भी डर था कि वह इस ज्ञान से कभी उनका अहित न कर दे। जब खाला ने उसे

[251] चित्रा मुद्गल : पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक, पृष्ठ संख्या 55
[252] चित्रा मुद्गल : पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक, पृष्ठ संख्या 56
[253] चित्रा मुद्गल : पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक, पृष्ठ संख्या 56

ललकार दिया और यह कहा कि "क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे?"[254] तो वह पंच बनने से इंकार न कर सका। आखिर अलगू को न सिर्फ पंचायत में आना पड़ा बल्कि खाला का पंच भी बनना पड़ा तथा जुम्मन के विरुद्ध फैसला भी सुनाना पड़ा। जिसमें मुख्य भूमिका अलगू चौधरी की है। यहाँ से जुम्मन और अलगू के मध्य कड़वाहट और दूरी पैदा हो जाती है। प्रेमचंद ने लिखा है "जुम्मन के चित्त में मित्र की कुटिलता आठों पहर खटका करती थी। उसे हर घड़ी यही चिंता रहती थी कि किसी तरह बदला लेने का अवसर मिले।"[255] असल में जब खाला ने अलगू को अपना पंच चुना था, तब जुम्मन ने मान लिया था कि पुरानी दोस्ती को निभाने में अलगू उसके खिलाफ फैसला नहीं देंगे और वे विजयी होंगे लेकिन अलगू ने उनकी आशा के विपरीत फैसला दिया जिससे दोस्ती में दरार आ गई।

प्रेमचंद की कहानियों में कहीं.कहीं वर्णनों व ब्योरों से अवश्य काम लिया पर अस्वाभाविकता नहीं आने दी। कई कहानियां वातावरण प्रधान हैं तो कई देशकाल की दुरूखद स्थितियों की जीवन्त करने वाली। यह तो सर्वविदित है कि प्रेमचंद दरिद्रता में जन्मे, दरिद्रता में पले और दरिद्रता से जूझते हुए ही समाप्त हो गये। उनके इसी चरित्र में पात्र और भी गम्भीर और प्रभावी रूप से अभिव्यक्त हो पाए। भाषा शैली भावानुभूतियों के समान प्रेमचंद भाषा के भी सम्राट कहलाए। "हिन्दी कथा साहित्य को सर्वप्रथम प्रेमचंद ने ही प्रवाहयुक्त मुहावरेदार, सुगम, सुबोध, साधारण बोलचाल की बहुलता लिये पात्रानुकूल भाषा प्रदान की। जो उनकी उलझी मनोस्थिति तथा बाहरी संघर्ष के यथार्थ का सशक्त प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती हैए इसमें एकरसता नहीं, विविधता है।"[256] पात्रों के मनोभावों से तादात्मय स्थापित करने में इस तरह सफल हुए प्रेमचंद अत्यंत निपुण प्रयोग धर्मी के रूप में विख्यात हुए। इसी विविधता के कारण अभिनेता को अपने चरित्र को और भी अच्छे से निभाने में मदद मिलती है। "प्रेमचंद की भाषा उनके व्यक्तित्व व कृतित्व की भांति ही आम जनता की है, उसमें इतनी चुस्ती खानगी, इतनी सादापन व सजीवता है कि आलोचक इसे 'प्रेमचंदी' भाषा की संज्ञा देते हैं।"[257] उन्होंने अरबी, फारसी, उर्दू, तत्सम तद्भव, अंग्रेजी, देशज़ तथा लोक सूक्तियों के सार्थक प्रयोग कर अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। यानि शब्दों के विस्तृत भंडार को भावों की लड़ी में पिरोने में सिद्धहस्त थे।

[254] प्रेमचंद : प्रेमचंद की मानसरोवर की कहानियां, पंच परमेश्वर, पृष्ठ संख्या 144

[255] चित्रा मुद्गल : पंच परमेश्वर तथा अन्य नाटक, पृष्ठ संख्या 61

[256] इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचंद, पृष्ठ संख्या 19

[257] सिद्धनाथ कुमार: हिन्दी पद्य नाटक: सिद्धांत और इतिहास, पृष्ठ संख्या 198

भाषा में मुहावरेदार उर्दू की तराश व चुस्ती के साथ.साथ हिन्दी की हार्दिकता का भी अद्भुत समन्वय प्रदर्शित हुआ। वाक्य भी कुशल शिल्पी की भांति तराशे गये। आंचलिकता व लोक भाषा के शब्दों का प्रयोग भी मार्मिक है। इसीलिए प्रेमचंद समकालीन कथाकारों से कहीं अधिक निपुण और समर्थ रचनाकार हैं। कथा शिल्प कहानी की बाह्य पर्यावरण का परिचालक होने के साथ-साथ लेखक के व्यक्तित्व, उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता तथा प्रभविष्णुता अन्तर्हित किये रखता है. पर प्रेमचंद के कथा साहित्य विधान की परख हेतु कोई निर्धारित कसौटी है ही नहीं क्योंकि उसमें इतनी सादगीए स्पष्टता व सीधापन है कि सब कुछ अत्यंत स्वाभाविक व अपनेपन से युक्त लगता है। "किसी भी प्रकार के श्रृंगारिक प्रसाधनों. अलंकरण, चमत्कार, पच्चीकारी या फिर अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पना के रंग में नहीं रंगे। इसी उदासीनता की वजह से शैली-शिल्प की वास्तविक कुशलता रूपायित हो पाई है। शैली विधान की दृष्टि से प्रेमचंद अन्य पुरुष प्रधान ऐतिहासिक वर्णनात्मक शैली अपनाते हैं।"[258] कहीं-कहीं उत्तम पुरुष की आत्मकथात्मक शैली के सुंदर उदाहरण भी उपलब्ध हैं, जैसे- नशा कहानी, जो मानव मन के अन्तर्द्वन्द्व का चरम निदर्शन दर्शाता है। विवरणात्मक शैली. नाटकीय शैली. डायरी शैली, पत्रात्मक शैली, भावनात्मक शैली और चित्रात्मक शैली आदि का प्रयोग किया है। विविध शैलियों के कलात्मक प्रयोग कहानियों में किये गये जहां व्यंजना, लाक्षणिक प्रयोग. वातावरण प्रस्तुत करने वाले सजीव वर्णन तथा चित्रण की रेखाएं बेहद स्पष्ट व पैनी हैं।

प्रेमचंद घटना प्रधान कहानियों के स्थान पर चरित्र प्रधान कहानियों को अधिक महत्व देते हैं अर्थात एक कहानी में एकल घटना व समस्या पर दृष्टि केंद्रित होते हुए भी सशक्त चरित्रांकन द्वारा ही प्रभावी कथा का निष्कर्ष मानना चाहिए, जैसे अलग्योझा कहानी में पारिवारिक अलगाव, ईदगाह में बाल मनोविज्ञान, नशा धनी वर्ग की स्वार्थपूर्ण मनोवृति, ठाकुर का कुआँ में सामाजिक अन्याय, सवा सेर गेहूं व पूस की रात में महाजनी सभ्यता का विकराल रूपए ऋण की भीषण समस्या व बेटों वाली विधवा में बेटों का छल प्रपंच और बुर्जुग पीढ़ी के अकेलेपन का दर्द. व्यथा बूढ़ी काकी में यानि कि भिन्न-भिन्न समस्याओं के व्यक्तिकरण में सजीवता व प्रभाव से युक्त पात्रों के बाहरी संघर्ष व मानसिक अंद्वन्द्व की सूक्ष्मता से आई है। आधुनिक कहानीकारों की तरह प्रेमचंद की कहानियां विदेशीपन से परिचालित नहीं अपितु विशुद्ध भारतीय संस्कृति की व्यापकता को सहेजे हुए हैं। तभी तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी यह कहने को बाध्य हुए और कहते हैं कि 'प्रेमचंद के कथा साहित्य अध्ययन से उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव,

[258] सिद्धनाथ कुमार: हिन्दी पद्य नाटक: सिद्धांत और इतिहास, पृष्ठ संख्या 95

आशा-आकांक्षा, दु:ख-दर्द, रीति-रिवाज़ों को जान सकते हैं। झोपड़ियों से महलों तक, खोमचे वालों से बैंकों तक, गांव से शहर की रंगीनियों तक, अमीरों से कृषकों तक आपको इतने कौशलपूर्वक व प्रामाणिक भाव से अन्य कोई नहीं ले जा सकता। इतनी विविधता अन्यत्र नहीं मिलेगी।' लेखक द्वारा निजी विचारों व सिद्धांतों के प्रतिपादन व मनोरंजकता लाने हेतु घटनाक्रम में गतिशीलता लाई गई है। मानव-चरित्र से सुपरिचित प्रेमचंद पात्रों की मनोवृति व स्वाभानुकूल संवादों का चयन करते हैं जो प्रसंगानुकूल स्वाभाविक व सहज व्यक्त हुए हैं विशेष रूप से व्यंग्यात्मक संवादों के नश्तर समाज की नसों में व्याप्त गंदे बदबूदार मवाद को निकालने के लिए चीरा लगाने का काम करते हैंए किसी भी स्थल पर व्यंग्य अर्थहीन नहीं हुआ।

प्रेमचंद ने जो पात्र रचे उनसे अभिनेयता और उसकी अभिव्यक्ति और भी बढ़ जाती है जब उसके संवाद लिखे जाते हैं दृश्य, संवाद और अभिनेयता तीनों साथ साथ चलते हैं। पहले वर्णन फिर उसका दृश्य मंचन के समय प्रभावी नज़र आता है। जुम्मन अपनी विधवा खाला के वारिस हो गए हैं और उन्होंने खाला से उनकी सम्पत्ति के दान पत्र की रजिस्ट्री अपने नाम करवा ली है। रजिस्ट्री बाद उनकी पत्नी करीमन रोटियों के साथ कड़वी बातों के कुछ तेज, तीखे सालन भी देने लगी। जुम्मन शेख भी निठुर हो गये। अब बेचारी खालाजान को प्रायः नित्य ही ऐसी बातें सुननी पड़ती थी। जब खाला पंचायत करने की धमकी देती है पंचायत जुम्मन खिलाफ फैसला देती है जिसमें मुख्य भूमिका अलगू चौधरी की है। असल में जब खाला ने अलगू को अपना पंच चुना था तब जुम्मन मान लिया था कि पुरानी दोस्ती को निभाने में अलगू उसके खिलाफ फैसला नहीं और वे विजयी होंगे लेकिन अलगू ने उनकी आशा के विपरीत फैसला दिया जिससे दोस्ती में दरार आ गई। कहानी के अंत में जुम्मन का हृदय परिवर्तित हो जाता है। इस तरह के दृश्य और संवादों से कहानी के मंचन की संप्रेषणीयता बढ़ गई।

अलगू कहानी के दूसरे मुख्य पात्र अलगू जो ठेठ भारतीय ढंग के मनुष्य हैं जो किसी पचड़े में पड़ना नहीं चाहते थे। जब खाला न्याय की आशा में उनके पास गई तो उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से मदद करने से इंकार कर दिया। असल में अलगू की समझ यही है कि एक गाँव में रहने वाले और बचपन के मित्र जुम्मन से दुश्मनी उचित नहीं फिर दोनों का साझा भी है और एक दूसरे पर भरोसा भी कहीं न कहीं अलगू को जुम्मन के कानूनी ज्ञान का भी डर था कि वह इस ज्ञान से कभी उनका अहित न कर दे। यही कारण है कि जब समझू ने जुम्मन को अपना पंच चुना तो अलगू का कलेजा धक् धक् करने लगा और मन ही मन (स्वगत कथन) क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे? गूंजने लगा। जुम्मन के विरुद्ध फैसला भी सुनाना पड़ा। कहानी के अंत में अलगू की आँखों

से छलके आँसू उसकी निश्छलता का प्रमाण हैं कह सकते हैं कि दोनों पात्र परिस्थितिजन्य यथार्थ के समक्ष वही आचरण करते हैं जो उन्हें संगत लगता है। इसके अतिरिक्त खाला और करीमन के साथ साथ ग्रामीण लोग भी मंचन में दिखाए गए हैं जिनसे गाँव और पंचायत का पूरा दृश्य अभिव्यक्त हो पाया।

चित्रा मुद्गल द्वारा नाट्य रूपान्तरण में पात्रों और अभिनेताओं के विषय में बहुत ही संक्षेप में दिया हुआ हुआ। अभिनेताओं का परिचय प्रेमचन्द के द्वारा और स्थान के रूप में मंच की उपलब्धता और कलाकारों द्वारा ही निभाए गए हैं। कहानी में लिखने और मंच पर प्रस्तुत होने में कई चीजों का सामना करना पड़ता है। निर्देशक ने जहाँ अभिनेताओं को एक थीम पर मंचन करवाया वहीं अभिनेताओं ने अपने अभिनय से मंचन को बहुत अधिक संप्रेषित किया।

3.1.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

पंजाब कला भवन में समर्पण थियेटर ग्रुप एवं पंजाब कला परिषद की ओर से मुंशी प्रेमचंद की कहानी पर आधारित नाटक 'पंच परमेश्वर' का मंचन किया है। इस कहानी का नाट्य रूपांतरण एवं निर्देशन प्रसिद्द रंगकर्मी राजू वैद ने किया। इस नाटक में मुख्य भूमिका में स्वयं राजू वैद, राजीव अग्नेश, हेमा शर्मा, सरिता, रिंकू जैन, जसवीर कुमार एवं अविनाश ने बखूबी निभाईं और इसमें संगीत कमल कुमार ने दिया। बतौर मुख्य अतिथि सोनू सेठी, सतीश कत्याल एवं अविनाश सिंह शर्मा यहां मौजूद रहे। कलाकारों का मंचन देखकर दर्शकों ने तालियां बजाकर उनकी प्रशंसा की। नाटक का कथानक कहानी से भिन्न नहीं था और इसके साथ कहानी के साथ न्याय भी किया है।

त्रिमूर्ति के 'रंग चौबारा' में आज मंशी प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी पंच परमेश्वर में तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराइयों, विसंगतियों को सामने लाने और सामाजिक चेतना को बढ़ावा देने की दिशा में कलाकारों ने अपने अभिनय से एक बार फिर पात्रों को चरितार्थ किया। पारंपरिक किस्सागोई शैली में इस कहानी को बहुत ही सहज ढंग से ईश्वर दत्त माथुर ने सुनाया। कहानी के बीच-बीच में पात्रों को सजीव रूप में खड़ा कर उनका नाट्य रूप मंचित किया गया। कहानी प्रारंभ होने से पहले घर परिवार की आधुनिक समस्या मोबाइल पर प्रहार करते हुए घर के बच्चों को मोबाइल छोड़कर साहित्य पढ़ने की प्रेरणा देने से कहानी की शुरुआत की गई। बच्चों को समझाया गया कि हमारे देश में प्राचीन काल से ही चौपाल परंपरा का मजबूत आधार रहा है और वही गांव की समस्याओं का निदान पंचो द्वारा किया जाता रहा है। पंच परमेश्वर नाटक का निर्देषन गुरमिन्दर सिंह पुरी रोमी ने किया। पंच परमेश्वर में जुम्मन शेख की भूमिका में नीरज गोस्वामी, खाला की भूमिका में भगवंत कौर, संजू साहू की भूमिका में राजेंद्र शर्मा राजू, फल्गु चौधरी की भूमिका में मोइनुद्दीन खान पंचायत में राकेश माथुर, प्रशांत यादव और कहानी के प्रमुख सूत्रधार के रूप में ईश्वर दत्त माथुर ने अपनी सशक्त भूमिका निर्वाह की। प्रकाश मनोज स्वामी, संगीत संचालन जीतेन्द्र शर्मा, मंच सज्जा धृती शर्मा, अंकित शर्मा नोनू ने की। लमही महोत्सव में चर्चित कहानी 'पंच परमेश्वर' का मंचन किया गया। अलगू की भूमिका की अमन श्रीवास्तव ने। जुम्मन शेख -श्याम नारायण यादव थे। अनुप्या गुप्ता ने मलका बेगम खाला की भूमिका की। संगीत शहजाद हुसैन का था। प्रकाश सुमित श्रीवास्तव और रूप -सज्जा की अष्टभुजा मिश्रा ने। यह मंचन नाटक की बारीकियों के साथ हुआ तथा इसमें कहानी से ज्यादा बदलाव नहीं किए गए।

ओम संस्था द्वारा छिंदवाड़ा की चर्चित नाट्य संस्था अनंत मारकंडेय नाट्य रंगोत्थान समिति द्वारा प्रेमचंद की विशिष्ट कहानी पंच परमेश्वर का आंचलिक अंदाज में मंचन किया गया।

जिसे दर्शकों ने बहुत सराहा। नाटक का पहली बार निर्देशन कर रहे अजय चौकसे के बेजोड़ जबरदस्त प्रस्तुति दी। नाटक में अलगू चौधरी की प्रधान भूमिका में आदित्य माहोरे ने अभिनय में जान डाल दी। जुम्मन शेख का असरदार किरदार बेहतरीन कलाकार विकल्प मालवी ने निभाया। खाला का जीवंत अभिनय अस्समद खान ने किया। समझू साहू के तौर पर अनिल डेहरिया खूब जमे। सूत्रधार के पात्र में नाटक की कड़ी जोड़ने का काम अमन रस संस्था के सचिव अनिमेष दुबे ने बखूबी किया। ग्रामीण बने योगेश साहू और आशुतोष भलावी ने अपने अभिनय की छाप छोड़ी। बैल का सार्थक अभिनय प्रकाश चौरे ने किया।

स्वर्ग रंगमंडल की ओर से मुंशी प्रेमचंद्र की कहानी पंच परमेश्वर का मंचन किया गया। वरिष्ठ रंगकर्मी अतुल यदुवंशी के निर्देशन में कलाकारों ने न्याय के जरिए सत्य का साथ देने का काम किया। पंचायत के सरपंच पद पर आसीन अलगू चौधरी अपने मित्र के खिलाफ जाकर फैसला सुनाते हैं तो जुम्मन मियां उनसे नाराज हो जाते हैं लेकिन पंच का फैसला सही था इसीलिए जुम्मन मियां गिला शिकवा भूलकर फिर अलगू के साथ पुराने तरीके से दोस्ती निभाने लगते हैं। मंच पर धीरज अग्रवाल, प्रिया मिश्रा व नीरज अग्रवाल के अभिनय को दर्शकों की खूब तालियां मिली। इसके अलावा सोनम सेठ, शालिनी श्रीवास्तव, शिवप्रकाश श्रीवास्तव, शिवम कुशवाहा, सुजाता केसरी आदि ने भी अभिनय किया। इन मंचनों के अतिरिक्त भारत वर्ष में कई ऐसी नाट्य और सांस्कृतिक संस्थाएं हैं। जिन्होंने पंच परमेश्वर कहानी का नाट्य रूपान्तरण किया और उसका मंचन किया। इन मंचनों को देख कर यह स्पष्ट हो जाता है की कहानियों में मंचन के गुण पहले से मोजूद हैं जिसे केवल समेटने का हुनर होना चाहिए। इन कहानियों में कहीं कहानी की मूल संवेदना को कम किया तो कहीं उसे और भी प्रभावी रूप से प्रेषित किया है।

3.2 भीष्म साहनी और चीफ की दावत

हिंदी में अनेक कहानियाँ ऐसी हैं जो विशेष लोकप्रियता अर्जित कर लेती हैं। ये न केवल बारंबार पढ़ी जाती हैं, वरन इन्हें नाटक, एकांकी, टीवी धारावाहिक आदि दृश्य माध्यमों में रूपांतरित कर प्रदर्शित भी किया जाता है। हिंदी में ऐसी कहानियों की एक समृद्ध परंपरा है। हिंदी कहानी के लगभग सौ वर्षों के इतिहास में ऐसी अनगिनत कहानियाँ रची गई हैं जिन्होंने अपनी विशेष पहचान निर्मित की हैं। ये कहानियाँ समय-समय पर एक खास प्रयोजन और प्रासंगिकतानुसार मंच पर प्रदर्शित की जाती रही हैं। भीष्म साहनी की प्रख्यात कहानी 'चीफ की दावत' एक ऐसी ही कहानी है। इसे अब तक अनेक छोटे-बड़े मंचों से प्रस्तुत किया जा चुका है। इस कहानी में आज के समय की एक ज्वलंत समस्या का चित्रण है।

भीष्म साहनी जी की बहुचर्चित कहानी चीफ की दावत का नाट्यरूपान्तरण दावत है। कहानी कला रूपान्तरण स्वयं लेखक ने ही किया है। दावत में मध्यवर्गीय जीवन के अन्तर्विरोध और उसके खोखलेपन को बड़ी सूक्ष्मता के साथ उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही वर्तमान जीवन में व्याप्त सांस्कृतिक संकट को भी बड़ी मार्मिकता के साथ व्यक्त किया गया है। उपनिवेशीकरण ने सम्बन्धों के बीच एक गहरी खाई पैदा की है। "हमारी भारतीय संस्कृति में माँ एक संस्कार है, सभी मानवीय सम्बन्धों के साथ हमारा यह संस्कार जुड़ा हुआ है। अपने इस महान एवं श्रेष्ठ संस्कार की महिमा को समझे बिना आधुनिक शिक्षित पीढ़ी विदेशी संस्कृति के पीछे भाग रही है, वहाँ रिश्तों के लिए कोई मूल्य नहीं है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक में उपेक्षित भारतीय संस्कृति तथा उपनिवेशीकरण के चंगुल में फँसे मध्यवर्गीय व्यक्ति की प्रदर्शनप्रियता और ह्रास होते हुए मानवीय मूल्यों को पेश करने का प्रयास किया गया है।"[259] दावत नाटक यह सिद्ध करता है कि जीवन में कुछ मूल्य और मान्यतायें ऐसी होती हैं जो सदा शाश्वत रहते हैं।

बुजुर्गों के प्रति युवा वर्ग की उदासीनता आज के दौर की एक बड़ी समस्या है। "कुछ लोगों को अपने बुजुर्ग माता-पिता को अपने साथ रखने में समस्या है तो कुछ लोगों के पास उनसे दो बात करने की फुरसत नहीं है। कुछ लोग उन्हें नाकाम समझते हैं तो कुछ उन्हें अपनी तरक्की और प्रतिष्ठा में बाधा मानते हैं। ऐसे लोग ही अपने जन्मदाताओं को वृद्धाश्रमों में डाल आते हैं।"[260] आज की युवा पीढ़ी बुजुर्गों से अपने संबंधों को खत्म कर लेने में विश्वास करती है। वह उन्हें अपने फैशन परस्त और स्वतंत्र जीवन में बाधक मानती है। आधुनिक परिवार की संकल्पना में पति-पत्नी और

[259] अनुशीलन : जुलाई 2015, पृष्ठ संख्या 167

[260] डॉ. मान्धाता ओझा : हिन्दी समस्या नाटक, पृष्ठ संख्या 84

बच्चे शामिल हैं। वृद्ध माता-पिता का उसमें कोई स्थान नहीं है। 'चीफ की दावत' कहानी की मूल समस्या यही है। यही कारण है कि इस कहानी के लिखे जाने के इतने दशकों बाद भी इस कहानी की प्रासंगिकता बढ़ती ही गई है। "इसका अब तक विभिन्न नाट्य संस्थाओं और रंग-मंडलियों द्वारा सैंकड़ों बार मंचन हो चुका है। इस कहानी में भीष्म साहनी ने मध्यमवर्गीय समाज के खोखलेपन, दिखावटीपन तथा स्वार्थपरता को उजागर किया है। कहानीकार भीष्म साहनी ने शामनाथ के माध्यम से शिक्षित युवा पीढ़ी पर करारा व्यंग्य किया है।"[261] आज का शिक्षित युवा वर्ग अपने माता पिता को बोझ समझता है। वह अपने सुख सुविधा के लिए अपने माता पिता को छोड़ देता है। वह यह तक भूल जाता है कि आज वह जो कुछ है वह केवल उनके त्याग और बलिदान के बदौलत है। अपने बच्चो को काबिल बनाने के लिए माता पिता ने हर कीमत चुकाई है। वे उनके लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। उनका सारा जीवन अपने बच्चों की खुशी के लिए बलिदान में व्यतीत हो जाता है। यह कहानी की मूल संवेदना है जहाँ एक संयुक्त परिवार एकल होने और घर के बड़े बुजुर्गों की स्तिथि का मूल्यांकन हैं।

चीफ की दावत में हमारे मध्यमवर्गीय समाज में पांव पसारते खोखलेपन, दिखावटीपन व रिश्तो को अपने स्वार्थ पूर्ति हेतु उपयोग को दिखाया गया है। "कहानी का प्रमुख पात्र शामनाथ उस पीढ़ी का नेतृत्व करता दिखाया गया है, जो अपने माता पिता को केवल बोझ समझते हैं और उनके किए बलिदान को बेशर्मी से फर्ज का नाम दें, उनके प्रति अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेते हैं। इन तथाकथित शिक्षित नवयुवको को अपने माता पिता घर में कूड़ा करकट नजर आते हैं। जिन्हें अपने दिखावटी उच्च समाज के सामने वह छुपा कर रखना चाहते हैं।"[262] हां, वक्त आने पर अपनी तरक्की व स्वार्थपूर्ति हेतु उनकी भावनाओं का फायदा उठाने से भी नहीं झिझकते। चीफ की दावत के दो मुख्य पात्र हैं- शामनाथ और उसकी बूढ़ी मां। शामनाथ एक लालची व स्वार्थी व्यक्ति है। जिसे अपनी बूढ़ी मां एक बोझ नजर आती है और वह बात में बात उसका दिल दुखाने से बाज नहीं आता। अपनी प्रमोशन के लिए जब वह घर में अपने चीफ की दावत रखता है तो उस समय उसे अपनी बूढ़ी मां अपने घर में एक अनावश्यक वस्तु की भांति नजर आती है। जिसे वह उनसे छुपाना चाहता है लेकिन छुपा नहीं पाता। उसे डर है कि उनके देहातीपन के कारण उसके तथाकथित सभ्य दोस्त उसका मजाक ना उड़ाए। इसलिए वह अपनी मां को ताकीद कर एक कुर्सी पर बिठा देता है और वहां से हिलने को भी मना कर देता है। शामनाथ की बूढ़ी लाचार मां, अपने बेटे के गुस्सैल स्वभाव के कारण उससे हमेशा डरी रहती है। चीफ के सामने जबरदस्ती अपनी मां से गाना गाने के

[261] नरेन्द्र नाथ त्रिपाठी : साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में स्त्री-पुरुष संबंध, पृष्ठ संख्या 73

[262] डॉ. मान्धाता ओझा : हिन्दी समस्या नाटक, पृष्ठ संख्या 89

लिए कहना, इंग्लिश में अभिवादन करवाना और इस उम्र में उसे फुलकारी का दुपट्टा बनवाना उसके स्वार्थ की चरम सीमा को दर्शाता है। साथ ही उसे क्रूर व्यक्ति कहे तो भी गलत ना होगा। जो मां की मजबूरी ना समझ बस किसी भी तरह उससे अपना काम निकलाना चाहता है। "शामनाथ की मां एक आम भारतीय मां की तरह वात्सल्यमयी, ममता की मूरत है। जो इस बुढ़ापे में भी अपने बच्चों की ममता के आगे लाचार नजर आती है। उसे पता है उसका बेटा स्वार्थी है, कभी उसने उससे प्यार के दो बोल ना बोले लेकिन फिर भी वह अपने बेटे की तरक्की के लिए खुशी खुशी हामी भर देती है।"[263] भीष्म साहनी की यह कहानी मानवीय सम्बन्धों के साथ साथ परिवार के भीतर उथल पुथल का भी वर्णन है।

[263] नरेन्द्र नाथ त्रिपाठी : साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में स्त्री-पुरुष संबंध, पृष्ठ संख्या 74

3.2.1 कथानक के स्तर पर

इस कहानी के केंद्र में मिस्टर शामनाथ व उसकी बूढ़ी माँ हैं। कथा में शामनाथ के माध्यम से शिक्षित पीढ़ी के अशिक्षित आचरण को जीवंतता के साथ उद्घाटित किया गया है। शामनाथ दफ्तर में नौकरी करता है। वह धीरे धीरे उच्च पद पाने की महत्वाकांक्षा रखने लगता है। अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए वह विदेशी चीफ की खुशामदी करता है। शामनाथ चीफ को अपने घर दावत पर आमन्त्रित करता है। शामनाथ के घर उसकी पत्नी तथा बूढ़ी मां है। चीफ के स्वागत में सारे घर को सजाया जाने लगता है। सभी अनावश्यक सामान छिपा दिए जाते हैं। इसी बीच, शामनाथ का ध्यान अपनी निरक्षर व बूढ़ी माँ की तरफ जाता है। वह और उसकी पत्नी इस द्वंद्व में फंस जाते हैं कि माँ को कहाँ छिपाया जाए। शामनाथ को लगता है कि अगर चीफ की दृष्टि उसकी बूढ़ी और कुरूप माँ पर पड़ गई तो उसे बुरा लगेगा और कहीं वह नाराज न हो जाए। ऐसे में यह सारा आयोजन व्यर्थ चला जाएगा। वह अपनी माँ को कई सारे आदेश और निर्देश देता है। वह उसे बताता है कि किस तरह उसे चीफ की निगाहों में आने से बचना है और यदि चीफ से सामना हो गया तो उसे उसके समक्ष किस तरह पेश आना है। भोली-भाली माँ यह सब सुनकर बहुत परेशान हो जाती है। वह बेचारी तो सरल और सहज जीवन जीना जानती है। उसने आज तक दिखावे की जिंदगी नहीं जी है। शामनाथ अपनी पदोन्नति के लिए अपनी माँ को अकेलेपन का शिकार बना देता है। वह उसके द्वारा किए गए बलिदान को भी नहीं समझता। ऐसा ही होता है, जब बच्चे बड़े हो जाते हैं। तो वह अपने माता पिता के द्वारा किए गए उपकार को भूल जाते हैं। भले ही उस बच्चे की पढ़ाई के लिए माता पिता ने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया हो परन्तु उनके बच्चों को वे घर के किसी कोने में पड़े कूड़े कर्कट की भांति दिखाई देते हैं। इस कहानी में ऐसा ही होता है। कहानी के कथानक और नाटक में कथानक में बहुत अंतर नहीं है कारण इसका स्पष्ट है कि दोनों के रचनाकार एक ही हैं और वो इसकी संवेदना को अच्छी तरह से समझते हैं। कहीं संवादों और दृश्यों के संयोजन से कथानक को आगे बढ़ाते है तथा कहीं ग्रामीण लोक गीत से कथा गतिशील होती है।

मिस्टर शामनाथ अपने माँ के बलिदान को फर्ज बताता है। शामनाथ पुरानी पीढ़ी के त्याग के प्रति कृतघ्न है। उसकी माँ ने जेवर बेचकर इस काबिल बनाया कि वह दुनियां में सिर उठाकर जी सके। परन्तु वह उसके जिक्र मात्र से तिलमिला उठता है। "यह कौन सा राग छेड़ दिया माँ, सीधा कह दो नहीं है जेवर बस। इससे पढ़ाई लिखाई का क्या ताल्लुक है। जो जेवर बिका तो कुछ बन कर के आया हूँ, नीरा तो नहीं लौट आया। जितना दिया था उससे दुगुना ले लेना।"[264] माँ द्वारा किए गए

[264] भीष्म साहनी : प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 14

त्याग को वह चंद रूपयो में तोलता है। आधुनिक युग में युवा वर्ग माता पिता द्वारा किए गए बलिदान को भूल जाते हैं तथा अपनी सफलता को अपनी काबिलियत का नाम देते हैं। यह आधुनिक युग की बहुत बड़ी त्रासदी है कि युवा वर्ग बुजुर्गों के आदर मान-सम्मान को भूल गया है। शामनाथ पूरी तरह से पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंग चुका है। वह अपनी माँ से कभी बात नहीं करता। वह अपनी माँ के साथ हमेशा संवेदनहीन व्यवहार करता है। माँ बेटे के व्यवहार से डरी रहती है। वह बेटे के हुक्म का हमेशा अपनी मर्जी के खिलाफ पालन करती है। शामनाथ की माँ का जी चाह रहा था कि चुपचाप पिछवाड़े विधवा सहेली के घर चली जावे। मगर बेटे के हुक्म को कैसे टाल सकती है। शामनाथ ने माँ को हिदायत दी कि जब चीफ आए तो उनसे बाते कर लेना। परन्तु माँ ने अपनी असमर्थता प्रकट की "मैं न पढ़ी, न लिखी बेटा मैं क्या बात करूंगी। तुम कह देना माँ अनपढ़ है वह जानती समझती नहीं। वह नहीं पूछेगा।"[265] परन्तु शामनाथ बिना कुछ सुने चला गया। शामनाथ और उसकी पत्नी शाम को मेहमानों के आने के बाद उनकी खुशामदी में लग जाते हैं। उसके घर पर पश्चिमी ढंग पर पार्टी चलने लगती है। शराब गिलासों में भरी जाने लगती है और पूरा घर हंसी-मजाक और कहकहों से भर उठता है। शराब का दौर खत्म होने के बाद सभी भोजन के लिए बरामदे में चले जाते हैं। शामनाथ की माँ बरामदे में कुर्सी पर बैठी नींद के खर्राटे ले रही थी और नींद में उसका सिर इधर से उधर हो रहा था। चीफ के सामने माँ के अचानक पड़ने से शामनाथ मन-ही-मन कुढ़कर रह गया। शामनाथ के पुकारने पर माँ अचानक उठती है और उसकी दयनीय स्थिति को देखकर चीफ के साथ आई देसी अफसरों की पत्नियाँ हंस देती हैं। परन्तु चीफ ने सबको रोकते हुए स्थिति को सम्भाल लिया। पश्चिमी सभ्यता के दिखावटीपन में लिपटा शामनाथ अपनी निरक्षर माँ को आदेश देता है-

"माँ हाथ मिलाओ"
"कहो माँ, हाउ डू यू डू"
माँ धीरे से सकुंचाते हुए बोली ''हो डू डू"[266]

चीफ शामनाथ की वृद्ध माँ से हाथ मिलाता है। उसे शामनाथ की माँ बहुत अच्छी लगी। शामनाथ ने अपनी माँ का परिचय करवाते हुए बताया कि मेरी माँ गांव से ताल्लुक रखने वाली महिला है। पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगे युवा दिखावटीपन में विश्वास रखते हैं। वे अपने निरक्षर तथा गांव में रहने वाले माता पिता का परिचय करवाने में हिचकिचाते हैं। यही आधुनिक जीवन की

[265] भीष्म साहनी : प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 15
[266] भीष्म साहनी : प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 17

त्रासदी व विडंबना है। हम अपने नैतिक मूल्य तथा सामाजिक उत्तरदायित्व को भूलते जा रहे हैं। चीफ ने शामनाथ से कहा कि उसे गांव के लोग बहुत पसन्द हैं। चीफ ने पूछा, "फिर तो तुम्हारी माँ गीत और नाच भी जानती होगी। यह कहते हुए चीफ ने माँ को प्यार व अपनेपन की भावना से देखा।"[267] शामनाथ ने अपनी माँ को चीफ के लिए गाना सुनाने का आदेश दिया परन्तु माँ ने अपनी विवशता प्रकट की तो शामनाथ ने कहा "वाह माँ! मेहमान का कहा कोई भी टालता है? साहब ने इतनी रीझ से कहा है- नहीं गाओगी तो साहब बुरा मानेगें।"[268] शामनाथ की माँ ने विवाह का एक गीत सुनाया-

"हरिया नी माये, हरिया नी भैणे
हरिया ते भागी भरिया है।"[269]

चीफ ने माँ के हाथों की बनी फुलकारियां देखी जो उसे बहुत पसन्द आई। शामनाथ ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए साहब को नई फुलकारी बनाकर देने का वायदा किया। माँ के मना करने पर कि वह अब इस उम्र में फुल्कारी नहीं बना सकती, शामनाथ ने उसकी बात को नजरअंदाज कर दिया और चीफ से कहा कि माँ उसके लिए फुल्कारी जरूर बना देगी। "वह जरूर बना देगी। आप उसे देखकर खुश होंगे।"[270] शामनाथ को माँ की विवशता के बावजूद साहब की खुशामदगी आवश्यक थी। क्योंकि वह सोच रहा था कि साहब खुश होगें तो उसे तरक्की मिलेगी। शामनाथ अवसरवादिता व स्वार्थपूर्ति की साक्षात मूर्ति है। परन्तु विडंबना की बात तो यह है कि जिस माँ को वह अपनी तरक्की में बाधक मान रहा था, अंत में उसी माँ से मिलकर चीफ को प्रसन्नता हुई और उसे अब तरक्की की पूरी उम्मीद भी दिखने लगी। पात्र तथा चरित्र-चित्रण- शामनाथ इस कहानी का केन्द्र बिन्दु है जो अपनी पदोन्नति और भौतिक जीवन के सुख-क्षणों की प्राप्ति के स्वप्नों हेतु आर्थिक लाभ देखता है। उसने यह नहीं जाना की माँ के निःस्वार्थ प्रेम और भारतीय आदर्श को खोकर हम पश्चिमी सभ्यता के जाल में फँसने जा रहे हैं। शामनाथ के प्रतिनिधि आज के भारतीय परिवारों में बहुसंख्यक है। यह द्विधात्मक स्थिति मनुष्य के चरित्र का खण्डन करती जा रही है। शामनाथ की पत्नी-पति के स्वार्थ से गाँठ बांधे हुए हैं। उनकी मान्यता भी ऐसी ही है जैसे शामनाथ की। माँ है कि बुढ़ापे में एक युग बिताकर नये युग की धरती का मोह-जाल पाले बैठी है। पुत्र की पदोन्नति का मोह उन्हें यहाँ तक खींच लाया कि घूँघट में रहने वाली भारतीय महिला अमेरिकन चीफ के समक्ष लोकगीत सुनाने को बाध्य हो जाती है। चीफ है कि भारतीय जीवन दर्शन की

[267] भीष्म साहनी : दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 13
[268] भीष्म साहनी : दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 15
[269] भीष्म साहनी : दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 17
[270] भीष्म साहनी : दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 17

पहचान करने में तत्पर है। नाटक और कहानी में कुछ अंतर है। जब कोई कथा मंच पर जाती है, उस स्थिति में दृश्यों के संयोजन पर काम किया जाता है।

"शामनाथ ब्रीफकेस उठाए हुए बाहर से आते हैं। बैठक अस्त-व्यस्त है, सोफ़े पर कम्बल, बीच वाली तिपाई पर राखदानी सिगरेट के टुकड़ों से अटी हुई, डाइनिंग टेबल की कुर्सी यहाँ पहुँच गई है और सोफ़ा कुर्सी के सामने टेढ़ी-सा पड़ा है। एक जगह किसी बच्चे के जूते रखे हैं। एक कोने में तिपाई पर बैठी शामनाथ की माँ। मुंह-सिर लपेटे माला जप रही है। शामनाथ डाइनिंग रूम में जाते हैं तो डाइनिंग टेबल पर अभी भी लंच की जूठी प्लेटें पड़ी हैं। एक कमरे से दूसरे कमरे में जाते हुए वह क्षुब्ध हो उठते हैं।

(नौकर रोज के अनघुले मुचड़े कपड़े पहने सामने आकर खड़ा हो जाता है।)
नौकर : साहिब, आपके लिए चाय लाऊं।
शामनाथ : (क्रोध से मुड़कर) भाड़ में जाए, चाय। कहाँ हैं तुम्हारी मेम साहिब? अभी तक तुम लोगों ने कुछ भी तैयारी नहीं की?
(आवाज़ सुनकर शोभा अन्दर आती है। बाल उलझे हुए, ड्रेसिंग गाउन पहने।)
शोभा : क्यों बिगड़ रहे हो?
शामनाथ (घड़ी देखकर) जानती हो, वक्त क्या हुआ है?
शोभा : (अपनी कलाई पर बँधी घड़ी की ओर देखकर) तो मैं क्या करूँ, सुबह से लगी हूँ। मैं मशीन तो नहीं हूँ। घर में ले-देकर एक नौकर है, मैं क्या क्या करवाऊँ...फिर इतना घबराते क्यों हो, अभी बहुत वक़्त है, पाँच ही तो बजे हैं।
शामनाथ : पाँच बज रहे हैं और तुम कहती हो अभी बढ़त है। सात बजे तो वे लोग आने लगेंगे। यहाँ भी काम मुझे ही देखना पड़ता है।"[271] इस तरह नाटक की शुरुआत होती है जबकि कहानी में किसी तरह के नौकर का कोई जिक्र नहीं है। जहाँ शामनाथ नाटक में नौकर और पत्नी पर गुस्सा होता है वहीं कहानी में तैयारी को लेकर पत्नी से आकर बात करता है। इसके बाद के सम्वाद कहानी में इतने पर्याप्त मात्रा में हैं कि नाटक में नए संवाद न के बराबर लिखे गए हैं। इसका नाट्य रूपान्तरण भी भीष्म साहनी ने किया है इस कारण संवाद और दृश्यों को लेकर अधिक जद्दोजहद नहीं हुई।

[271] भीष्म साहनी : दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 11

3.2.2 संवाद के स्तर पर

'चीफ़ की दावत' के संवाद चुटीले और व्यंग्यात्मक है। कहानीकार ने नयी कहानी की संवाद शैली को मानव मनोविश्लेषण के समायोजन में प्रयुक्त किया है। मन की गहरी चाल मनुष्य की छवि को धूमिल भी कर देती है। पात्रों की स्वाभाविक विकासोन्मुख भावना आधुनिकता की चीख से टकराकर चोट खा जाती है। संवादों के द्वारा कथानक को खींचेन का प्रयास कहीं तो सार्थक है और कहीं महंगा साबित होने लगता है। छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा कथानक का बौनापन सिद्ध होता है। शब्दों और वाक्य विन्यास की ध्वनियों में अर्थ की व्यंजना होती है।

"शामनाथ- तो इन्हें कह देंगे कि अन्दर से दरवाजा बन्द कर लें। मैं बाहर से ताला लगा लूंगा।
पत्नी- और जो सो गई तो? डिनर का क्या मालूम कब तक चले। ग्यारह-ग्यारह बजे तक तो तुम लोग ड्रिंक ही करते हो।
शामनाथ- अच्छी भली यह भाई के पास जा रही थी। तुमने यूँ ही कुछ अच्छा बनने के लिए बीच टाँग अड़ा दी।
पत्नी- वाह तुम माँ और बेटे की बात में मैं क्यों बुरी बनूँ? तुम जानो और वह जानें।"[272]

एक निश्चित समय और सीमायें आधुनिक फैशन परस्त परिवार का वातावरण साहनी जी ने तैयार किया है जो अपनी संस्कृति और प्रकृति के प्रतिकूल अपना झण्डा ऊँचा करता है। यह मध्यम वर्गीय परिवार का वातावरण अपने आइने के बाहर नये रूप को झाँकने के प्रयास में चूर-चूर होने लगता है। एक तरफ पुरानी पीढ़ी अपनी पुरातन मान्यताओं को लेकर बैठी है और दूसरी ओर नयी पीढ़ी अपने नयेपन के बोध को लेकर समाज में बदलाव चाहती है। 'चीफ की दावत' कहानी में भीष्म साहनी ने व्यवहारिक हिन्दी भाषा का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। जिसमें उर्दू, अंग्रेजी, पंजाबी व स्थानीय भाषा के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। भाषा शैली पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसमें भाषा पूर्वाग्रह युक्त और लोक परक हैं। भीष्म साहनी ने 'चीफ की दावत' में युवा पीढ़ी के संवेदनहीन व्यवहार को चित्रित किया है। वे सामाजिक यथार्थ से जुड़े हुए कथाकार थे, जिन्होने शामनाथ के माध्यम से शिक्षित वर्ग के अशिक्षित आचरण को दर्शाया है तथा स्वार्थी बेटे की स्वार्थी भावनाओं को कहानी के माध्यम से उजागर किया है। उन्होने युवा पीढ़ी को यह अहसास दिलाने की कोशिश की है कि हमे रिश्तों की पवित्रता को नहीं भूलना चाहिए और अपने घर में बुजुर्गों के प्रति लगाव रखना चाहिए। उन्हे बोझ समझकर नहीं बल्कि अपनेपन की भावना से रखना

[272] भीष्म साहनी : प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 16

चाहिए। कहानी में आए संवाद एक और पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के द्योतक होते हैं तथा दूसरी ओर कथावस्तु से विकास में भी सहायक होते हैं। प्रस्तुत कहानी के संवाद कहानी की इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। संक्षिप्तता, गतिशीलता, स्वाभाविकता तथा व्यंग्यात्मकता संवाद- योजना की प्रमुख विशेषताएँ हैं-

"माँ हाथ मिलाओ"
…यूँ नहीं, माँ! तुम तो जानती हो, दायाँ हाथ मिलाया जाता है। दायाँ हाथ मिलाओ"
मगर तब तक चीफ माँ का बायाँ हाथ ही बार-बार हिलाकर कह रहे थे,
"हाउ डू यू डू"
"कहों माँ, मैं ठीक हूँ, खैरियत से हूँ।"
माँ कुछ बड़बड़ाई।
"माँ कहती है, मैं ठीक हूँ। कहो मा, हाउ डू यू डू।"
माँ धीरे से सकुचाते हुए बोली "हो डू डू।"[273]

इस रूप में संवादों में गतिशीलता और सरलता है, इसीलिए संवाद सर्वत्र स्वाभाविक हैं। एक छोटे से प्रसंग में लेखक तीनों पात्रों के चरित्र की प्रायः सभी विशेषताओं को उभारने में सफल हुआ है। प्रस्तुत कहानी के संवादों में नाटकीयता का गुण भी विद्यमान है। पात्रों के वार्तालाप में उतार चढ़ाव वैसा ही दृष्टिगोचर होता है जैसे कि नाटकों के संवादों में प्रायः पाया जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि उसमें उत्तर-प्रत्युत्तर की विशेषता अधिक विद्यमान होती है।

"माँ साहब कहते हैं, कोई गाना सुनाओ। कोई पुराना गीत तुम्हें तो कितने ही याद होंगे।
माँ धीरे से बोली, "मैं क्या गाऊँगी बेटा मैंने कब गाया है?"
"वाह माँ! मेहमान का कहा भी कोई टालता है?"
"साहब ने इतनी रीझ से कहा है, नहीं गाओगी, तो साहब बुरा मानेंगे?"
"मैं क्या गाऊँ, बेटा! मुझे क्या आता है?"[274]

इस प्रकार प्रस्तुत कहानी के संवाद सजीव और सारगर्भित हैं, साथ ही माँ की मानसिक हलचल उनके संवादों के माध्यम से हुई है। मनोविज्ञान का सहारा लेकर लिखे गए इन संवादों में सर्वत्र ही पात्रानुकूलता है। चीफ की दावत कहानी में दो पंजाबी लोकगीतों का जिक्र हुआ है। एक

[273] भीष्म साहनी : प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 20
[274] भीष्म साहनी : प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 22

टप्पे के रूप में और दूसरा विवाह के अवसर पर गाया जाने वाला एक लोकगीत है। टप्पा पंजाबी भाषा में रचित लययुक्त एक लघु रचना होती है, जिसे तीन पंक्तियों में लिखा जाता है। मूल रूप से ये डेढ़ पंक्ति की रचनाएँ थी, पहली पंक्ति आधी और दूसरी पूरी काफ़िये-रदीफ़ से मिल कर एक स्वाभाविक लय पैदा करती है। साहब इस पर खुश नजर आए। "बोले- सच? मुझे गाँव के लोग बहुत पसंद हैं, तब तो तुम्हारी माँ गाँव के गीत और नाच भी जानती होंगी? चीफ खुशी से सिर हिलाते हुए माँ को टकटकी बाँधे देखने लगे।"[275]

"वाह! कोई बढ़िया टप्पे सुना दो। दो पत्तर अनाराँ दे
दो पत्तर अनाराँ दे -- टप्पा शैली में गाया जाने वाला बहुत प्रसिद्ध लोकगीत है ।"[276]

दूसरा लोकगीत एक सुहागगीत है। विवाह के अवसर पर स्त्रियां यह गीत गाती हैं। इनमें वधु के मायके से दूर जाने की वेदना, नए जीवन को लेकर हँसी -ठिठोली आदि होती हैं। भारतीय संस्कारों में ये सुहाग गीत विवाह के संस्कार का अहम हिस्सा होते हैं। कहानी में माँ एक पंजाबी सुहागगीत की कुछ पंक्तियाँ चीफ को सुनाती है। माँ बैठ गईं और क्षीण, दुर्बल, लरजती आवाज में एक पुराना विवाह का गीत गाने लगीं - "हरिया नी माए, हरिया नी भैणे हरिया ते भागी भरिया है"[277] चीफ की दावत कहानी का मूल स्वर आधुनिक शिक्षित पीढ़ी की स्वार्थपरता, वृद्धों की दुर्दशा पर केंद्रित है। इस मूल स्वर की अभिव्यक्ति के लिए जो परिवेश गढ़ा गया है, उसमें पंजाबी लोककला व लोकगीत एक अभिन्न अंग बन कर उभरे हैं। यह भीष्म साहनी जी का लेखकीय कौशल है कि कहानी के कथ्य में उन्होंने कला व संस्कृति के महीन बिंदुओं को बड़ी सहजता से गूंथ कर प्रस्तुत किया है। माँ को कई प्रकार की हिदायतें देकर शामनाथ छुपाने के यत्न करता है। उसे लगता है कि चीफ का कहीं माँ से आमना-सामना हुआ तो माँ उसके लिए शर्मिंदगी साबित होगी। चीफ से माँ का सामना हो जाता है। जहाँ शामनाथ पाश्चात्य रंग में रंगा भारतीय है! वहीं चीफ अमरीकन होकर भारतीय संस्कृति व लोककलाओं का मुरीद है। वह शामनाथ से पंजाब की दस्तकारी के बारे में पूछता है। तालियाँ थमने पर साहब बोले "पंजाब के गाँवों की दस्तकारी क्या है? शामनाथ खुशी में झूम रहे थे। बोले ओ, बहुत कुछ - साहब! मैं आपको एक सेट उन चीजों का भेंट करूँगा। आप उन्हें देख कर खुश होंगे।"[278] मगर साहब ने सिर हिला कर अंग्रेजी में फिर पूछा "नहीं, मैं दुकानों की चीज नहीं माँगता। पंजाबियों के घरों में क्या बनता है, औरतें खुद क्या बनाती

[275] भीष्म साहनी : दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 17
[276] भीष्म साहनी : दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 28
[277] भीष्म साहनी : प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 19
[278] भीष्म साहनी : प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 23

हैं?"[279] शामनाथ कुछ सोचते हुए बोले "लड़कियाँ गुड़ियाँ बनाती हैं, और फुलकारियाँ बनाती हैं।"[280] चीफ फुलकारी के बारे में ज्यादा जानना चाहता है। पंजाबी दस्तकारी के प्रति उसकी रुचि है। यहाँ फुलकारी नाम की पंजाबी कढ़ाई महत्वपूर्ण हो जाती है। जो माँ एक बोझ थी! वह अब महत्वपूर्ण हो जाती है। माँ फुलकारी बनाने वाली कलाकार हो गयी है। उसके माध्यम से बेटे का चीफ प्रसन्न होगा! अब माँ फुलकारी बनाएगी। बेटे की तरक्की का रास्ता माँ की बनाई फुलकारी से होकर निकलेगा।

लोककला, लोकगीत लोक परम्परायें मानव जीवन के युगीन विकास की धरोहर हैं। मनुष्य ने प्राचीन आदिम मानव से विकसित सभ्य होने की प्रक्रिया में जिन मूल्यों को सहेजा वे कला व संस्कृति के संस्कार हैं। लोककलाएँ किसी सभ्यता, क्षेत्र की समस्त अस्मिता व विकास चेतना का जीवंत स्वरूप होती हैं। एक स्थान विशेष के लोकगीत, दस्तकारी, लोककलाएँ वहाँ के परिवेश, निवासियों के क्रमिक विकास व सभ्यता के द्योतक होते हैं। इनके माध्यम से एक सभ्यता के मूल में निहित संस्कारों की अभिव्यक्ति होती है। कहानी में संवाद को इसी तरह से पिरोया है और नाटक में भी इन्हीं गीतों को संगीतबद्ध किया गया है।

[279] भीष्म साहनी - दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 19

[280] भीष्म साहनी : प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 23

3.2.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

इस कहानी में नाट्य तत्व मौजूद है और उसका इस्तेमाल अभिनेताओं ने बखूबी किया है। आधुनिक दिखने की चाह में मध्यवर्गीय व्यक्ति किस प्रकार प्रदर्शनप्रिय होता जा रहा है, यह भी कहानी में बखूबी दिखाया गया है। वह बूढ़ी मां चीफ़ की दावत के समय प्रदर्शन योग्य वस्तु नहीं बल्कि कूड़े की तरह कहीं छुपाने की वस्तु हो गई है अर्थात् उसे अपनी मां घर में पड़े किसी कोने में कूड़े करकट की भांति दिखाई देती है। "कुर्सियां, मेंज, तिपाइया, नैपकिन, फूल बरामदे में पहुंच गए। ड्रिंक का इंतजाम कर दिया गया। घर का फालतू सामान अलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। अचानक शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गई, मां का क्या होगा?"[281] यह कहानी प्रश्नचिन्ह लगाती है कि यह कैसी विडंबना है कि एक स्त्री मां की सामान और वह भी अनावश्यक सामान तक की श्रेणी में डाल दी जाती है वह भी केवल आर्थिक उन्नति के लिए। आधुनिक पीढ़ी विशेषकर, मध्यवर्गीय कितना स्वार्थी हो गया है कि वह मनुष्य एवं रिश्तों को वस्तुओं की तरह प्रयोग कर रहा है। इस स्वार्थी वृत्ति को भीष्म साहनी ने बड़ी ही तीक्ष्णता के साथ व्यक्त किया है। इसी तरह कई ऐसी स्थितिओं के विषय में अभिनेता की अभिव्यक्ति और भी गंभीर नज़र आती है। फालतू वस्तुओं में गिना गया मां का चरित्र जब चीफ़ के सामने अनायास ही आता है तब उनको वह पसंद आता है और मां द्वारा बनाई गई फुलकारी को वह बेहद पसंद करता है तब शामनाथ उसे कूड़े में पड़े हीरे की भांति पोंछ-पोंछ कर चीफ़ को दिखाता है। जिस मां को वह अपनी तरक्की में बाधक महसूस कर रहा था उसी मां की वजह से उसकी पदोन्नति होती है। मध्यवर्ग का प्रतीक शामनाथ अपने दोहरेपन को दिखाते हुए मां की खुशामद करने में लग जाता है क्योंकि यदि मां खुश नहीं हुई तो फुलकारी नहीं बन पाएगी और चीफ़ खुश नहीं हुए तो उसकी तरक्की नहीं हो पाएगी। वह अपनी तरक्की मिलने की आड़ में मां को काम करने के लिए मजबूर कर देता है परंतु मां तो वही मां है पुरानी-परंपरागत, वह न तो पढ़ी-लिखी है, न मध्यवर्गीय और न ही आधुनिक। वह तो केवल मां है जिसे अपनी संतान की खुशी पर से मतलब है। इस संदर्भ में आलोचक मधु सिंह लिखती हैं "शामनाथ मां को इस घर से उस घर तक छिपाता फिरता है। नवीनता यह है कि मां इस पर नाराज नहीं, क्योंकि वह भी अपने बच्चे के भविष्य के लिए चिंतित है पर अपनी परिस्थिति पर संकुचित अवश्य है।"[282] यह अभिनेता की मांग है कि उसके सामने किसी एक दृश्य को लिख देने से उसके भीतर मौजूद अभिनय तत्वों से अभिव्यक्ति करे। इस कहानी की

[281] भीष्म साहनी - प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 19

[282] भीष्म साहनी : प्रतिनिधि कहानी, पृष्ठ संख्या 22

विशेषता यही है कि एक अभिनेता के स्तर पर आपके पास बहुत स्कोप है। कुछ चीजें मंच और कुछ चीजें संगीत के माध्यम से दिखाया जा सकता है।

यह कहानी बहुत ही संवेदना लिए हुए है इस कारण इसके मंचन और इसके अभिनेता भी बहुत ही संवेदनशील होने आवश्यक हैं। आज के दौर में इस कहानी पर लघु फिल्म इत्यादि भी बन रही हैं जिनमें कथानक और लोक संवादों को बड़े स्तर पर दिखाया गया है। इस कहानी में कुल चार पात्र हैं लेकिन नाटक में कई नए कलाकारों ने अभिनय किया है। नाट्य रूपान्तरण में भीष्म साहनी ने एक नौकर, चीफ की बीवी, दोस्त, बच्चों को भी जोड़ा है जो कि कहानी में नहीं है। इसका मुख्य पात्र कोई एक नही है अपितु कई हैं। एक दृष्टि में हम कह सकते हैं कि शामनाथ मुख्य पात्र है तो उसकी माँ बराबर सहयोग करती है। वहीं दूसरी ओर माँ को मुख्य पात्र माना जाए तो चीफ भी मुख्य पात्र का प्रबल दावेदार है क्योंकि उसके लिए ही सब कुछ होता है और वही सब चीजों के होने का कारण है। इस कहानी का और नाटक का नामकरण घटना पर आधारित है इस कारण इसके कई मुख्य पात्र हो सकते हैं। अभिनय की दृष्टि से सभी पात्रों के पास अभिव्यक्ति के पूरे साधन और समय मौजूद है। शामनाथ एक मध्यवर्गीय परिवार का मुखिया तथा अपनी तरक्की के लिए कुछ भी कर सकने के लिए तैयार है। उसके बाद उसकी पत्नी जो उसके हर कृत्य में उसका साथ देती है।

नाटक में कुछ भाव और क्रियाकलाप कोष्ठक में दिए हुए हैं जिनसे अभिव्यक्ति और भी प्रभावी हुई है "दोनों पति-पत्नी बड़ी मुस्तैदी से काम पर जुट जाते हैं। शामनाथ कम्बल उठाकर बगल वाले कमरे में फेंक आता है, खूँटी पर लटका हुआ कपड़ा- यह क्या ड्राइंग रूम में टाँगनेवाली चीज़ है? कहकर साथवाले कमरे में पटक देता है। कुर्सी उठाकर डाइनिंग रूम में रख आता है। उधर शोभा डाइनिंग टेबल पर से प्लेटें उठाती हैं, नया कपड़ा बिछाती है। दो बढ़िया गुलदान मेज़ पर रखती है जिनमें गुलदस्ते सजे हैं, फिर बेडरूम की आलमारी खोलकर बढ़िया कटलरी सेट निकालती है, चमचमाते छुरियाँ, काँटे निकालकर मेज़ पर रखती है। फिर सहसा कुछ सोचकर ड्राइंग रूम के दरवाज़े पर जा खड़ी होती है। शामनाथ फ़र्श पर से बेटे के जूते उठाकर सोने वाले कमरे में आलमारी के नीचे फेंकता है। कुछ अन्य चीजें भी उठा-उठाकर आलमारी के नीचे या पेटी के नीचे फेंकता जाता है।"[283] नाटक में उसके व्यवहार में कुछ बदलाव किए गए हैं। जहाँ वह पहले अपने पति से लड़ने को तैयार होती है लेकिन बाद में सब कुछ संभाल लेती है। इसके बाद माँ के पास संवेदना की कोई कमी नहीं है। अभिनय के बहुत सारे स्कोप माँ के किरदार में हैं। डरना, सकुचाना,

[283] भीष्म साहनी - दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 14

शर्माना, खुश होना आदि भाव उसके चरित्र में नज़र आते हैं। नाटक में चीफ के दोस्तों और बॉस की पत्नी के साथ कलाकारों की बातचीत भी दिखाई गई है।

"चौकी पर बैठी, माला जप रही हैं। माँ चौककर आँखें खोल देती हैं। मुँह पर से पलना हटाती है।
माँ : आ गए बेटा? आज हमारे घर तुम्हारा बड़ा साहब आने वाला है ना। मुझे मालूम है। (मुस्कराकर) में भगवान से बार-बार यही प्रार्थना कर रही हूँ कि सब काम सुभीते से हो जाए। बड़ा साहब यहाँ से खुश-खुश जाए। बड़ा साहब हर किसी के घर थोड़े ही जाता होगा। उसने तुम्हारे गुण देखे होंगे तभी तुम्हारी दावत कबूल की है। लाखों पर तुम्हारी कलम हो बेटा। बड़े आदमियों के जहीं पाँव पड़ते हैं यहाँ बड़ी बरकत होती है। फिर से मुस्कराकर सिर हिलाती हैं।
शामनाथ : सुनो माँ, तुम एक काम करो। तुम आज जल्दी खाना खाकर अपने कमरे में चली जाना। ये लोग सात बजे आएंगे, तुम पहले ही खा-पीकर के...
माँ : आज तो मैं कुछ नहीं खाऊँगी, बेटा।"[284]
इनके अतिरिक्त बच्चों से भी संवाद का दृश्य नाटक में अभिनीत किया गया है जिससे यह परिवार संयुक्त परिवार की तरह नज़र आए।
"(माँ झिझकती हुई कुर्सी पर पाँवों को ऊपर चढ़ाकर बैठने लगती है) यों पावों को ऊपर चढ़ाकर नहीं, माँ, यह खाट नहीं है। पांवों को नीचे करो। जहाँ बैठती हो, पाँव ऊपर चढ़ा लेती हो।
(माँ झट से पैर नीचे कर लेती है। शामनाथ फिर उसे ऊपर से नीचे तक देखता है।)
शोभा : अब याद रखना। ध्यान से सुन लो माँ। पहले तुम बरामदे में यहाँ कुर्सी पर बैठोगी। जितनी देर तक हम लोग बैठक में बैठेंगे, तुम इधर बरामदे में बैठी रहना। जब हम लोग बैठक छोड़कर बरामदे में आएँगे, उस वक्त तुम पीछे से गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाना। बस! और वहाँ सो नहीं जाना। जब वे लोग अपने-अपने घर जाने लगें तो तुम गुसलखाने के रास्ते फिर अपनी कोठरी में चली जाना। (बच्चों का प्रवेश) कहाँ थे तुम इतनी देर तक रमेश?
रमेश : हम पप्पू के घर में खेल रहे थे।
शामनाव: तुम्हें मालूम नहीं था आज घर में मेहमान आने वाले हैं? जाओ और जल्दी से मुँह हाथ धोवो और फ़ौरन खाना खा लो।
रमेश : इतनी जल्दी, पापा कल तो छुट्टी है। आज हम देर से खाना खाएंगे।
शामनाथ: देर-वेर कुछ नहीं, मेहमानों के आने से पहले खाना खा लो और फिर अपने कमरे में चले जाओ।

[284] भीष्म साहनी - दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 16

रमेश : कमरे में नहीं, पापा, हम तो दादी माँ से कहानी सुनेंगे। (रमेश दादी माँ के गले लिपट जाता है।) सुनाओगी ना, दादी माँ?

शामनाथ : आज कोई कहानी-वहानी नहीं होगी। माँ ने तुम्हें बिगाड़ रखा है।

लड़की : क्यों पापा? कल तो छुट्टी है। आज किसलिए जल्दी खाना खाकर सो जाएँ। आज तो हम खेलेंगे। और कहानियाँ सुनेंगे। इस बीच शोभा तैयार होने चली गई है। दोनों बच्चे दादी माँ के गले से लिपट रहे हैं।"[285]

नाटक में शामनाथ के ऑफिस के लोग और चीफ की पत्नी की बातें भी बड़े ही नाटकीय ढंग से अभिनीत की गई है।

"बाँस तो अपने घर में तुम मुझे औंधा पड़ा देखना चाहते हो। (सभी हँसते हैं।)

सूरी : नहीं सर, आप में बड़ा सेंस ऑफ ह्यूमर है, सर।

बॉस : (घड़ी की ओर देखकर) देर भी तो बहुत हो रही है।

सेठी : दि नाइट इज यंग, सर, देर का तो हमें खयाल होना चाहिए, आप तो बॉस हैं, आपको देर-सवेर की क्यों चिन्ता होने लग?

बॉस : मैं भी तो मज़दूर हूँ। काम करने वाला हर आदमी मज़दूर होता है।

सूरी : यह सही है, सर। आपने बहुत अच्छा कहा। मजदूर वह है जो काम करता है। भले ही वह सेलून कार में बैठे या चप्पल घसीटता, काम पर जाए। बहुत खूब आप में बड़ा सेंस ऑफ ह्यूमर है, सर

सेठी: मगर अभी तो पार्टी शुरू हुई है, सर। अभी तो शोभा जी गाना। सुनाएँगी। सभी तालियां बजाते हैं।

सूरी : थ्री चियर्स फोर शोभा जी। शोभा जी साहिब का आग्रह है कि आप कोई गीत सुनाएँ।

शोभा : मैं कहाँ गाती हूँ। (झूठ-मूठ शरमाती हैं)

सेठी : हम सब जानते हैं कि आप गाती हैं।

सूरी : और शामनाथ साथ में तबला बजाता है। सभी खी खी करके हंसते हैं।"[286]

चीफ भी बहुत ही शालीन और लोक में जीने वाला व्यक्ति है। ऊपर से वह विदेशी है लेकिन भीतर के मन से वह पूरी तरह जमीन से जुड़ा हुआ व्यक्ति है।

---

[285] भीष्म साहनी - दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 22

[286] भीष्म साहनी - दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 36

बॉस : (माँ से आप बहुत दिन देहात में रही हैं?

शामनाथ : पूरी देहातिन हैं, सर। वरना कुर्सी पर टाँगे चढ़ाकर कौन बैठता है, सर

बॉस : क्यों, जैसे उनका मन आए बैठें उनका अपना घर है। बॉस के चेहरे पर ख़ुशी का भाव है जैसे वह बुढ़िया से मिलकर बहुत खुश हुआ है। कुछ नशे के कारण भी। (शामनाथ से) पंजाब के गीत बहुत बढ़िया होते हैं। मैंने वहीं पर सुने थे। दूर, बड़े-बड़े मैदानों में, खुले आकाश के नीचे किसानों के गीत सुनाई पड़ते हैं। (माँ से) माँ जी कोई पंजाबी का गीत सुनाइए। बैठिए, बैठिए आप खड़ी क्यों हैं। (शामनाथ, यह देखकर कि बॉस, माँ से मिलकर खुश हुआ है, का रवैया भी माँ के प्रति बदल जाता है) सुनाओ माँ, सुनाओ (बॉस से) इन्हें सचमुच बहुत से गीत आते हैं। बहुत अच्छा गाती हैं। बचपन में हमने इनके मुंह से कितने ही गीत सुने हैं।"[287] इनके अभिनय और चरित्र में कई सारी ऐसी चीजें शामिल है जिनसे इनका किरदार और भी मजबूत हुआ है। पूरे नाटक के दृश्यों में बहुत से नए पात्रों का सृजन किया गया है और अभिनय और सम्प्रेषण के भाव को अधिकता दी गई है।

[287] भीष्म साहनी - दावत (नाटक), पृष्ठ संख्या 39

3.2.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी लखनऊ इमेन्स आर्ट एंड कल्चरल सोसायटी ने चीफ की दावत का मंचन किया गया। भीष्म साहनी की प्रसिद्ध कहानी चीफ की दावत में वकार अहमद, निशा, विक्रम कत्याल, संदीप, सुब्रत, अबरार, स्मृति, कविता दोहरे, अमन गंगोलिया, नेचर भार्गव ने अपने असरदार अभिनय से दर्शकों को बांधे रखा। भीष्म साहनी स्वयं थिएटर की दुनिया से भी नज़दीक से जुड़े रहे और उन्होंने इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन में काम किया। जहाँ उन्हें बड़े भाई बलराज साहनी का सहयोग मिला। इनकी कहानियों के मंचन में नाटकीयता के तत्त्व पहले से मौजूद रहते हैं जिनसे निर्देशकों और नाट्य रूपान्तरणकर्ता को विधा बदलने में ज्यादा परेशानी का सामना नहीं करना पड़ता है।

सुपरिचित कवि और आलोचक अजित कुमार ने हिन्दू कालेज में हिन्दी नाट्य संस्था 'अभिरंग' द्वारा भीष्म साहनी की लोकप्रिय कहानी 'चीफ की दावत' के मंचन के अवसर पर कहा कि नौजवानों के इस समारोह में आकर वे सचमुच प्रसन्नता और सार्थकता का अनुभव कर रहे हैं। इससे पहले 'अभिरंग' के युवा अभिनेताओं ने इन दोनों कहानियों का प्रभावशाली मंचन किया जिसमें माँ और शामलाल की भूमिकाएं शिवानी और आदर्श मिश्रा ने निभाई। चीफ के रूप में अतुल शुक्ला और सेठी के रूप में वहीं वेश्या में दयाशंकर का अभिनय आदर्श और सिंगार सिंह का आशुतोष ने किया। उनकी कहानियाँ शिल्प ही नहीं अभिव्यक्ति की दृष्टि से काफ़ी आकर्षित करती हैं। जिस कारण अभिनय के नए आयाम देखने को मिलते हैं।

चंडीगढ़ आर्ट थिएटर की ओर से टैगोर थिएटर के मिनी ऑडिटोरियम में चीफ की दावत का मंचन हुआ। कई नाटक कम्पनियां नाटकों को अपना रंग देना चाहती हैं इस कारण उसमें आमूल चूल परिवर्तन कर के दिखाती हैं, चीफ की दावत में दिखाया शामनाथ का नाम मयंक किया गया, वह भी तरक्की पाना चाहता है। इसलिए वह अपने घर में बॉस को बुलाता है और अपनी अनपढ़ मां को घर के स्टोर रूम में बंद कर देता है। इसके बाद ही बॉस को अपने घर बुलाता है। उसका बॉस सबसे पहले पूरा घर देखने की बात करता है और इसी बीच उसकी नजर शामनाथ (मयंक) की मां पर पड़ती है। वह उन्हें बाहर बुलाकर उनसे बातें करता है और उन्हें फुलकारी बनाने को कहता है। जब वह फुलकारी लेने आता है तो मयंक से कहता है कि तुम्हें तरक्की तो मिल जाएगी लेकिन तुम्हें मां की कदर करनी नहीं आई। कहानी जस की तस है लेकिन पात्रों के नाम परिवर्तित कर दिए।

इड़ा सांस्कृतिक मंच के सदस्यों ने रचनात्मकता को बढ़ाने के लिए चीफ की दावत नाटक का मंचन किया। इस नाटक की पटकथा का लेखन और निर्देशन दोनों आशा शर्मा ने ही किया है। चीफ की दावत कहानी जितनी अपने लेखनकाल में प्रासांगिक थी उससे कहीं ज्यादा आज महत्वपूर्ण है। इस कहानी में पारिवारिक रिश्तों के अंतःसूत्र जिस अर्थतंत्र की दरकारों से जुड़े होते हैं उन्हें लेखक ने अपनी सूक्ष्म अन्तरदृष्टि से से बड़ी शिद्दत से पकड़ कर अभिव्यक्त किया है और मंच पर नाटक के कलाकारों ने प्रस्तुत किया। पारिवारिक महिला कलाकारों ने इस नाटक को बहुत मेहनत से इस नाटक को मंचन तक पहुंचाया। इस नाटक के खेलने में सबसे बड़ी खासियत यही थी इसमें सभी अभिनय महिलाओं ने किया लेकिन उसकी संवेदना को कम नहीं होने दिया।

इसमें मां की सशक्त भूमिका में ममता अग्रवाल, उनकी बुजुर्ग सहेली की भूमिका में शशिकला सिंह, दुष्ट मतलबी बेटे की भूमिका में दीपा बघेल, बेटे की घरेलू पत्नी की भूमिका में बिंदुलता तिवारी, अमरीकी आफिसर के रूप में रानी श्रीवास्तव और उनकी पत्नी के रूप में संध्या सिंह ने अपनी-अपनी भूमिका में दर्शकों को नाटक के उद्देश्य से परिचित कराया। रूप सज्जा मिताली सरकार, सदरून नियाजी, दीक्षा श्रीवास्तव की थी। पार्श्व संगीत आशीष शर्मा ने दिया। गायन सीमा करन का था। मंचीय व्यवस्था सुषा शिवहरे, अलख मिश्र, शोभा बिष्ट ने किया। फोटो ग्राफी प्रीति तिवारी, अंकिता जायसवाल की थी। दर्शकों ने बहुत अधिक संख्या में उपस्थित होकर बैठकर और खड़े होकर नाटक का आनंद लिया।

न्यू उत्थान थियेटर ग्रुप के कलाकारों द्वारा प्रस्तुत तथा भीष्म साहनी द्वारा लिखित कहानी चीफ की दावत का निर्देशन रंगकर्मी विकास शर्मा द्वारा किया गया। नाटक में आधुनिकता के रंग में डूबकर अपने माता-पिता का तिरस्कार करने वाले बच्चों के ऊपर करारा कटाक्ष किया गया। सूत्रधार के माध्यम से शुरु हुई नाटक की कहानी शामनाथ के इर्द गिर्द घूमती है, जहां अपने बॉस को खुश करने के लिए शामनाथ उन्हें घर पर दावत के लिए आमंत्रित करता है लेकिन अपनी मां के अनपढ़ व गांव की होने के कारण उसे बॉस के सामने आने से मना कर देता है। कहानी ऐसे ही आगे बढ़ती है, चीफ की दावत में मां की भूमिका में राजकुमारी शर्मा और बेटे शामनाथ की भूमिका में आश्रय शर्मा ने अपने अभिनय कौशल दिखाए। सूत्रधार स्वयं नाटक निर्देशक विकास शर्मा रहे।

3.3 फणीश्वर नाथ रेणु और मारे गए गुलफाम उर्फ तीसरी कसम

'मारे गए गुलफाम उर्फ तीसरी कसम' फणीश्वर नाथ 'रेणु' की एक प्रख्यात कहानी है। यह कहानी हीरामन नाम के एक ग्रामीण के मन में अकस्मात उपजे आकर्षण और प्रेम की कहानी है। 'रेणु' की इस कहानी को उनकी अन्य कहानियों से कहीं ज्यादा लोकप्रियता मिली है। इस कहानी को आधार बनाकर 1966 में 'तीसरी कसम' नाम से ही एक फिल्म का निर्माण हो चुका है। इसके अलावा, समय-समय पर इसका अनेक छोटे-बड़े मंचों से प्रस्तुतीकरण होता रहा है। 'मारे गए गुलफाम उर्फ तीसरी कसम' कहानी की लोकप्रियता और प्रसिद्धि को देखते हुए, इसे 1966 में बड़े पर्दे पर प्रदर्शित किया गया। "इस फिल्म का निर्माण गीतकार शैलेंद्र ने तथा निर्देशन बासु भट्टाचार्य ने किया। हीरामन और हीराबाई की भूमिका में प्रसिद्ध अभिनेता राज कपूर और मशहूर अभिनेत्री वहीदा रहमान हैं। शंकर-जयकिशन की प्रख्यात जोड़ी ने इस फिल्म में संगीत दिया है। फिल्म की पटकथा नबेंदु घोष और संवादों को स्वयं 'रेणु' ने तैयार किया है। यह फिल्म व्यावसायिक दृष्टि से अधिक सफल नहीं रही थी, किंतु आगे चलकर इस फिल्म के अदाकारों के बेहतरीन अभिनय को खूब पसंद किया गया।"[288] आज इस फिल्म को हिंदी की श्रेष्ठतम फिल्मों में शामिल किया जाता है। 1967 में 'तीसरी कसम' को राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार से सम्मानित किया गया। लगभग 2 घंटे 40 मिनट लंबी इस फिल्म का आधा भाग सफर में बीत जाता है। हीरामन अपनी बैलगाड़ी से कंपनी की नृत्यांगना हीराबाई को फरबिसगंज की ओर ले जाता है। वह अनेक गांवों, खेतों, खलिहानों, जंगलों, नदियों को पार करता हुआ जाता है। "फिल्म का यह अंश लोकगीतों और लोककथाओं से भरा हुआ है। हीरामन के मन में हीराबाई को देखकर पुरानी यादें ताजा हो आती हैं। वह हीराबाई को अपनी भाषा के लोकगीत और कथाएँ सुनाता है। कुल मिलाकर, फिल्म में यात्रा का दृश्य बहुत लंबा होने के बावजूद उबाऊ प्रतीत नहीं होता।"[289] सिनेमा के पास प्रत्येक चीज़ दिखाने का अवकाश होता है मंच पर इतना कुछ संभव नहीं लेकिन वर्तमान दौर में आधुनिक तकनीक के कारण मंच पर अब बहुत कुछ संभव हो पाया है। बैलगाड़ी, गाँव, सफ़र, गीत-गायन मार पीट, इत्यादि का मंचन सजीव का देखने को मिलता है। रेणु ने इस कहानी में जहाँ गाँव की भाषा दिखाई है वहीं मंचन के दौरान भदेस भाषा, ग्रामीण परिवेश, पोशाक, आभूषण, चाल-ढाल इत्यादि पर भी खूब काम किया गया है, जिससे इसका मंचन बहुत ही आकर्षक हो गया।

[288] दिलचस्प : हिंदी सिनेमा के 100 वर्ष, पृष्ठ संख्या 48

[289] दिलचस्प : हिंदी सिनेमा के 100 वर्ष, पृष्ठ संख्या 48

3.3.1 कथानक के स्तर पर

तीसरी कसम कहानी उर्फ़ मारे गए गुलफान फणीश्वरनाथ रेणु की सबसे अधिक लोकप्रिय कहानी हैं। इसमें उन्होंने बिहार प्रांत के ग्रामीण जीवन को उभारने का सफल प्रयास किया है। कहानी गांव के हीरामन गाड़ी वाले के जीवन को लक्ष्य करके लिखी गई है। हीरामन एक बार एक नौटंकी में काम करने वाली नृत्यांगना हीराबाई को अपनी गाड़ी में अत्यधिक दूर ले जाता है। हीराबाई गाड़ी में अकेली ही यात्रा करती है। उसका स्वरूप उसकी भाषा सब कुछ हीरामन को अच्छे लगते हैं। वहां हीराबाई की ओर आकर्षित और आसक्त हो जाता है। हीराबाई भी हीरामन को पसंद करने लगती है। कालान्तर में कहानी में कई उतार चढ़ाव आते हैं अंत तक आते आते किसी अन्य कंपनी में हीराबाई नौकरी लग जाने के कारण वह गांव छोड़ कर चली जाती है। इस प्रकार हीरामन की दुनिया फिर से सूनी हो जाती है।

"हिरामन गाड़ीवान की पीठ में गुदगुदी लगती है।

पिछले बीस साल से गाड़ी हाँकता है हिरामन। बैलगाड़ी। सीमा के उस पार मोरंग, राज नेपाल से धान और लकड़ी ढो चुका है। कंट्रोल के जमाने में चोर बाज़ारी का माल इस पार से उस पार पहुँचाया है। लेकिन कभी तो ऐसी गुदगुदी नहीं लगी पीठ में! कंट्रोल का जमाना! हिरामन कभी भूल सकता है उस जमाने को! एक बार चार खेप सीमेंट और कपड़े की गाँठों से भरी गाड़ी, जोगबनी से बिराटनगर पहुँचाने के बाद हिरामन का कलेजा पोख्ता हो गया था। फारबिसगंज का हर चोर-व्यापारी उसको पक्का गाड़ीवान मानता। उसके बैलों की बड़ाई बड़ी गद्दी से बड़े सेठ जी खुद करते, अपनी भाषा में...

गाड़ी पकड़ी गई पाँचवीं बार, सीमा के इस पार तराई में।"[290]

कहानी का प्रारम्भ ऐसे ही होता है वहीं नाटक के भी शुरुआत सूत्रधार के द्वारा बोल कर की जाती है। हीरामन प्रायः 20 साल से गाड़ी हांकता है। वह संभवतः सीमा के उस पार मोरंग, राज नेपाल से धान और लकड़ी ढोता रहता है। कई बार तस्करी का भी सामान ले जा चुका है। यह करते हुए उसके दिल में थकान हो गया है। एक सीमा के इस पार तराई में उसकी गाड़ी पकड़ी गई थी, जब वह बड़ी गद्दी के बड़े मुनीम जी को कपड़े की गांठों के साथ ले जा रहा था। उस समय उसने अपने बैलों के साथ अंधेरों में भाग कर अपनी जान बचाई थी। एक बार उसने 100 रुपया लेकर सर्कस कंपनी के बाघ ढोए थे किंतु आज हीरामन एक महिला को ले जा रहा था। नाम है हीराबाई। वह

[290] फणीश्वरनाथ रेणु : दस प्रतिनिधि कहानियां, पृष्ठ संख्या 123

पहले मथुरा मोहन नौटंकी में काम करती थी किंतु उसको छोड़ कर वह रीता नौटंकी में काम करने के लिए फारबिसगंज जा रही है। उसने चंपा का इत्र अपने कपड़ों में लगा रखा है। चंपा की सुगंध हीरामन को पागल बनाए दे रही है। "हीरामन के मन में हलचल होती है और वह हीराबाई से बातें करता है। हीराबाई एक चालाक नारी की भांति उस को बढ़ावा देती रहती है। हीरा को वह घटना याद आ जाती है कि जब वह इसी प्रकार अपने भाभी को बंद गाड़ी में लाया था। रास्ते में गांव की बोली ठिठोलो उसके कल्पना लोक में भेज देती है। जब वह इसी प्रकार अपनी दूसरी दुल्हन को लेकर आएगा। उसकी पत्नी मर चुकी है। विवाह के थोड़े ही दिन बाद।"[291] हीराबाई के प्रति हीरामन एक विचित्र लगाव पैदा हो जाता है। वह नहीं चाहता है कि अन्य कोई व्यक्ति हीराबाई को देखें अथवा हीराबाई से उसको बात करते समय उसको कोई देखे। कई गाड़ी वालों को आते जाते देखकर वह टप्पर का पर्दा डाल देता। लेखक लिखता है कि हीरामन कजरी नदी के किनारे ठहर जाता है। वह हीराबाई को हाथ मुंह धोने के लिए भेज देता है। हीराबाई के स्वयं लौट कर आ जाने के बाद वह स्वयं नदी पार जाता है। नहा-धोकर पास के गांव में दही चूड़ा ले आता है। तब तक हीराबाई सो जाती है। हीरामन सोई हुई हीराबाई को जगा कर कहता है, 'उठिए नींद तोड़िए दो मुट्ठी जलपान कर लीजिए।' पूरी औपचारिकता के पश्चात दोनों व्यक्ति जलपान करते हैं। "हीराबाई गाड़ी में और हीरामन दरी बिछाकर एक पेड़ के नीचे सो जाते हैं। दिन ढलने के समय दोनों एक साथ जगते हैं। हीरामन गाड़ी चला देता है। हीरामन प्रमुख सड़क छोड़कर कनकपुर वाली सड़क पर गाड़ी मोड़ देता है। यहां सड़क भी फारबिसगंज जाती है। आप तीसरी कसम कहानी सारांश पढ़ रहे हैं। हीरामन को महुआ घटवार इन की कथा याद आ जाती है और उसका रसिक स्वरूप मुखर हो उठता है।"[292] कथा के संदर्भ में वह दो-तीन गीत भी गाता है। हीराबाई उन गीतों को समझती है और उनका रस लेती है। गीतों को गाते गाते हीरामन भाव विभोर हो जाता है। उसकी आंखों में आंसू आ जाते हैं। हीराबाई हीरामन के गाने द्वारा प्रभावित होती है और उसका अपना गुरु एवं उस्ताद मान लेती है। हीरामन हीराबाई के लिए कानपुर पहुंच कर चाय ले आता है। वहां से चलकर रात के पहले पहर में वे लोग फारबिसगंज पहुंच जाते हैं। फारबिसगंज तो हीरामन हेतु घर की तरह है। यहां उसके अन्य गाड़ीवान साथी मिल जाते हैं। हीराबाई सबके लिए कौतूहल एवं आकर्षक का विषय बन जाती है। साथ ही सब लोग हीरामन को लक्ष्य करके छींटाकशी भी करते हैं। हीराबाई हीरामन को किराए भाड़े के 50 रूपए दे देती है। हीरामन को यह अच्छा नहीं लगता है। हीराबाई उसको अपनी स्थिति का एहसास करा देती है। हीरामन को मानो कोई आसमान से जमीन पर गिरा देता हो। हीराबाई हीरामन को रीता कंपनी में जाकर उससे भेंट करने के लिए कहती है।

[291] डॉ. सुषमा देवी : हिंदी नाटक- प्रयोग के संदर्भ में, पृष्ठ संख्या 51

[292] डॉ. सुषमा देवी : हिंदी नाटक- प्रयोग के संदर्भ में, पृष्ठ संख्या 52

नौटंकी प्रारंभ होती है हीराबाई पर लोग आवाजे करते हैं। हीरामन के साथियों को विशेषकर पलट दास को यह बुरा लगता है। थोड़ी सी कहासुनी के पश्चात मारपीट होने लगती है। पुलिस वाले अपना डंडा फटकारते हैं। नौटंकी का मैनेजर बीच में पकड़ कर पुलिस वालों को समझा देती है कि यह लोग हमारे आदमी हैं। मथुरा मोहन कंपनी के आदमी दंगा कराना चाहते थे। वे लोग उन्हीं लोगों को ठीक कर रहे हैं। करीब 10 दिन तक नौटंकी चलती है 10 दिन और 10 रात ऐसे ही व्यतीत हो जाते हैं। हीराबाई की सेवा करने में वह स्वयं को भाग्यशाली समझता है। "कहानी का घटनाक्रम सर्वथा रोचक है। उसके प्रति पालक की उत्सुकता बरकरार बनी रहती है। विशेष रूप क्या है कि प्रत्येक घटना के साथ एक मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व जुड़ा रहता है। कहानी का नामकरण सदैव सार्थक है हीराबाई को गाड़ी में बैठ कर उसने सहज भाव से एक नई दुनिया की कल्पना कर ली थी। उसने जो सपना देखा था वह झटके में टूट जाता है जब। हीराबाई उसको केवल दया का पात्र समझती है। वह तीसरी कसम खाता है कि वह कंपनी की औरत कभी गाड़ी पर नहीं बैठायेगा। दो कसमे वह एक अन्य घटना के संदर्भ में पहले ही खा चुका था। वह चोर बाजारी का माल कभी नहीं ला देगा तथा बांस की लदान किसी भाव नहीं करेगा चाहे कितनी भी मजदूरी क्यों ना दें।"[293] कहानी के भावबोध को भाव-भंगिमा और अभिनय के द्वारा प्रस्तुत करना कहानी का नाट्य रूपांतरण है। कथा, घटना या किसी प्रसंग को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करने की शैली से ही नाट्य रूपांतरण की तकनीक का विकास हुआ है। मानव समाज में कथा या कहानी कहने की एक सुदीर्घ परंपरा रही है। भाषा के विकास के साथ-ही संभवतः कहानी कला का भी विकास हुआ। "आरंभ से ही मानव अपने जीवनानुभवों को कहानियों की शक्ल देने लगा। शिक्षा और मनोरंजन के लिए कहानियाँ लिखी जाती थीं। बैठकों और चौपालों में लोग इकट्ठे होकर कहानियाँ कहते-सुनते और अपनी दिन-भर की थकान मिटाते। बच्चे तो आज भी दादी-नानी की कहानियाँ सुनकर बड़े होते हैं। अभिनय और रंगमंच के विकास से कहानी को एक नया रूप प्राप्त हुआ।"[294] अब कहानियाँ कहने-सुनने के साथ-साथ अभिनय करने एवं देखकर आस्वाद करने का विषय बन गईं। इससे न केवल कहानी का आस्वादन ही बढ़ा वरन अब वे अधिक समय तक स्मृतियों में बनी रह सकती थीं, क्योंकि सुनने की अपेक्षा दृश्य रूप का स्मृतियों से गहरा संबंध होता है।

नाट्य रूपांतरण स्वयं में एक स्वतंत्र विधा है, इसलिए कहानी का फिल्म या नाटक के रूप में हू-बहू रूपांतरण नहीं होता, बल्कि आवश्यकतानुसार उसमें कुछ बदलाव भी किए जाते हैं, अनावश्यक पात्रों और प्रसंगों को हटा दिया जाता है तथा नाटक या फिल्म की रोचकता और

[293] डॉ. सुषमा देवी : हिंदी नाटक- प्रयोग के संदर्भ में, पृष्ठ संख्या 54
[294] डॉ. सुषमा देवी : हिंदी नाटक- प्रयोग के संदर्भ में, पृष्ठ संख्या 55

प्रासंगिकता को देखते हुए कुछ नए प्रसंग भी जोड़े जाते हैं किंतु ये बदलाव मूल कथा या कथा के मूल भाव को नुकसान पहुंचाए बिना किया जाता है। इस नाटक में भी हुए कुछ परिवर्तनों को देखा जा सकता है। "भीड़ द्वारा हीराबाई को अपशब्द कहे जाने पर हीरामन का हीराबाई पर गुस्सा होना तथा उसे नौटंकी छोड़ने के लिए कहना, प्रत्युत्तर में, हीराबाई का हीरामन को झिड़क देना तथा अपनी निजी जिंदगी में दखल न देने के लिए कहना, जमींदार का हीराबाई के साथ जबरदस्ती करना तथा उसे पैसों का लालच देना आदि।"[295]

फणीश्वरनाथ रेणु की यह प्रसिद्ध कहानी एक भोले और सरल ग्रामीण के मन में अकस्मात प्रस्फुटित हुए प्रेम और आकर्षण को केंद्र में रखकर लिखी गई है। "हीरामन हीराबाई के साथ हुए पहले ही साक्षात्कार में अपना मन हार बैठता है। उसे अपनी गाड़ी पर हीराबाई की उपस्थिति एक अजीब-सी अनुभूति दे रही है। उसे अपनी पीठ पर गुदगुदी-सी लगती प्रतीत हो रही है। ऐसी गुदगुदी तो उसे पहले कभी नहीं महसूस की थी। उस समय भी नहीं जब वह चोरी के माल ढोया करता था। वह अभी सोच ही रहा था कि उसे हीराबाई की आवाज सुनाई दी। बच्चों-सी महीन और फेनूगिलासी बोली ने उसके मन को मोह लिया। इतनी जादूभरी आवाज तो उसने कभी नहीं सुनी थी। उसने चांदनी के प्रकाश में, कनखियों से हीराबाई की ओर देखा तो वह जैसे मंत्रमुग्ध हो गया। ऐसी खूबसूरती तो उसने अपने पूरे जीवन में नहीं देखी थी। हीराबाई के पहनावे और आभूषणों को वह बार-बार कनखियों से देखता किंतु उसका मन था कि भरता ही नहीं था।"[296] इसके बाद, हीराबाई ने बातचीत का सिलसिला शुरू किया। सफर के साथ बातचीत का क्रम भी बढ़ता रहा और दोनों के मन में एक-दूसरे के लिए अपनत्व का भाव भी बढ़ता गया। बातों-ही-बातों में 30 कोस का सफर कब कट गया इसका दोनों को बिल्कुल भी एहसास नहीं हुआ। फारबिसगंज आने पर कंपनी की नृत्यांगना हीराबाई कंपनी में चली गई। हीरामन हीराबाई के आग्रह पर नौटंकी देखने के लिए वहीं रुक जाता है। वह कई दिनों तक हर शाम नौटंकी देखने चला जाता है। उसे हीराबाई का अभिनय बहुत पसंद आता है। इसी बीच, नौटंकी देखने वाली भीड़ में-से कुछ लोगों ने हीराबाई को अपशब्द बोल दिया, जिसे सुनकर हीरामन जल-भुन जाता है। वह और उसके मित्र उन लोगों पर हमला कर देते हैं। हीराबाई को कोई कुछ बोले यह हीरामन के लिए असह्य था। नौटंकी के समापन के बाद हीराबाई वहाँ से जाने लगती है। वह स्टेशन पर हीरामन से अंतिम भेंट करती है। हीरामन उसके जाने की बात सुनकर बहुत उदास हो जाता है। उसे नहीं मालूम कि हीराबाई से उसका क्या रिश्ता है, किंतु वह एक ही मुलाकात में हीराबाई के हाथों अपना हृदय हार चुका है, वह

[295] डॉ. सुषमा देवी : हिंदी नाटक- प्रयोग के संदर्भ में, पृष्ठ संख्या 56
[296] डॉ. सुषमा देवी : हिंदी नाटक- प्रयोग के संदर्भ में, पृष्ठ संख्या 57

मौन है। वह हीराबाई से कुछ भी नहीं बोल पा रहा है। हीराबाई के मन में भी भोले और सीधे-सादे हीरामन ने स्थान बना लिया है। वह उसके मौन को समझ जाती है और उससे अपनी विवशता बताते हुए कहती है कि उसे कंपनी ने खरीद लिया है और न चाहकर भी उसे कंपनी के पास जाना होगा। हीराबाई ट्रेन में बैठकर चली जाती है और हीरामन ट्रेन के आंखों से ओझल होने तक उसे देखता रहता है। अंत में वह अपने जीवन की तीसरी कसम खाता है कि वह आगे से कभी कंपनी की किसी नृत्यांगना को अपनी गाड़ी पर नहीं बैठाएगा। यह कहानी अत्यंत भावपूर्ण और मार्मिक है और पूरी गहराई के साथ पाठक की संवेदना के साथ जुड़ जाती है। कहानी में सहजता के साथ-साथ प्रवाहमयता है जो अंत तक पाठक को कहानी से बांधे रहती है। बीच-बीच में लोककथाओं और लोकगीतों के प्रयोग ने कहानी को अधिक भावपूर्ण और सरस बनाया है।

कहानी और नाटक में दृश्यों के समायोजन में बहुत ज्यादा फर्क नहीं है। इस कहानी में लेखक ने पहले से ही नाटकीय तत्वों को इस तरह से लिखा है जिससे यह कहानी मंच से साथ-साथ सिनेमा पर भी दिखाई जा सकती है और दिखाई जा चुकी है। कथानक में किसी तरह का कोई बहुत ज्यादा बदलाव नहीं किया गया है जिस कारण नाटक में कहानी की मूल संवेदना बनी हुई है।

3.3.2 संवाद के स्तर पर

कहानी विधा के क्षेत्र में श्री फणीश्वरनाथ रेणु एक महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय कथाकार इसलिए माने जाते हैं, क्योंकि उन्होंने परम्परागत रूढ़ भाषा में अपनी कहानियों की रचना न करके अंचल-विशेष में प्रयुक्त होने वाली भाषा का प्रयोग किया है। यही कारण है कि उनकी कहानियों की भाषा जन-जीवन को तो सूक्ष्मता से रूपायित करती ही है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा यथार्थ के धरातल पर भी अवस्थित है। यही गुण उनकी तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' कहानी में भी परिलक्षित होता है। उनकी आंचलिक भाषा सहज एवं स्वाभाविक होने के साथ-साथ प्रभावशाली, सशक्त तथा सार्थक भी है। तीसरी कसम कहानी को संवाद की शैली और बातचीत के माध्यम से ही लिखा गया है जिस कारण नाटक में संवाद योजना गढ़ने में किसी तरह की कोई परेशानी नहीं हुई है रेणु ने इसकी भाषा ग्रामीण रखी है, इसीलिए यह स्वाभाविक हो जाता है कि पात्रों को उनकी कहानियों में अंचल विशेष की भाषा का प्रयोग संवादों को लिखा और बोला जाए, जिससे उस ग्राम्यांचल में रहने वाले लोगों के जीवन को सरलता से समझा जा सकता है-

"भय्या तुम्हारा नाम क्या है?
"मेरा नाम...मेरा नाम है हिरामन।
तब तो मीता कहूँगी, भैया नहीं मेरा नाम भी हीरा है।
इस्स! मर्द और औरत के नाम में फर्क होता है। हाँ जी, मेरा नाम भी हीराबाई है।"[297]

आगे कहानी में लिखे संवादों को नाट्य रुपान्तरण में हुबहु लिख दिया गया हीराबाई ने हिरामन के जैसा निश्छल आदमी बहुत कम देखा है। पूछा "आपका घर कौन जिल्ला में पड़ता है?' कानपुर नाम सुनते ही जो उसकी हंसी छूटी, तो बैल भड़क उठे। हिरामन हंसते समय सिर नीचा कर लेता है। हंसी बंद होने पर उसने कहा, 'वाह रे कानपुर! तब तो नाकपुर भी होगा?' और जब हीराबाई ने कहा कि नाकपुर भी है, तो वह हंसते-हंसते दुहरा हो गया। 'वाह रे दुनिया! क्या-क्या नाम होता है! कानपुर, नाकपुर!' हिरामन ने हीराबाई के कान के फूल को ग़ौर से देखा, नाक की नकछवि के नग देख कर सिहर उठा-लहू की बूँद!"[298]

रंगमंच में पहले कुछ दृश्यों का निषेध होता था किन्तु अब मंच पर सभी दृश्यों को मंचित किया जाता है जैसा संवाद कहानी में लिखा गया उसी उसी प्रकार मंच पर खेला गया, हिरामन ने बीड़ी सुलगाने के पहले पूछा, 'बीड़ी पिएं? आपको गंध तो नहीं लगेगी?...वही है नामलगर ड्योढ़ी। जिस राजा के मेले से हम लोग आ रहे हैं, उसी का दियाद-गोतिया है...जा रे जमाना!'हिरामन ने जा

[297] फणीश्वरनाथ रेणु – दस प्रतिनधि कहानियां, पृष्ठ संख्या 124
[298] फणीश्वर नाथ रेणु – दस प्रतिनधि कहानियां, पृष्ठ संख्या 125

रे जमाना कह कर बात को चाशनी में डाल दिया। हीराबाई ने टप्पर के परदे को तिरछे खोंस दिया। हीराबाई की दंतपंक्ति।

'कौन ज़माना?' ठुड्डी पर हाथ रख कर साग्रह बोली।
'नामलगर ड्योढ़ी का जमाना! क्या था और क्या-से-क्या हो गया!'
हिरामन गप रसाने का भेद जानता है। हीराबाई बोली,'तुमने देखा था वह ज़माना?"[299]

कहानी में आये संवादों में वही ग्रामीण परिवेश की झलक के साथ मंच पर उतार दिया गया।

आगे कहानी में संवाद को ऐसे ही नाटक में परिवर्तित कर दिया गया है देसी घोड़े पर पाट के बोझ लादे हुए बनियों को आते देख कर हिरामन ने टप्पर के परदे को गिरा दिया। बैलों को ललकार कर बिदेसिया नाच का बंदनागीत गाने लगा-

"जै मैया सरोसती, अरजी करत बानी,
हमरा पर होखू सहाई हे मैया, हमरा पर होखू सहाई!'
घोड़ लद्दे बनियों से हिरामन ने हुलस कर पूछा, 'क्या भाव पटुआ खरीदते हैं महाजन?"
लंगड़े घोड़ेवाले बनिए ने बटगमनी जवाब दिया 'नीचे सताइस-अठाइस, ऊपर तीस। जैसा माल, वैसा भाव"[300]

इस कहानियों में आये संवादों की खूबसूरती यही है कि भारत के किसी भी कोने में यह खेला जाता है और इसकी भाषा के साथ छेड़छाड़ नहीं की जाती है। कहानी में दृश्यों की योजना के साथ गीतों का भी खूब इस्तेमाल किया गया और उन गीतों पर जीवंत संगीत देकर नाटक को और भी प्रभावी बनाया गया। "सड़क तेगछिया गांव के बीच से निकलती है। गांव के बच्चों ने परदेवाली गाड़ी देखी और तालियां बजा-बजा कर रटी हुई पंक्तियां दुहराने लगे-

"लाली-लाली डोलिया में
लाली रे दुलहिनिया
पान खाए...!"[301]

हिरामन हंसा दुलहिनिया...लाली-लाली डोलिया! दुलहिनिया पान खाती है, दुलहा की पगड़ी में मुंह पोंछती है। ओ दुलहिनिया, तेगछिया गांव के बच्चों को याद रखना। लौटती बेर गुड़

[299] फणीश्वर नाथ रेणु – दस प्रतिनधि कहानियां, पृष्ठ संख्या 126
[300] फणीश्वर नाथ रेणु – दस प्रतिनधि कहानियां, पृष्ठ संख्या 126
[301] फणीश्वर नाथ रेणु – दस प्रतिनधि कहानियां, पृष्ठ संख्या 129

का लड्डू लेती आइयो। लाख बरिस तेरा हुलहा जीए!..कितने दिनों का हौसला पूरा हुआ है हिरामन का! ऐसे कितने सपने देखे हैं उसने! वह अपनी दुलहिन को ले कर लौट रहा है। हर गांव के बच्चे तालियां बजा कर गा रहे हैं। हर आंगन से झांक कर देख रही हैं। औरतें, मर्द लोग पूछते हैं, कहां की गाड़ी है, कहां जाएगी? उसकी दुलहिन डोली का परदा थोड़ा सरका कर देखती है। और भी कितने सपने...गांव से बाहर निकल कर उसने कनखियों से टप्पर के अंदर देखा, हीराबाई कुछ सोच रही है। हिरामन भी किसी सोच में पड़ गया। थोड़ी देर के बाद वह गुनगुनाने लगा-

'सजन रे झूठ मति बोलो, खुदा के पास जाना है।
नहीं हाथी, नहीं घोड़ा, नहीं गाड़ी...
वहां पैदल ही जाना है। सजन रे..."[302]

फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने अपनी कहानी 'तीसरी कसम' कथा की अभिव्यक्ति के लिए विविध उपायों को प्रयोग किया है "जैसे- सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता, बिम्ब विधान, काव्यात्मक भाषा, चित्रात्मक भाषा, बोलचाल की भाषा, लोकोक्ति, लोकगीतों, लोकगाथाओं, मिथकों, मुहावरा आदि। कथा कहने की विविध शैलियों में वर्णनात्मक शैली, पूर्वदिप्ती शैली, संवदात्मक शैली आदि का प्रयोग की हैं। पात्रों की रूप रचना के प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों शैली का सुंदर प्रयोग किया है।"[303] विविध भाषाओं के शब्द प्रयोग से रेणु ने अपनी कहानी को एक नूतन रूप प्रदान की है। रेणु ने भाव, विचार तथा चरित्र के अनुकूल भाषा का नूतन प्रयोग किया है। उन्होंने तत्सम, तद्भव, देशज, आगत आदि शब्दों का सार्थक प्रयोग किया है। "भाषा, संवाद, लोकहास्य व चुटीली व्यंग्य शैली से कहीं भी हटते नजर नहीं आते हैं। उन्होने अपना कथा-साहित्य में दर्जनों कहानियों, उपन्यासों, रिपोटार्जों व संस्मरणों सृजन किया है, पर रेणु अपनी वर्णन ज्जैली से कहीं दूर नहीं गये हैं। यही कारण है कि रेणु ने बम्बई जैसी महानगरी में जाकर फिल्म 'तीसरी कसम" के भावांचल से अलग नहीं हट पाये। अपनी कथा-शैली, संवाद से समझौता न करने में वे सफल रहे और भारी मन से माया नगरी को अलविदा कह दिया।"[304] रेणु के शब्दों में 'कितने चौराहे आयेंगे। न दायें मुड़ना न बाएं सीधे चलते जाना। अर्थात् नो कम्प्रोमाइज एकला चलो रे।' अन्य उपन्यासो की भाँति इसमें भी लोकतत्व भरपूर मात्रा में है। इस तरह रेणु ने अपनी कहानी 'तीसरी कसम' में शिल्प के विविध रूपों का सुंदर प्रयोग किया हैं। इन भाषाओँ में आये शब्दों को नाट्य रुपान्तरणकर्ता ने पात्रों के मुंह से ऐसे ही कहलवाए।

[302] फणीश्वर नाथ रेणु – दस प्रतिनधि कहानियां, पृष्ठ संख्या 129
[303] कृष्णदेव उपाध्याय : लोकसाहित्य की भूमिका, पृष्ठ- 9-10
[304] कृष्णदेव उपाध्याय : लोकसाहित्य की भूमिका, पृष्ठ- 9-10

3.3.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

फणीश्वनाथ रेणु की कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' कहानी में हिरामन और हीराबाई प्रमुख पात्र हैं। इनके अतिरिक्त धुन्नीराम, पलटदास, लालमोहर गाड़ीवान हैं। हिरामन की भाभी और भाई का भी चरित्र चित्रण किया गया है। हिरामन गाड़ीवान है। वह पूर्णिया जिले का रहने वला चालीस साल का हट्टा-कट्ठा, काला-कलूटा देहाती नौजवान अपनी गाड़ी और अपने बैलों के सिवाय दुनिया की किसी और बात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता। हिरामन भाई से बढ़कर भाभी की इज्जत करता है। भाभी से डरता भी है, हिरामन की भी शादी हुई थी, बचपन में ही गौने से पहल की दुल्हिन मर गई। हिरामन को अपनी गाड़ीवानी से बहुत लगाव है, चाहे सब कुछ छूट जाये, गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता हिरासन। उसे इस बार विचित्र अनुभव हुआ। दो बार पहले चोरी का माल और बाँसों की लदनी लादकर जो प्राण फँसे थे, सो बाल-बाल बचा। अब टप्पर में लाद रहा है हीराबाई को और परदा डालने पर भी उसे पीठ में गुदगुदी-सी लगती है। वह आश्चर्यचकित है कि यह औरत फूल-सी महक रही है, उसकी गँवई बातों, गाँव-गीत, लोककथाओं आदि में इतनी रुचि लेती है और स्वयं उसे मीता, भैयन, गुरुजी कहती है। इतनी सुन्दर स्त्री कोई डाकिन-पिशचिन नहीं हो सकती है, परन्तु हिरामन का कलेजा धड़कता है लेकिन जब वह उसे देख लेता है कि वह तो अति सुन्दर युवा स्त्री है तो हिरामन मन ही मन में उससे प्रेम करने लगता है। हिरामन का एकतरफा प्रेम ही कहानी को बांधे रखता है।

हीराबाई नौटंकी कंपनी की अद्भुत नायिका है। गीत, संगीत और नृत्य कला में पारंगत है। रूपवती तो ऐसी जैसे चांद उसे छुप–छुप कर निहारना चाहता हो। रूपवती–गुणवती के साथ वह एक साहसी नारी भी है। अदभुत चरित्र वाले ये दोनों पात्र एक अद्भुत संसार का सृजन करते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु ने अपनी रचना तीसरी कसम के नायक हीरामन और नायिका हीराबाई के मिलन के जरिए गांव की मनोभाव का चित्रण बड़ी सहजता से किया है। "इसके माध्यम से समाज में रहने वाले लोगों की अलग-अलग मानसिकता को दर्शाया गया है। जहां एक तरफ नौटंकी में सीता का अभिनय करने वाली महिला को एक वर्ग के लोग सीता माता समझते हैं और दूसरे वर्ग के लोग वेश्या। नाटक में हीरामन और हीराबाई की मोहब्बत को खूबसूरती से दिखाया गया।"[305] हीरामन एक बैलगाड़ी का गाड़ीवान है। हीरामन चोरी का माल फारबिसगंज स्टेशन पहुंचाते पकड़ा जाता है, जब वह मुश्किल में पड़ता है और उसकी इंसानियत को ठेस पहुंचता है,तो वह तीन कसमें खाता है। एक कारोबारी का माल नहीं लादेंगे और दूसरी बांस की लदनी नहीं करेंगे। हीराबाई वहीं पर

[305] कृष्णदेव उपाध्याय : लोकसाहित्य की भूमिका, पृष्ठ- 11

हीरामन को नौटंकी में काम करने वाली हीराबाई की सवारी मिलती है, जिसे मथुरामन नौटंकी कंपनी में पहुंचाना होता है। रास्ते में हीरामन और हीराबाई के मध्य कोमल संबंध पनपता है। जब नौटंकी की नायिका हीराबाई को एक पैसे वाले ने खरीद लिया। हीराबाई ने उसके प्यार,जज्बात को ठोकर मारकर चली जाती है। हिरामन गांव का रुख करता है और चलते-चलते तीसरी कसम खाता है 'औरत की लदनी तौबा-तौबा। हिरामन यह गीत गाने लगता है, अजी हां! मारे गये गुलफ़ाम... यहाँ पर नाट्य रूपान्तरकर्ता ने अभिनेता की अभिव्यक्ति को समझते हुए भाषा और संवाद को बहुत ही सरीखे से संजोया है।

ग्रामीण समाज के लोगों में अपने कार्यों के प्रति बेहद निष्ठा होती है। उसी प्रकार चालीस साल के हिरामन को अपनी गाड़ीवानी से इतना लगाव है कि वह इसको छोड़कर और दूसरा कोई भी काम करने को तैयार ही नहीं है। यही लोक की विशेष पहचान है। वे अपना सब कुछ त्याग सकते हैं; पर अपनी मान्यताओं और रुचियों से समझौता करने को तैयार नहीं होते हैं। हिरामन का अपनी गाड़ीवानी से इतना लगाव है कि वह इसके लिए जीवनभर कुँवारा रहने को तैयार है- "अब हिरामन ने तय कर लिया है, शादी नहीं करेगा। कौन बलाय मोल लेने जाए। ब्याह करके फिर गाड़ीवानी क्या करेगा कोई! और सब-कुछ चाहे छूट जाये, गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता हिरामन।"[306] इस प्रकार अपने कार्यों के प्रति प्रतिबद्धता ही लोक-तत्त्व की महत्ता को प्रतिपादित करती है और यही उसकी प्रमुख पहचान है। कहानी में वर्णित हीराबाई 'मथुरा मोहन नौटंकी कंपनी' की नर्तकी है। इस बार वह 'रौता सगीत नौटंकी' कंपनी के सौजन्य से फारबिसगंज के मेले में आई है। जिस प्रकार हिरामन को अपनी गाड़ीवानी पसंद है और इसे वह किसी मूल्य पर नहीं छोड़ना चाहता, ठीक उसी प्रकार हीरबाई भी नौटंकी में नाचने की कला को किसी मूल्य पर नहीं छोड़ना चाहती है। हिरामन इससे नाराज़ होता है। वह चाहता है कि हीराबाई नौटंकी का काम छोड़ दे। इस पर हीराबाई अपने कार्य के प्रति समर्पण, लगाव और प्रतिबद्धता को व्यक्त करते हुए उसे समझाती है- "गुस्सा न करो हिरामन! ये बात नामुमकिन है। तुम समझते क्यों नहीं? नशा जो हो गया। ...जैसे तुम्हें बैलगाड़ी चलाने का नशा है, वैसे मुझे लैला और गुलबदन करने का नशा है। देश-देश घूमना, सज-धज के रोशनी में नाचना-गाना, जीने के लिए सिवा इस नशे के और क्या है ही मेरे पास।"[307] प्रस्तुत कहानी और नाटक में 'छोकरा-नाच' नामक 'लोकनाच' तथा 'महुआ घटवारिन' और 'नामलगर ड्योढ़ी का जमाना' नामक 'लोककथा' का चित्रण मिलता है। छोकरा-नाच बिहार राज्य का प्रमुख लोक-नाच है। भिखारी ठाकुर इस विधा के प्रतिस्थापक आचार्य रहे हैं।

[306] फणीश्वर नाथ रेणु : दस प्रतिनधि कहानियां, पृष्ठ संख्या 124

[307] फणीश्वर नाथ रेणु : दस प्रतिनधि कहानियां, पृष्ठ संख्या 127

इसमें स्त्री-वेश धारण कर पुरुष ही नाचते हैं। बहुत दिनों के बाद आज हीराबाई को देखकर उसे फिर से अचानक छोकरा-नाच के लड़कों की याद आ जाती है। वह हीराबाई को एकटक देखने लगता है। हमारे समाज में व्याप्त लोककथाएँ हमारी संस्कृति के हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन और जीवन के उतार-चढ़ाव की मौखिक दस्तावेज़ हैं। महुआ घटवारिन की कथा सौतेली माँ के शोषण और अत्याचार पर आधारित है। जिस प्रकार हिरामन को लोककथा/लोकगीत सुनाने का शौक है, उसी प्रकार हीराबाई कथा को सुनने का शौक रखती है।

'लोकगीत' का संबंध उस गीत से है जो परंपरा से हमारे समाज में व्याप्त है और जिसका कोई निश्चित रचयिता नहीं है। लोकगीत अधिकतर महिलाओं द्वारा महिलाओं के हर्षोल्लास, सुख-दुख का संगीतमय आख्यान होता है। इसको वे सुख-दुख के अनेक अवसरों पर सामूहिक या अकेली ही गाती हैं। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, "लोक-कथा संसार के समस्त कथा-साहित्य का जनक है और लोकगीत सकल काव्य की जननी।"[308] इस प्रकार लोकगीत वह आदिम आख्यान है जिसका सुर आज भी ग्रामीण अंचल में बहुत ही मनोयोग से सुना जा सकता है। तीसरी कसम कहानी और नाटक में लोकगीतों के बहुतायत प्रयोग देखे जा सकते हैं। कथा नायक हिरामान को आज के गीत पसंद नहीं हैं। उसका मन तो बिदेसिया, बलवाही, छोकरा-नाच के गीतों में ही रमता है। मेला और बाज़ार लोक संस्कृति के प्रमुख अंग हैं। शहरों से कोसों दूर बसे गाँव के लोग इन मेले और बाज़ार से ही अपनी आवश्यकता की चीजें खरीदते हैं। उनके पास न तो शहर जाने की फुरसत होती है और न ही शहर की दुकान से ब्रांडेड सामान खरीदने के लिए पैसा ही होता है। अतः गाँव में लगने वाली बाज़ार और मेला ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रमुख साधन होता है। गाँव में लगने वाला मेला उन्हें अपने आस-पास के लोगों से मिलने का मौका भी प्रदान करता है। कहानीकार फारबिसगंज शहर और मेले की रोशनी की चर्चा करते हुए लिखता है- "सामने फारबिसगंज शहर की रोशनी जगमगा रही है। शहर से कुछ दूर हटकर मेले की रोशनी। ...टप्पर में लटके लालटेन की रोशनी में छाया नाचती है आसपास। ...डबडबाई आँखों से हर रोशनी सूरजमुखी फूल की तरह दिखाई देती है।"[309] इस तरह के कई दृश्य कहानी और नाटक में दिखाए गए हैं जिनसे मंच सजीव हो उठता है। मंच पर दिखाए गए नाटक में गीतों और लोक धुनों से इस नाटक को सजाया गया है।

[308] कृष्णदेव उपाध्याय : लोकसाहित्य की भूमिका, पृष्ठ- 9

[309] फणीश्वर नाथ रेणु : दस प्रतिनधि कहानियां, पृष्ठ संख्या 129

3.3.4 नाट्य प्रस्तुतियों का विश्लेषण

'तीसरी कसम' कहानी नाट्य मंडलियों और रंगकर्मियों के आकर्षण का भी केंद्र रही है। इतने सालों बाद भी, इस कहानी की लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आई है। इसका अब तक सैंकड़ों बार नाट्य रूपांतरण किया जा चुका है। बिहार की राजधानी पटना में, विश्वा पटना नाट्य संस्थान की ओर से इस कहानी का मंचन किया गया था। इस कार्यक्रम का आयोजन कला-संस्कृति एवं युवा विभाग (बिहार सरकार) के सौजन्य से हुआ था। नाट्य रूपांतर पुंज प्रकाश ने किया था तथा निर्देशन राजेश 'राजा' द्वारा किया गया था। इस नाटक में सूत्रधार की भूमिका के लिए 'रेणु' की ही एक अन्य कहानी 'रस प्रिया' से मृदंगिया नामक पात्र का चयन किया गया था। इस नाट्य रूपांतर का हजारों दर्शकों ने लुत्फ उठाया।

'तीसरी कसम' कहानी के अन्य नाट्य प्रस्तुतियों की बात की जाए तो दिल्ली के एलटीजी ऑडिटोरियम के मंच पर खेले गए नाटक का जिक्र किया जा सकता है। मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय की पूरी टीम ने दर्शकों से भरे ऑडिटोरियम में सुंदर अभिनय का प्रदर्शन किया। नाटक की कथा के साथ-साथ संगीत और नृत्य ने भी दर्शकों को मंत्र-मुग्ध किया। मंच पर बैकग्राउंड म्युजिक के रूप में लोकगीतों और 'तीसरी कसम' फिल्म के गीतों को भी चलाया गया। इस संदर्भ में 'पान खाए सैयाँ हमार', 'मारे गए गुलफाम' तथा महुआ घटवारिन की कथा पर आधारित लोकगीत ने दर्शकों को खूब आनंदित किया। नाटक का निर्देशन राजीव रंजन झा तथा सहनिर्देशन रितिका ने किया था। संगीत में अनिल मिश्र के योगदान ने मंचन को सफल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सभी कलाकारों का प्रदर्शन अच्छा था किंतु हीरामन की भूमिका निभा रहे अक्षय सिंह ठाकुर और सूत्रधार की भूमिका निभा रहे गौरव की भूमिका ने दर्शकों को विशेष रूप से प्रभावित किया।

फणीश्वर नाथ 'रेणु' की कहानी 'मारे गए गुलफाम उर्फ तीसरी कसम' एक कहानी के रूप में जितनी सफल रही है उतनी ही सफलता इसने रंगमंच पर भी पाई है। बल्कि यह कहना अधिक समीचीन होगा कि रंगमंच ने इसकी लोकप्रियता में दोगुनी-चौगुनी वृद्धि की है। क्योंकि दर्शक वर्ग पाठक वर्ग से कहीं ज्यादा बड़ा होता है। दर्शकवर्ग में वे लोग भी सम्मिलित होते हैं जिन्हें साहित्य और साहित्यिक रचनाओं के विषय में अधिक जानकारी नहीं होती है। साथ ही, दर्शक वर्ग में कम पढ़ा-लिखा और या अपढ़ तबका भी शामिल होता है। रंगमंच को 'तीसरी कसम' कहानी ने बहुत आकर्षित किया। यही कारण है कि हर वर्ष देश के किसी-न-किसी हिस्से में इसका मंचन अवश्य होता है।

एक ओर मंचन माध्यम फाउंडेशन की ओर से 'मारे गए गुलफाम' पर आधारित 'तीसरी कसम' का मंचन कालिदास रंगालय में किया गया। नाटक का निर्देशन धर्मेंद्र मेहता ने किया। फणीश्वरनाथ रेणु ने अपनी रचना तीसरी कसम के नायक हीरामन और नायिका हीराबाई के मिलन के जरिए गांव की मनोभाव का चित्रण बड़ी सहजता से किया है। इसके माध्यम से समाज में रहने वाले लोगों की अलग-अलग मानसिकता को दर्शाया गया है। इसके साथ एक अन्य मंचन नाट्य संस्था विश्वा ने भी किया। जिसका नाट्य रूपांतरण पुंज प्रकाश ने किया है। इसके अतिरिक्त कई नाट्य संस्थाएं और कई सरकारें अपने कार्यक्रमों में इसका मंचन करवाते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु की भाषा और उनका दृश्य वर्णन मंचन करते समय आँखों के सामने आ जाता है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता भी यही है कि यह प्रत्येक व्यक्ति से जुड़ाव महसूस करने लगता है साथ इसमें लिखे गए, संवाद इसकी पृष्ठभूमि के साथ-साथ वर्तमान प्रेम की दृष्टि भी देते हैं। कमानी ऑडीटोरियम, श्री राम सेंटर, एलटीजी आदि नाट्य स्थलों में इनका मंचन हमेशा होता रहता है। इस कहानी का मंचन देखने के लिए लगभग सभी उम्र के लोग पंक्ति में खड़े नज़र आते हैं।

3.4 निर्मल वर्मा का तीन एकांत

जैसा की विदित है कि भारतवर्ष में कहानी कहने और सुनने की प्रथा बहुत पुरानी है, जीवन में घटित किसी घटना अथवा किसी बात को कहने की शैली से किसी भी बात का महत्व और अधिक हो जाता है। जितना अधिक प्रभावशाली वक्तव्य होता है उसे उतनी अधिक रुचि से सुना जाता है। वर्तमान समय में रूपांतरण एक अनूठी कला की तरह है जो वर्तमान समय में हो रहा है। कविताओं और कहानी का नाटक में, कहानी और नाटक का फिल्मों में रूपांतरण तथा उपन्यासों का बेब सीरीज में परिवर्तन तेज़ी से हो रहा है। किसी रचना को अभिव्यक्ति और कथानक को नए रूप में बदल कर के मंच पर लाया जा रहा है। कहानियों में दर्शाया गया भाव बोध को उसकी भाव भंगिमा के साथ प्रस्तुत करना ही वर्तमान समय में नाट्य रूपांतरण का एक रूप है। अनूठे प्रकार से अज्ञात अथवा ज्ञात घटना, कथा और कहानी कहने की शैली रूपांतरण की जननी है। "विश्व साहित्य की अनेक विधाओं का अलग-अलग स्वरूप होता है, न केवल उनकी रचना प्रक्रिया अलग होती है बल्कि उनके तत्व भी एक दूसरे से बिल्कुल पृथक होते हैं और उनके भीतर संवेदना का स्तर भी अलग होता है। किसी विधा में रची गई रचना के मर्म को अभिव्यक्त करना रूपांतरण के लिए सबसे जरूरी अंग है। इसके साथ-साथ यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि साहित्यिक विधाओं का स्वरूप, समय और आवश्यकता के अनुसार बदलता रहता है।"[310] ध्यान देने योग्य बात है कि एक रचना जब दूसरी विधा में परिवर्तित होती है तो उसकी भाषा, काल, दृश्य, संवाद भी परिवर्तित हो जाते हैं। यह बदलने के साथ उस कथा में निहित मर्म को उसी की अभिव्यक्ति से साथ प्रस्तुत करना ही नाट्य रूपांतरण और उसके महत्व को सार्थक अर्थ देता है। "कथा साहित्य से जितना रंगमंच ने लिया है उससे कहीं ज्यादा सिनेमा से कथा साहित्य से रचनाएँ ली हैं और उसे नए आयाम दिए हैं।"[311] सिनेमा के पास मंच से अतिरिक्त अवकाश और अधिक समय होता है यही कारण है कि साहित्य जगत की कालजयी रचनाओं जैसे गोदान, निर्मला, पंचलाइट, तीसरी कसम, सेवासदन, निर्मला, दो बांके, हत्यारे, देवदास, उसने कहा था, चीफ की दावत, दोपहर का भोजन, चंद्रकांता, कफ़न, सद्गति, दुनिया का सबसे अनमोल रतन, राजा हरदौल, समर-यात्रा, अमृतसर आ गया, बेग़म का तकिया, महाभोज आदि के रूपांतरण कई बार और कई तरह से हुए हैं। जिसे पाठकों के साथ साथ दर्शकों ने भी पसंद भी खूब पसंद किया।

[310] डॉ. करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 13

[311] डॉ. करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 14

कविता, कहानी, उपन्यास और कथेतर साहित्य में भाषा के साथ-साथ उसकी कथावस्तु भी एक अलग भूमिका रहती है। साहित्य की किसी भाषा में रचित कहानियों में उनका कथानक सबसे महत्वपूर्ण अंग माना जाता है और यही कारण है कि पाठक को केवल कथानक पढ़ने से पूरी कहानी पता चल जाती है। साधारण भाषा में कथावस्तु कथा के अंतर्गत निहित कार्यव्यापार की योजना को ही कथानक कहते हैं। "अंग्रेजी में 'कथावस्तु' को 'प्लाट' कहा जाता है। प्लाट शब्द वैश्विक परिदृश्य में प्रयोग किया जाता है, 'प्लाट' अरस्तु के 'माइथास' का अंग्रेजी रूपान्तरण है।"[312] शोध के अनुसार कथानक और कथा दोनों शब्द संस्कृत कथ धातु से उत्पन्न हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र में कथा शब्द का प्रयोग एक निश्चित काव्यरूप के अर्थ में किया जाता रहा है किंतु "कथा शब्द का सामान्य अर्थ है- वह जो कहा जाए।"[313] यहाँ एक व्यक्ति के कहने के साथ-साथ दूसरे व्यक्ति के सुनने की उपस्थिति भी है क्योंकि अकेले 'कहना' शब्द तभी पूरी तरह से अर्थपूर्ण होता है जब उसे कोई दूसरा सुनने वाला भी मौजूद हो। बिना सुनने वाले की स्थिति में केवल 'बोलने' या 'बड़बड़ाने' की संकल्पना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

कई विद्वानों की मान्यता है कि आज के समय में कहानी और उपन्यास की गिनती में नाटक रचित हुए हैं जो कि केवल कहने भर की बात रह गई है। यह कहना ज्यादा तर्कसंगत है कि नए नाटक पुराने नाटक की अपेक्षा खेले कम जा रहे हैं। नए नाटकों को ज्यादा मंच प्रदान नहीं किए जा रहे हैं जिसके परिणाम स्वरूप यह हो रहा है कि प्रसिद्द कहानियों और उपन्यासों का नाट्य रूपांतरण कर मंचन किया जा रहा है। "किसी भी कथा को मंच पर प्रस्तुत करने के लिए दो प्रक्रियाओं का सहारा लिया जाता है। एक, कहानी को उसके भावों के साथ दिए गए संवादों के उतार-चढ़ाव के साथ एक बार में पढ़ दी जाए जिससे वह बोर सी न लगे। दूसरा उसे नाटक में परिवर्तित कर के अनेक पात्रों की सहायता से विधिवत प्रस्तुत किया जाए।"[314] भारतीय रंगमंच भरत के नाट्य शास्त्र पर आधारित है लेकिन कहानी के नाट्य रूपान्तरण में मंचन के रूप में कहानी का रूप परिवर्तित होता है किन्तु संवेदना के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं होती किसी कारण ऐसा होता है तो वह कहानी की संवेदना के साथ न्याय नहीं है। नाटक में किसी भी नए पात्र की उपस्थिति, पात्र के द्वारा कहे गए संवाद और किसी दृश्य की कटौती अथवा नए दृश्य का संयोजन करने से पूरे नाटक का संतुलन बिगड़ सकता है किन्तु कहानी के मंचन में सूत्रधार के संवादों की सहायता से दिए गए पात्रों की संख्या कितनी भी घटाई और कितनी बढ़ाई भी जा सकती है। नाटक के मंचन के लिए अभिनय,

[312] डॉ अमरनाथ : हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृष्ठ संख्या 110
[313] डॉ अमरनाथ : हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृष्ठ संख्या 109
[314] अकार : संपादक - गिरिराज किशोर, पृष्ठ संख्या 22

मंच सज्जा, संगीत, प्रकाश इत्यादि कई तरह की व्यवस्था होती है। "नाटकीयता साहित्य की अधिकतर विधाओं में विधमान रहती है। कविता और कहानी में नाटकीयता अन्य विधाओं के मुकाबले अधिक होती है। कहानी और नाटक दोनों में एक कथा विद्यमान रहती है, उनमें पात्र होते हैं, परिवेश होता है, कथा का क्रमिक विकास होता है, संवाद होते हैं, चरम उत्कर्ष होता है।"[315] इस तरह हम देखते हैं कि नाटक और कहानी की आत्मा के कुछ मूल तत्व एक ही हैं।

कहानी को नाटक में रूपांतरित करने के लिए सबसे पहले कहानी की विस्तृत कथावस्तु को समय और स्थान के आधार पर विभाजित किया जाता है। प्रत्येक घटना किसी स्थान पर किसी समय में घटती है। ऐसा भी संभव है कि घटना स्थान तथा समय विहीन हो। "कहानी किसी घटना या स्थिति का किया गया वर्णन है। जिसमें वह वर्मान में अतीत की सूचना बनती है इसके विपरीत नाटक घटित हो रही या होते रहने की क्रिया की दृश्यात्मक प्रस्तुति है।"[316] ऐसा भी हो सकता है कि कुछ ऐसे दृश्य भी बनते हों जिन में लेखक ने केवल विवरण दे दिया हो और उसमें किसी तरह का कोई संवाद न हो। ऐसे दृश्यों का भी पूरा अध्ययन कर के ही उसकी पटकथा पर काम किया जाता है और उसके लिए छोटे संवाद और उसके अनुसार दृश्यों को भी पूरी तरह तैयार किया जाता है। "दृश्य निर्धारित करने के बाद दृश्यों और मूल कहानी को पढ़ने से यह अनुमान लग सकता है कि मूल कहानी में ऐसा क्या है जो दृश्यों में नहीं आया है। ऐसे समय में नाट्य रूपांतरणकर्ता पर बड़ी जिम्मेदारी होती है कि कथा अथवा कहानी को किसी प्रकार से हानि न हो। लेखक द्वारा परिवेश का विवरण या परिस्थितियों पर टिप्पणियाँ प्रायः दृश्यों में नहीं ढल पाती है।"[317] साहित्य जगत में कई ऐसे कथाकार हैं, जिनकी कहानियों में कई-कई अनुच्छेद दृश्य संयोजन और उसकी वस्तुस्थिति बनाने में ही निकल जाते हैं जिन्हें मंच पर ले जाना मुश्किल कार्य हो जाता है। पटकथा में वह एक ओर जहाँ कथानक को आगे बढ़ाता है तो वहीं दूसरी ओर पात्रों और परिवेश को संवादों के माध्यम से स्थापित करता है। ऐसा करने के दौरान वह अगले दृश्य के लिए भूमिका भी तैयार करता चलता है। यह कार्य एक कहानी को मंच पर लाना और साथ ही उसके भाव बोध का सही तरीके से सम्प्रेषण कथाकार को रोमांचित कर देता है। "यह निर्णय दर्शकों और आलोचकों पर ही छोड़ना होगा। स्वयं मेरे लिए यह बात कि कहानियों को सुनने पढ़ने के अलावा देखा भी जा सकता है, एक विस्मयकारी अनुभव था। जिन कहानियों को अरसा पहले मैंने अपने अकेले कमरे में लिखा था उन्हें खुले मंच पर दर्शकों के बीच देखना कुछ वैसा ही था जैसे टेपरिकॉर्डर पर अपनी आवाज़

[315] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 29

[316] कहानी का रंगमंच : संपादन - महेश आनंद, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 15

[317] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 30

सुनना जो अपनी होने पर भी अपनी नहीं जान पड़ती।"[318] कहानी में चरित्र का चित्रण किसी अन्य तरीके से किया जाता है और वहीं नाटक में उसका तरीका बदल जाता है। कहानी का नाट्य रूपांतरण करते समय कहानी के पात्रों की दृश्यात्मकता और नाटक के पात्रों में उसका प्रयोग किया जाता है। कहानी के लिखे संवाद को नाटक में बोले जा रहे संवाद को प्रभावशाली बनाने का अगला तरीका अभिनय है, जो प्रायः निर्देशक का काम है पर लेखक भी इस ओर भी संकेत करता है। नाटक में चित्रित पात्र की भाव भंगिमाओं, तौर तरीकों और साथ ही उसके मैनेरिज्म से प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। जिसमें उसका बैठना, बोलना, चलना आदि क्रियाएं शामिल हैं। कहानी के दिए गए लंबे संवादों को छोटा कर के उन्हें और अधिक नाटकीय बनाया जाता है। नाट्य रूपांतरणकर्ता दृश्यों के संयोजन के साथ-साथ पात्र की वेशभूषा तथा उसके परिवेश और उसकी भाषा पर भी पैनी निगाहें रखते हैं। जिससे वह बनावटी न लगे।

हिंदी रंगमंच में जब कभी भी 'कहानी के रंगमंच' की चर्चा होती है तब देवेन्द्र राज अंकुर का नाम सबसे पहले लिया जाता है। कहानी के मंचन को एक नई दिशा देने का कार्य उन्होंने ही किया है। "इस दिशा में देवेन्द्र राज अंकुर ने 1975 में 'तीन एकांत' के शीर्षक से निर्मल वर्मा की तीन कहानियों 'डेढ़ इंच ऊपर', 'धूप का एक टुकड़ा', 'वीक एंड' को मंचित कर के जो नया मुहावरा अर्जित किया था, उसमें रंगमंच की एक नई ऊर्जा से साक्षात्कार हुआ था अभिनय और वाचन की नई चुनौतियों और आयामों की ओर संकेत करने वाला यह प्रयोग बाद में 'कहानी का रंगमंच' नाम से चर्चित हुआ।"[319] कहानी का रंगमंच और कहानी का नाट्य रूपांतरण दोनों में एक रेखा खिंची हुई है। कई बार कहानी के मंचन को ही लोग नाट्य रूपान्तरण समझ लेते हैं। कहानी के मंचन में रचना और अभिव्यक्ति की जितनी शैलियाँ दिखाई पड़ती है, उन्हें पारम्परिक किस्सागोई की हल्की झलक के साथ आधुनिक रंग शैली के कलात्मक संयोजन द्वारा मंचित करते हुए दृश्यात्मक सम्प्रेषण की नई दिशाओं को उकेरा गया है। लिखित कहानी को कहन शैली में उतरना और उसे मंचित करना एक अनूठी कला है जो बीते पांच दशकों से ज्यादा लोकप्रिय हुई है। "आज के लेखन में इस तरह की बुनावट को छोड़ा जा रहा है। झटके वाली कहानी आज कल कम लिखी जाती है इस तरह आलोचकों का कहना है कि कहानी लेखन पत्रकारिता के निकट आया है। जिस भांति पत्रकार किसी घटना का ब्यौरा सहज स्वाभाविक ढंग से, अपनी ओर से कुछ भी जोड़े या ओढ़ाए बिना पाठक के सामने रख देता है वैसे ही लेखक भी रखने लगा है"[320] कहानी पढ़ते समय

[318] निर्मल वर्मा : तीन एकान्त की भूमिका, पृष्ठ संख्या 03

[319] महेश आनंद : कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 14

[320] महेश आनंद : कहानी-रंगमंच का अनुभव – भीष्म साहनी, कहानी का रंगमंच - पृष्ठ संख्या 31

पाठक जिस अनुभूति का साक्षत्कार करता है और सूक्ष्म रूप से छिपा हुआ, जो दृश्य संसार उसके सामने बनता संवरता है, उन दृश्यों को रचना के भीतर से तलाश करके मंच पर प्रदर्शित करने से ही 'कहानी के रंगमंच' का रूप बनता है। "एक पाठक जब कहानी को पढ़ता या सुनता है, उसी समय, कहानी के पाठक के समांतर वह कहानी को दृश्यात्मक रूप से भी देखता चलता है। निर्मल वर्मा की तीनों कहानियों की भावभूमि और शैली लगभग एक-जैसी है। तीनों कहानियों में एक-एक पात्र है जो शुरू से लेकर अन्त तक एक लम्बा संवाद बोलता है, पूरा संवाद एक कथा के रूप में है। कहानी का मंचन इस प्रकार से किया गया है कि एक अहसास भी बना रहता है कि संवाद की शुरूआत किसी दूसरे पात्र के साथ होती है लेकिन यहाँ उसकी स्थिति का कोई अर्थ नहीं रहता है क्योंकि न जाने कब यह संवाद मात्र स्व-केन्द्रित होकर रह जाता है।"[321] उपस्थित पात्र इस प्रकार से संवादों को सुपुर्द करता है जैसे उसकी बात को सुनकर कोई उसे उत्तर देगा। कथा के रूप कई तरह के होते हैं- ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक इत्यादि। "मध्ययुगीन लोकनाट्य परम्परा में प्रचलित नाट्य रूपों के साथ-साथ किस्सागोई की परम्परा रही है…मुग़ल बादशाह जहाँगीर के समय क़िस्सा ख़्वाब का वर्णन मिलता है। आज भी आल्हा, पंडवानी या पाबूजी की पड़ आदि पारम्परिक वाचन शैली के नाटकीय तत्वों से इनकार नहीं किया जा सकता मगर समकलीन कहानी रंगमंच किस्सागोई के इन रूपों से अलग अपना स्वतंत्र रूप बना रहा है। उन्हें तोड़कर या बदलकर प्रस्तुत करने से वह मूल रचना की प्रस्तुति नहीं रहती।"[322] मोनोलॉग से सम्बंधित प्रकार की कहानियाँ भारत में विदेशी प्रभाव के कारण आई हैं, मोनोलॉग एक प्रकार से एकालाप होता है जिसमें एक आदमी बोलता रहता है जैसे नाटकों में स्वगत कथन होता है। इस प्रकार ये कहानियाँ अकेलेपन के कुछ क्षणों में पात्रों के स्वयं अपने से साक्षात्कार की कहानियाँ हैं। निर्मल वर्मा की कहानियों में विदेशी प्रभाव अधिक है। कहानी का परिवेश, पात्रों की मानसिक स्थिति, उनके संवाद इत्यादि। इन कहानियों में निर्मल वर्मा की अभिव्यक्ति को देवेन्द्र राज अंकुर ने नया आयाम दिया है।

[321] कहानी का रंगमंच : संपादन - महेश आनंद, पृष्ठ संख्या 16

[322] महेश आनंद : नया मुहावरा - कहानी का रंगमंच , पृष्ठ संख्या 124

3.4.1 कथानक के स्तर पर

कहानी एक पब्लिक पार्क से आरम्भ होती है। जिसके पास गिरजाघर है। पार्क में जगह-जगह धूप के टुकड़े फैले हैं। एक महिला (नायिका) आकर एक बूढ़े के पास बैठती है। उस बूढ़े को अपनी कथा सुनाते-सुनाते वह अपने आप में बोलती जाती है। बुढ़ा पैरेम्बुलेटर के सामने बैठा था उसकी उपस्थिति महिला के अकेलेपन को रेखांकित करती है। पहले वह गिरजाघर के विषय से अपनी बातचीत आरम्भ करती है, कहती है कि कैसे वहाँ भीड़ नव-वरवधू को देखने आती है। पार्क में खामोश लोगों के विषय में कहती है कि यह सब तन्हाई के शिकार हैं। देखी-सुनी चीजों के विषय में जिज्ञासा की बात करती है- जैसे बच्चे, नव-विवाहित वर वधू जोड़े की घोड़ा-गाड़ी या मुर्दों की अर्थी विवाह के अनोखे सम्बन्ध के विषय में चर्चा करती है। फिर कहती हैं कि "पन्द्रह साल पहले मेरा भी इसी गिरजाघर में विवाह सम्पन्न हुआ था। आगे कहती है कि जो किसी चीज़ के आदि नहीं वे मेरी तरह धूप का एक टुकड़ा ढूँढते रहते फिर वह विवाह के पहले पति की मुलाकातों के विषय में कहती है कि कैसे वे एक-दूसरे से घुल गये थे।"[323] इतने में पैरेम्बुलेटर में बच्चा जागता है, बूढ़े से सुलाने को कहकर, फिर सपनों के विषय में कहने लगती हैं कहती है कि भूचाल, बमबारी आदि की खबर सबको चल जाती है। लेकिन हमारे निजी ख्वाबों के विषय में कोई चर्चा नहीं होती है। फिर गिरजाघर में ऑर्गन का संगीत सुनाई देता है। तब कहती है "कि अब वर वधू ने एक-दूसरे को चूमा होगा, अँगुठियाँ बदली होंगी, अब वे बाहर आयेंगे, बूढ़े से कहती है कि आपको भी देखना हो तो देख आइये, मैं आपके बच्चे को देख लूँगी। कहती है दिन भर जहाँ धूप का एक टुकड़ा रहता है, वहाँ में जाकर बैठती हूँ।"[324] यह सब सुनकर बूढ़ा उठकर चला जाता है।

कहानियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। जिसमें ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक तथा मोनोलॉग आदि हैं। मोनोलॉग से संबंधित प्रकार की कहानियाँ भारत में विदेशी प्रभाव के कारण आई हैं। क्योंकि निर्मल वर्मा जी भी अधिकतर विदेशों में रहे हैं। "मोनोलॉग एक प्रकार से एकालाप होता है जिसमें एक ही आदमी बोलता है रहता है। जैसे स्वगत कथन में होता है। कहानी का आरम्भ पब्लिक पार्क से होता है, वहाँ कई बेंचे हैं। उसके पृष्ठ भाग में एक गिरजाघर है। गिरजाघर का आभास वहाँ से आते संगीत के माध्यम से कराया गया हैं मंच साधारण है केवल वहाँ आमने-सामने दो बेंचे हैं।"[325] नायिका के समक्ष एक मौन पात्र को रखा गया है जो कि बूढ़ा है। उसके पास एक पैरेम्बुलेटर है। नायिका उसी के बेंच पर आकर बैठती हैं जहाँ वह बूढ़ा बैठा था, क्योंकि

[323] निमल वर्मा : तीन एकांत, पृष्ठ संख्या 11
[324] निमल वर्मा : तीन एकांत, पृष्ठ संख्या 11
[325] निमल वर्मा : तीन एकांत, पृष्ठ संख्या 11

प्रतिदिन वहीं बैठती थी। उस बूढ़े पात्र के होने पर भी कहानी में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि देवेन्द्र राज अंकुर ने बूढ़े पात्र को रखा है लेकिन इसके मंचन का निर्देशन भास्कर शिवालकर जी ने किया तो केवल नायिका एक पात्र को ही रखा है।

नायिका के संवादानुसार दृश्य बदलते रहते हैं, कभी प्रकाश द्वारा, कभी संगीत द्वारा तो कभी नायिका के मूव्स द्वारा दृश्यों के संकेत दिये और कहानी की यात्रा को पकड़ने की कोशिश की गई है। कहानी के मूल फार्म को बिगड़ने नहीं दिया गया है। वहाँ मूलतः अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करना है। इस संदर्भ में 'तीन एकांत' के निर्देशक देवेन्द्र राज अंकुर ने कहा "एक निर्देशक के नाते यह बात शुरू से ही मेरे सामने थी कि मुझे कहानियों के नाटकीय रुपान्तरण की ओर नहीं बढ़ना है वरन कहानी के अपने मूल फॉर्म में निहित कथ्य शब्द और दृश्य को ही मंच पर स्थापित करना है।"[326] अर्थात कहानी के मूल रूप को बिना कोई ठेस पहुंचाएं उसे मंच पर प्रस्तुत किया गया। कहानी में घटित घटनाओं को नायिका अपने अतीत को बताती रहती है कहानी पढ़ने पर पाठक उसे समझ सकता है कि ये कहानी उसके अतीत की हैं। एक कहानी में कितने भी दृश्य हो सकते हैं और पाठक उन्हें अपनी दृष्टी से दृश्य की कल्पना कर सकता है किन्तु दर्शक के पास केवल एक दृश्य है जो उसके सामने मंच पर प्रस्तुत है और उसी पर कई तरह की क्रिया हो रही है। "इस कहानी में पब्लिक पार्क का एक दृश्य है किन्तु नायिका के संवादों में एक दर्जन दृश्य हैं जिनमे गिरजाघर, मोहल्ला, सड़क, पब इत्यादि। कहानी इन्हीं दृश्यों के इर्द-गिर्द घूमती रहती है फिर भी इसका केंद्र पब्लिक पार्क है जहाँ नायिका बेंच पर बैठी हुई है। वास्तव में कहानी रंगमंच की अभिनय प्रक्रिया एक पात्र से दूसरे पात्र को प्रतिबिंबित करने की यात्रा जैसी है।"[327] जिसमें अभिनेता कभी एक पात्र को मूर्त करता है और फिर उसे छोड़ कर दूसरे या तीसरे पात्र की तलाश में चल पड़ता है। पात्रों की नाटकीय गतियों, कहानी-वाचन अभिनय, दृश्य परिकल्पना और प्रकाश संयोजन परस्पर घुलती मिलती हुई कहानी को नया रूप देती हैं। ऐसे मंचन में दूसरे उपकरण मौजूद नहीं होते इसीलिए अभिनेता अपनी वाणी और अपने शारीरिक हाव-भाव से दर्शकों को बांधे रखता है।

निर्मल वर्मा की इन तीनों कहानियों का मूल विषय अकेलापन है। इन कहानियों के पात्र वर्तमान में रहते हुए अतीत की घटनाओं को जीते हैं। 'डेढ़ इंच ऊपर', 'धूप का एक टुकड़ा' जैसे फ्रेम की कहानी होते हुए भी अपने अन्तिम स्वरूप में यह उससे बिल्कुल ही अलग होती गई। इसमें भी दो पात्र हैं- एक बोलने वाला और दूसरा सुनने वाला। "शुरू में पहली कहानी की तरह यहाँ भी

[326] निमल वर्मा : तीन एकांत, पृष्ठ संख्या 11

[327] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 50

सुनने वाले पात्र की परिकल्पना की गई लेकिन ज्यों-ज्यों कहानी आगे बढ़ती गई, सुनने वाला पात्र बिलकुल ही अनुपस्थित हो जाता है। कहानी का बूढ़ा पात्र बियर पीते हुए खुद-ब-खुद ही खुलता चलता है। कहानी का स्थान 'पब' है किंतु संवादों से कई स्थानों का भ्रमण किया गया है।"[328] मंच पर नीचे ऊपर दो विभिन्न कोनों पर दो मेजें और चार कुर्सियां मात्र है। कहानी में दृश्यों का आरम्भ 'पब' से होता है, अन्य दृश्यों को दिखाने के लिए प्रकाश व्यवस्था है जो उसकी रौशनी में बनते-मिटते रहते हैं, इनमें कुल मिलकर नौ दृश्य हैं। कहानी के मंचन के आरम्भ में इस प्रकार के दृश्य निर्मित किए गए हैं जिससे स्थिति का पता चलता है। कहानी में दो पात्र हैं मंचन में केवल एक पात्र लिया गया है उस पात्र की उपस्थिति दर्ज कराने के लिए कुछ बातें कही जा रही है। "अपुस्थित श्रोता मानो उसके सामने वाली कुर्सी पर आकर बैठ गया है"[329] यहाँ श्रोता से अर्थ कहानी के दूसरे पात्र से है जिसे यहाँ दर्शाया नहीं गया सिर्फ उसके होने का अहसास कराया जा रहा है। कहानी को मंचित करने के लिए निर्देशक ने अपनी ओर से पात्र रखा और अपनी ओर से हटा भी दिया।

निर्मल वर्मा की तीसरी कहानी 'वीकएंड' भी पूरी की पूरी नायिका के 'स्वचिन्तन' से सम्बन्धित दिखाई गई है। "नायिका का एकालाप होता है किन्तु उससे पहले शारीरिक क्रिया है जिससे दर्शक उसकी ओर आकर्षित हो जाएँ और उसके संवाद से जुड़े। मंचन में प्रकाश की व्यवस्था से अँधेरे से शुरू होकर उजाले की तरफ जाना। फिर मुँह अँधेरे में अलार्म की आवाज़ सुनकर ही उसके मुँह से पहले संवाद निकलते हैं। कहानी में संवाद हैं किन्तु उनका कोई उतार-चढ़ाव नहीं है लेकिन मंचन के समय नायिका की चीख, उसका विषाद, उसका अकेलापन सब उसके अभिनय से उसके चरित्र में नज़र आने लगते हैं। नायिका एक 'वीकएंड' की समाप्ति पर सुबह-सुबह अपने कमरे पर जाने के लिए तैयार हो रही है, उसका प्रेमी अभी तक पलंग पर सोया हुआ है।"[330] इसी बीच पिछले दिन की घटनाओं पर पुनर्विचार करने लगती है और कहानी कमरे से निकलकर एक पार्क में पहुँच जाती है। उस कमरे में कोई नहीं है लेकिन उसकी भाव भंगिमा से यह आभास होता है कि उसके साथ कोई है जिससे वह मिलती है। यह कहानी भी अकेलेपन का एक रूप है नायिका का एकालाप अतीत के पन्नो को फिर से जिन्दा कर देता है। "संगीत नायिका के जागने से लेकर उसके प्रस्थान तक धीमी आवाज़ में चलता रहता है। उसके चीखने पर संगीत तेज़ और शांत होने पर मद्धम गति में चलता है।"[331] यह संगीत कर्णप्रिय रहता है ताकि दर्शक उससे खुद

[328] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 56
[329] निर्मल वर्मा: डेढ़ इंच ऊपर- तीन एकांत, पृष्ठ संख्या 39
[330] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 57
[331] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 59

को जोड़ पाए। तीन एकांत की कहानियों को बहुत से रंगकर्म के विद्वानों ने कहानी का रंगमंच कहा है क्योंकि इन कहानियों में सूत्रधार या संवादों का आदान प्रदान नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि "इस रंग प्रयोग में देखी सुनी जा रही कहानी अपने उप-पाठ की आंतरिक ले की पुनर्रचना बनती है। दरअसल इस प्रयोग में कहानी के उस अदृश्य मर्म को पकड़ने की कोशिश है जो कहीं एक दो शब्दों या वाक्यों के बीच उपस्थित रहता है। इस प्रक्रिया में कहानी की दुनिया छोटी होती हुई भी उन कई अर्थ छायाओं को उजागर करनी है जिनको केवल पढ़ने से अनुभव नहीं किया जा सकता"[332] कह सकते हैं की कहानी की प्रस्तुति सम्पूर्ण कहानी को संवाद बनाते हुए उसके कथ्य, निजी रूप, शब्द और उनसे उभरते संगीत एवं ध्वनियों के माध्यम से उसके श्रव्य की अभिव्यंजना होती है। "कहानी के मंचन की अभियक्ति इस प्रकार से होती है जिससे दर्शक उन हिस्सों को भी जीता है जो कहानी में लिखी हुई नहीं होती है। कहानी की कई अमूर्त घटनाओं को भी मंचन से नाटक में शामिल कर लिया जाता है जिससे कहानी और भी प्रभावशाली हो जाती है।"[333] अर्थात् कहानी के मूल रूप को बिना कोई ठेस पहुँचाये उसे मंच पर प्रस्तुत किया गया हैं निर्मल वर्मा जी भी यही चाहते थे कि मूल कहानी के रूप को न बदले। परन्तु फिर भी कहानी को मंच पर देखने का नया अनुभव तो प्राप्त हुआ ही है। जो अपने आप में एक उपलब्धि है।

कहानी में जो घटना है अर्थात् जैसे नायिका अपने अतीत को बताती रहती है। उन दृश्यों को पूर्वदीप्त शैली में तो नहीं दर्शाया गया है अपितु फिर भी उन्हें दर्शाने के लिए रोशनी की सहायता, संगीत की सहायता तथा नायिका के द्वारा उस कमी की खाई को पाटने की कोशिश की गई है। मूव्स के वैसे मंच पर तो कम-से-कम उपकरणों की सहायता ली गई है। जैसे दो बेंच तथा पैरेम्बुलेटर और भास्कर शिवालकर जी ने तो पैरेम्बुलेटर का भी उपयोग नहीं किया है लेकिन योग्य कलाकार व निर्देशक ने इस कमी को अपने निर्देशन तथा अभिनय से पूरा किया है। "कहानी में अनेक दृश्य होते हैं। जिन्हें पाठक या श्रोता अपनी कल्पना के माध्यम से ही देख पाते हैं और इस कहानी में भी ऐसा ही है कि नायिका पाठकों के सामने कई ऐसे दृश्यों के विषय में कहती रहती है। लेकिन मूलतः पब्लिक पार्क का ही दृश्य हैं जैसे नानी-दादी की कहानियों में अनेक दृश्य होते हैं, पर वे कहानी या आँगन में या छत पर आदि बैठकर कहती रहती हैं। इसी तरह इस कहानी में भी है।"[334] कहानी के रंगमंच से जब हम कहानी के नाट्य रूपांतरण की तरफ बढ़ते हैं तब मंच और भी सक्रीय हो जाता है। जहाँ एकालाप था वह अब पूर्ण रूप से संवाद स्थापित होने लगा है। कथानक, पात्र योजना,

[332] संपादक प्रेम सिंह, सुषमा आर्य : रंग प्रक्रिया के विविध आयाम, पृष्ठ संख्या 134

[333] निर्मल वर्मा: डेढ़ इंच ऊपर- तीन एकांत, पृष्ठ संख्या 41

[334] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 67

संवाद, दृश्यों का संयोजन, प्रकाश व्यवस्था, वेशभूषा में तब्दीली, मुख सज्जा, मंच सज्जा, प्रवेश-प्रस्थान इत्यादि सब बदल जाता है। वैसे तो मूलतः इस कहानी में केवल पब्लिक पार्क का दृश्य ही है। "कहानी इन्हीं दृश्यों के इर्द-गिर्द घूमती रहती है फिर भी इसका केन्द्र पब्लिक पार्क है। वह टेक की तरह है जहाँ पर बार-बार आकर कहानी कुछ विश्राम लेती है। उसके बाद दूसरा मुख्य दृश्य गिरजाघर का है। इसके बाद के दृश्य सब गौण है। जो मात्र कहानी को समझाने के लिए है। भूतकाल के दृश्यों को वर्तमान पब्लिक पार्क में आकर दोहराया जा रहा है। कहानी के दृश्यकाव्य में संवाद होते हैं लेकिन ठीक उसी तरह नहीं होते जैसे नाटकों में होते हैं।"[335] संवाद कहानी से ही प्राप्त होते हैं लेकिन क्रमानुसार नहीं होते है उन्हें अन्वेषित करना पड़ता है। हिंदी साहित्य की प्रारंभिक कहानियों में संवाद काफी संख्या में हुआ करते थे बल्कि बहुत सी कहानियां नाटक की तरह संवादों में ही आगे बढ़ती थी। ज्यादातर कहानियों में नाट्य क्रिया सीधे साफ़ दिखाई नहीं देती पर उनमें जरुर रहती हैं। स्पष्ट है कि कहानी के मंचन में कथानक की अभिव्यक्ति अभिनेता और निर्देशक के ऊपर निर्भर है। वह उसकी मार्मिकता को किस स्तर पर ले जाना चाहता है। लिखित कथा को मंच पर प्रस्तुत करने पर कथा की भावभूमि और उसका प्रभाव दोनों ही में सामंजस्य बैठाना ही नाट्य रूपांतरण का मूल आधार है।

[335] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण, पृष्ठ संख्या 69

3.4.2 संवाद के स्तर पर

प्रत्येक घटना के वर्णन में संवादों की अहम भूमिका होती है। संवाद में भी एक क्रम है कहानी के पहले संवाद में सुबह का दृश्य है नायिका का एकालाप शाम तक चलता है। ऐसा मंच पर प्रकाश व्यवस्था से संभव है, ऐसे ही संवादों का क्रम जारी रहता है। दृश्यों को मंचित करने के लिए रंगमंच में कई संकेत दिए गए हैं। मंच पर अँधेरा, प्रकाश की योजना, मंच सज्जा इत्यादि का भी विस्तृत वर्णन है। "कहानी को तोड़कर, शब्दों को बदलकर, फॉर्म को चोट पहुंचाकर...नाट्य मंचन से वह कहानी के बहाने नए नाटक का मंचन होगा। इसकी अपेक्षा अभिनेता कहानी का हाव-भाव, स्वर के उतार चढ़ाव तथा संकेतों को नाटकीय ढंग से पढ़े तो वह ठीक होगा।"[336] नई भाव भंगिमा और नए कलेवर के साथ कहानी का मंचन नए काव्य स्वाद को जन्म देता है। संस्कृत काव्यशास्त्रों में नाटक को 'काव्य' ही कहा जाता है। कहानी के मंचन के संदर्भ में निर्मल वर्मा भी कहते हैं कि "कहानी के मूल स्वभाव को विकृत किए बिना उसे मंच पर प्रस्तुत किया जाए, जहाँ एक ही समय में नाटक का 'इल्यूजन' दे सके और दूसरी ओर कहानी का आंतरिक फॉर्म और लय को अक्षुण्ण रख सके।"[337] कहानी के मंचन द्वारा उसके नाटकीय तत्वों को उजागर करना है। तीनों कहानियों की भावभूमि और शैली लगभग एक-जैसी है- तीनों में एक-एक पात्र है जो शुरू से लेकर अन्त तक एक लम्बा संवाद बोलता है, इसके साथ ही यह एक अहसास भी बना रहता है कि संवाद की शुरूआत किसी दूसरे पात्र के साथ होती है, लेकिन यहाँ उसकी स्थिति का कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि न जाने कब यह संवाद मात्र स्व-केन्द्रित होकर रह जाता है। इस प्रकार ये कहानियाँ अकेलेपन के कुछ क्षणों में पात्रों के स्वयं अपने से साक्षात्कार की कहानियाँ हैं।

कहानी में जब पहला संवाद आरम्भ होता है, तब सेवेरे का वह समय होता है। नायिका का एकालाप चलते-चलते शाम हो जाती है। स्थान पब्लिक पार्क है। वातावरण सवेरे की धूप है पार्क में पेड़ों की छाया तले जहाँ-तहाँ धूप के टुकड़े फैलें हैं। दूसरे संवाद का समय पहले संवाद के तुरन्त बाद का समय है। अर्थात् संवादों में काल अन्तराल नहीं है। स्थान वही पब्लिक पार्क है। वातावरण में धूप थोड़ी बढ़ रही है। ऐसे ही संवादों का क्रम जारी रहता है। "एक संवाद के बाद दूसरे संवाद के बीच अधिक समय नहीं है। जैसे अन्य कहानियों में होता है। एक सन्दर्भ से दूसरे सन्दर्भ के बीच का काल इस कहानी में कहानी कही जा रही है। अतः एक सन्दर्भ के बाद दूसरे सन्दर्भ की बात यहाँ लागू नहीं होती है। इस कहानी में नायिका वर्तमान कालखण्ड से पूर्वदीप्त में जाती है। जिससे अलग-

[336] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रुपान्तरण, पृष्ठ संख्या 67

[337] निर्मल वर्मा : तीन एकांत, पृष्ठ संख्या 08

अलग कालखण्ड हो गये हैं। पहला दृश्य पब्लिक पार्क का है जिसमें गिरजाघर का भी दृश्य है। अर्थात दो दृश्य हैं। पात्र दो हैं। दूसरे दृश्य में भी गिरजाघर है, वह नायिका इस कालखण्ड में उस समय की याद कर रही है जब पन्द्रह वर्ष पहले उनका विवाह हुआ था। वह दृश्य उभरता है, सड़क दिखाई देती है। अर्थात् इस कालखण्ड में तीन दृश्य है। इसमें एक ही पात्र हैं। इस कालखण्ड में नायिका पति को याद करती है घर का दृश्य है, अर्थात् एक दृश्य है। पात्र दो हैं।"[338] इस कालखण्ड में नायिका फ्लैश बैक से वापस आती है और पब्लिक पार्क का दृश्य है, अर्थात् एक ही दृश्य है। जिसमें तीन पात्र हैं नायिका, बूढ़ा तथा पैरेम्बुलेटर में बच्चा। छठे दृश्य के इस कालखण्ड में बचपन से तथा विवाह के उपरान्त के घर का दृश्य है। अर्थात् एक ही दृश्य और पात्र दो हैं नायिका तथा उसका पति। यहाँ सपने की बात कही गई है, जिसमें बमबारी, भूचाल के बाद खंडकर तथा उड़ती धूल का दृश्य हैं अर्थात् दो दृश्य है और पात्र एक ही केवल नायिका है। इस दृश्य में फ्लैश बैक से घूम फिरकर फिर पब्लिक पार्क में आ जाते हैं, अर्थात् एक ही दृश्य तथा तीन पात्र हैं।

इस कहानी के मंचन में किसी भी एकांकी या नाटक में जो दृश्य होते हैं उनसे भी कम दृश्यों से काम चल सकता हैं यह भी इस कहानी के मंचन में एक सुविधा है। स्थिति को दर्शाने के लिए कहानी के रंगमंच में अनेक संकेत दिये गये हैं। कहानी के आरम्भ होने से पूर्व संकेत किया गया है। अँधेरा मंच के बीचो बीच बायी ओर रखी बेंच पर प्रकाश उस पर एक बूढ़ा व्यक्ति अखबार पढ़ने में कोई अनर्थ इस वाक्य में नहीं हुआ है। ऐसा होता तो निर्देशक इस वाक्य को नहीं निकालता। इस बदले हुए वाक्य में दूर होने का दुःख गहरा है। आपका सम्वोधन दूरी को दर्शाता है। इस मंचन के विषय में कई नाटककारों के विचार नए रूप से देखने को मिलते हैं। निर्मल वर्मा की दृष्टि में "यह सोचना भ्रामक है कि नाटकीयता केवल नाटक-विधा की संपत्ति है दरअसल कला की हर विधा अलग-अलग ढंग से नाटकीय होती है, क्योंकि वह अलग-अलग रूपों में अपने को दुनिया से जोड़ती है (चाहे वह भीतर की दुनिया ही क्यों न हो)। जब प्रसिद्ध उपन्यासकार हेनरी जेम्स से कला के रहस्य के बारे में पूछा तो उन्होंने केवल दो शब्द में उत्तर दिया : Only dramatize जिस तरह नाटक में परदा उठते ही प्रतीक्षा करने लगते हैं कि "अब कुछ होगा", "उसी तरह जब कोई अनुभूति अपने मूक अँधेरे में उठकर शब्दों में प्रदेश में टटोलती है, तब अचानक कुछ होने लगता है। यह स्फुरण-बेलीस, गूंगे अस्तित्व में कुछ कंपन कुछ और नहीं सिर्फ नाटकीय तत्व है, जिसके बिना नाटक ही नहीं हर कला-विधा मृतप्राया हो जाती कहानी को तोड़कर, शब्दों को बदलकर, फार्म को चोट पहुँचाकर....नाट्य मंचन से वह कहानी के बहाने नये नाटक का मंचन होगा। इसकी अपेक्षा

[338] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रुपान्तरण, पृष्ठ संख्या 54

अभिनेता कहानी को हाव-भाव, स्वर के उतार-चढ़ाव तथा संकेतों को नाटकीय ढंग से पढ़ते तो वह ठीक होगा।"[339] इस विषय में नेमिचन्द्र जैन की मान्यता है कि "डेढ़ इंच ऊपर, धूप का एक टुकड़ा तथा वीक एण्ड इन कहानियों का परिवेश अलग-अलग तरह का है, हालांकि अनुभव के स्तर पर एक तो बात कह रही है, जो शायद तीन एकान्त नाम से जाहिर होती है। इस सफलता के बाद कहानियों को सीधे प्रस्तुत करने के प्रयास बढ़ गये हैं।"[340]

रंगमंच एक ऐसा व्यापक अनुभव और सर्जनात्मक माध्यम है जो साहित्य की हर विधा को अपने से जोड़ने में समर्थ है। इस प्रकार अनेक रंगकर्मियों तथा निर्देशको आदि ने कहानी के नाट्य रूपान्तरण पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। यह सच है कि नाटकीय तत्त्व तो सभी साहित्यिक विधाओं में होते हैं। फिर भी कुछ ऐसी विशिष्ट कृतियाँ भी होती है जिनमें ये नाटकीय तत्त्व अधिक होते हैं। तीन एकान्त के साथ यह बात लागू हो सकती है। इन "तीन एकान्त" में देवेन्द्रराज अंकुर जी को ऐसा कुछ दिखाई दिया कि वे इनको मंच पर प्रदर्शित करने के लिए आगे आये। ये अलग बात है कि कहानियों के मंचन पहले भी हुए थे। पर इस बात पर ध्यान किसी का नहीं गया था। देवेन्द्र राज अंकुर जी ने जब इन तीन एकान्त की प्रस्तुति की तो सभी का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। इससे साहित्य का प्रसार तो होता ही है। साथ ही सभी साहित्यिक विधाओं का नाटक से गहरा सम्बन्ध बनता है। कहानी को मंचन करने का एक कारण तो यह भी है कि नाटक हिन्दी साहित्य में अधिक मात्रा में नहीं मिलते हैं जबकि इन्हें मंचित करने वाली अनेक संस्थाएँ मौजूद हैं। परन्तु इस बहाने से सिर्फ कहानियों का ही नहीं कविताओं तथा उपन्यासों का भी मंचन किया गया है जो निस्सन्देह एक अच्छी शुरूआत है।

[339] निर्मल वर्मा : तीन एकांत, पृष्ठ संख्या 19

[340] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रुपान्तरण, पृष्ठ संख्या 70

3.4.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

अब तक के विवेचन से यह पूरी तरह से स्पष्ट और प्रमाणित हो जाता है कि कहानी की नाटकीयता उसके अपने मूल आलेख में से ही पकड़ी जा सकती है, उसके लिए कहानी के फार्म को तोड़-मरोड़कर नाटक में परिवर्तित करने की कतई ज़रूरत नहीं है। देवेन्द्र राज अंकुर कहते हैं "चूंकि आज हमारा सरोकार मुख्य रूप से कहानी के उस आधुनिक आलेख से है, जो हमारे सामने प्रकाशित शब्द के रूप में उपस्थित है, तो उसी को केंद्र में रखकर चर्चा को आगे बढ़ाया जाए। अभी तक मैंने कहानी के साथ जुड़े जितने भी तरह के रिश्तों की बात की है, वे मुख्यतः कहानी को सुनने और पढ़ने के संदर्भ में व्याख्यायित किए गए हैं। इस रिश्ते की एक नई और ताज़ी कड़ी है कहानी को देखना पूछा जा सकता है कि क्या पहली दोनों प्रक्रियाओं में श्रोता अथवा पाठक कहानी को नहीं देख रहा था? जरूर देख रहा था, लेकिन यह देखना उतना ही अमूर्त और निराकार था, जितने कि शब्द स्वयं होते हैं।"[341] जहाँ पहली दोनों प्रक्रियाओं में वह शब्दों को सुनते या पढ़ते हुए अपने मन की आँखों के सामने उनका एक चित्र देखते हुए चलता है, वहाँ इस प्रक्रिया में वह कहानी को अपने सामने ठोस, सजीव और वास्तविक रूप में घटित होते हुए देखता है, सुनता है और मानों पड़ता है-कहानी के अपने मूल शब्दों एवं फॉर्म के साथ नाटक जैसी प्रदर्शनकारी विधा के ढाँचे और व्याकरण में स्थानापन्न किए बिना।

इस प्रकार यह प्रक्रिया कहानी के साथ अब तक जुड़े अनुभवों से आगे की कड़ी तो है ही, कहीं-न-कहीं उन सबसे बिलकुल अलग भी है और यह अलगाव, नयापन और वैभिन्न पैदा होता है "वाचक या लेखक के स्थान पर अभिनेता के आगमन से, जो इससे पूर्व कथा वाचन की किसी शैली और परम्परा में नहीं हुआ और न ही शायद वहाँ उसकी कोई आवश्यकता भी थी। अभिनेता के आने के बाद कहानी मुख्यतः अभिनटन हो गई, वाचन मात्र नहीं रही। इस बात को रेखांकित किया जाना चाहिए कि कहानी जैसी विधा अपने मुद्रित रूप में जहाँ बिलकुल एकांतिक विधा बनकर रह गई थी, वहाँ अभिनेता के हस्तक्षेप से वह पुनः एक सामूहिक अनुभव में तब्दील हो गई और सबसे बड़ी बात यह कि कहानी ने इस यात्रा को स्वयं अपनी शर्तों पर तय और पूरा किया और स्वयं अपने भीतर से दर्शकों के लिए एक रंगमंचीय संसार को जीवित किया।"[342] यहीं पर एक प्रश्न से सामना होता है कि नाटक की प्रस्तुति में भी अभिनेता एक अनिवार्यता है और कहानी का रंगमंच में भी। वास्तव में, कहानी का रंगमंच का यही वह पहलू है, जिस पर विस्तार से चर्चा की

[341] कहानी का रंगमंच : संपादन - महेश आनंद, पृष्ठ संख्या 148

[342] कहानी का रंगमंच : संपादन - महेश आनंद, पृष्ठ संख्या 148

जानी चाहिए। दोनों विधाओं में सबसे बड़ा और एकदम स्पष्ट रूप से दिखाई देने वाला एक अंतर तो यही है कि नाटक तो होता ही देखने के लिए है, लेकिन कहानी के साथ ऐसी कोई शर्त नहीं जुड़ी है। अतः नाटक के मंचन की एक प्रक्रिया पहले से निश्चित है।

नाटक में अभिनेता अवश्य उपस्थित है लेकिन वह अपने निजी अथवा व्यक्तिगत रूप में नहीं, वरन एक चरित्र के रूप में होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि नाटक किसी भी शैली का हो. अभिनेता को उसमें सदैव अपनी जिंदगी से अलग एक-दूसरे व्यक्ति या चरित्र की भूमिका को धारण करना पड़ता है। मात्र धारण ही नहीं, उसे शुरू से लेकर अंत तक उस भूमिका को निभाना होता है। देवेन्द्र राज अंकुर की मान्यता यही है कि "यह निभाना कई स्तरों पर एकसाथ घटित होता है- पहले वह उस भूमिका को ओढ़ता और धारण करता है, नाटक के शब्दों और संवादों से एक स्थिति का निर्माण करता है और फिर स्वयं ही उस स्थिति को झेलता भी है। झेलने की इस नियति से उसे तब भी गुज़रना पड़ता है, जब उसके पास पूरे नाटक में बेशक एक शब्द भी बोलने को न हो। वास्तव में, नाटक के प्रदर्शन के व्याकरण का सबसे दिलचस्प पहलू ही यही है कि अभिनेता पूरी तरह से पहले तो अपने को न्यूट्रल करे और फिर अपने में उस दूसरे चरित्र, पात्र या भूमिका को स्थापित करे। इसीलिए यह सत्य ही कहा गया है कि लेखक अथवा रचनाकार अपने साहित्य में चाहे जितनी भी आत्माभिव्यक्ति करे, अभिनेता के लिए यह संभव ही नहीं है कि वह मंच पर अपना व्यक्तिगत जीवन प्रस्तुत कर सके।"[343] रचनाकार के लिए ऐसा करना नितांत संभव है, क्योंकि उसका साधन शब्द हैं, लेकिन अभिनेता तो स्वयं ही साधन है और स्वयं ही साध्य भी; ऐसे में यदि वह मंच पर अपनी जिंदगी प्रस्तुत करेगा तो उसे देखने में किसकी रुचि होगी क्योंकि मंच के बाहर तो लोग उसे अपने निजी रूप में देख ही रहे हैं। "इतना ही नहीं, नाटक के अभिनेता की एक और भी बड़ी जिम्मेदारी है और वह यह है कि वह जिस किसी चरित्र को भी मंच पर प्रस्तुत कर रहा है, दर्शकों को वह हूबहू वैसा होने या लगने का आभास दे ताकि वे उसके साथ एकाकार हो सकें अर्थात् स्वयं को उसके भीतर से प्रतिबिंबित होते देख सकें। शायद इसीलिए जीवन की अनुकृति या प्रतिबिंब के रूप में कला की व्याख्या की गई है।"[344] इसके विपरीत कहानी का रंगमंच में अभिनेता की क्या भूमिका होती है या हो सकती है-अब इस पर खुलकर विचार किया जा सकता है। सबसे पहली और जरूरी बात यही है कि कहानी के मंचन में अभिनेता आरंभ से लेकर अंत तक अभिनेता ही रहता है, उसे चरित्र बनने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। यदि उसे चरित्र की भूमिका में उतरना भी पड़ता है तो वहाँ भी उसे चरित्र बनना नहीं, वरन् बनकर दिखाना पड़ता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह स्वयं

[343] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रुपान्तरण, पृष्ठ संख्या 59

[344] कहानी का रंगमंच : संपादन - महेश आनंद, पृष्ठ संख्या 149

में कोई चरित्र नहीं हो जाता, बल्कि उस चरित्र को दिखाता या प्रस्तुत मात्र करता है। "उसकी इस प्रक्रिया के लिए कहानी के विवरणात्मक अंशों को तो वह सुनाते-सुनाते दिखा भी रहा है। इसी बीच यदि कोई ऐसा संवाद आ गया, जैसे कि घीसू ने कहा अथवा माधव चिढ़कर बोला तो पहले वह इस विवरण को बोलेगा और उसके बाद दोनों अभिनेता उस पूरे संवाद खंड को एक चरित्र की तरह से प्रदर्शित करेंगे। वे दृश्य शुरू करने से पहले ही विवरण के माध्यम से अपना-अपना परिचय दे चुके हैं, अतः उन्हें अलग से वह चरित्र बनने की जरूरत नहीं, मात्र उसे दिखाने यानी डिमांस्ट्रेट करने की जरूरत है।"[345] इस अर्थ में अभिनेता को गायक या वाचक का समानधर्मा कहा जा सकता है। कथा का गायन या वाचन करते समय हरेक शब्द और संवाद का वाहक उसे स्वयं भी बनना पड़ता है।

अभिनेता को चरित्र नहीं बनना है, इसलिए बहुत से लोग यह समझ लेते हैं कि "कहानी को रंगमंच पर ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करने से ज़्यादा आसान काम और कोई नहीं है न कोई दूसरा आलेख तैयार करने की जरूरत, न मंच पर कोई ताम-झाम की अपेक्षा बस कुछ अभिनेताओं की दरकार, उनके हाथ में कहानी का आलेख और वे मंच पर उसका पाठ करना आरंभ कर देते हैं। वे भूल जाते हैं कि कहानी के मंचन में आलेख का पाठ नहीं किया जाना है, वरन् अभिनेता के माध्यम से उसका अभिनटन होना है, उस पाठ को दृश्यों और बिंबों में परिवर्तित किया जाना है और यह सबकुछ कहानी की अपनी शर्तों पर होना है अर्थात् कहानी को कहानी बने रहना है और नाट्य रूपांतरण के बिना ही दर्शकों के लिए एक रंगमंचीय अनुभव में बदल जाना है।"[346] इस पूरी प्रक्रिया से जुड़ी जितनी भी संभावनाएँ और चुनौतियाँ थे सकती हैं, उन सबका साक्षात्कार अकेले अभिनेता को ही करना है। इस प्रकार कहानी की मंच-प्रस्तुति में अभिनेता की भूमिका जितनी अहम है, उतनी ही मुश्किल भी यदि यह प्रक्रिया बहुत आसान सी रही होती तो आज तक न जाने कितने अभिनेता इस ओर बढ़ने की पहल अपनी तरफ से कर चुके होते लेकिन सच्चाई यही है कि शायद अभिनेता को भी इस बात का बिलकुल भी एहसास नहीं था कि यह विधा उसके लिए अभिनय की कितनी बहुआयामी संभावनाओं को जन्म दे रही है। एक बार जब वह एक कहानी के मंचन की पूरी प्रक्रिया में से गुजरकर बाहर आया, तब उसे पता चला कि यह प्रक्रिया एक नाटक के बंधे बंधाए ढांचे में अभिनय करते जाने से कितनी अलग और ताज़गी भरी है। पहली बार उसने अनुभव किया कि आरंभ से अंत तक एक चरित्र बने रहने और इसके विपरीत शुरू से लेकर आखिर तक एकदम न्यूट्रल रहकर जिस क्षण जो भी चाहें, यह बन जाने में क्या अंतर है। अच्छा यही होगा कि हम कहानी का रंगमंच में अभिनेता की इसी भूमिका को रेखांकित करने का प्रयत्न करें।

---

[345] कहानी का रंगमंच : संपादन - महेश आनंद, पृष्ठ संख्या 150

[346] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रुपान्तरण, पृष्ठ संख्या 63

वास्तव में, नाटक और कहानी जैसी विधाओं में सबसे बड़ा अंतर ही यही है कि नाटक का एकमात्र माध्यम संवाद है। यदि यहाँ नेरेशन को भी आना है, तो यह भी एक प्रकार का नाटकीय संवाद ही है। कहानी के साथ संवादों की अनिवार्यता बिलकुल नहीं है। "कहानी मूलतः वर्णित के सहारे आगे बढ़ती है। यदि कहानी में संवाद आते भी हैं तो वे भी उसी वर्णित का अंश होते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि कहानी के संवाद किसी स्थिति-विशेष की नाटकीयता को स्थापित नहीं करते, वरन् वे स्थिति का विवरण ही प्रस्तुत करते हैं। यह तो कहानी के मंचन में जब अभिनेता के माध्यम से वे संवाद मंच पर सुने जाते हैं, तब सचमुच मैं स्थिति के अनुसार उनकी नाटकीयता मंच पर उजागर होने लगती है।"[347] कहानी के मंचन में अभिनेता की रचना-प्रक्रिया का सबसे दिलचस्प पहलू यही है कि उसे कहानी के विवरण को भी एक नाटकीय एवं रंगमंचीय अनुभव में तब्दील कर देना है- कहने का अर्थ यही है कि वह विवरण अब मात्र विवरण न रह जाए, वरन वह दृश्यों, बिंबों और अनुभूतिपूर्ण चित्रण में स्थानांतरित हो जाए अर्थात् विवरणात्मक शब्द मात्र शब्द न रहकर जीते-जागते ऐसे शब्दों में बदल जाएँ जो एकसाथ बोले भी जा रहे हैं और देखे भी जा रहे हैं। निश्चय ही यह प्रक्रिया नाटक की प्रस्तुति से नितांत भिन्न है। नाटक में बोलने के नाम पर केवल संवाद होते हैं। इतना ही नहीं, "प्रयोग के नाम पर कोई निर्देशक चाहे तो उन मंच-निर्देशों को अभिनेता अथवा अन्य किसी दूसरी युक्ति से पढ़वा अथवा बुलवा भी सकता है। लेकिन कहानी साथ कोष्ठक जैसी कोई सुविधा नहीं जुड़ी है। उसका हरेक शब्द पाठक, श्रोता और दर्शक के लिए भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि वह स्वयं अभिनेता के लिए होता है। यही कारण है कि किसी नाटक को उसकी संपूर्णता में देखे बिना भी उसके कथानक से परिचित हुआ जा सकता है, लेकिन कहानी के मंचन के साथ ऐसी छूट नहीं ली जा सकती। वहाँ कहानी के शब्दों, अभिनेता और दर्शक के बीच शुरू से लेकर आखिर तक एक ऐसा रिश्ता होना जरूरी है, जो बीच में कहीं भी टूटे नहीं।"[348] यह इसलिए कि बहुत संभव है, मंच पर मात्र कहानी के शब्दों और अभिनेता के अतिरिक्त और कोई भी मंच-उपकरण उपस्थित ही न हो। "यूँ भी कहानी के मंचन की सबसे आदर्श परिकल्पना यही है कि एक खाली स्पेस में उसके शब्द अभिनेताओं के समूह के माध्यम जीवंत और साकार होते चलें, जब चाहें मंच पर वैसा ही स्वरूप ग्रहण कर लें और उसी क्षण तिरोहित हो जाएँ। दर्शक के सामने कुछ हद तक सचमुच के दृश्य खंड बन जाएँ और उससे भी ज़्यादा स्वयं उसकी अपनी कल्पना के लिए विस्तार दें।"[349] एक मायने में अभिनेता को गायक और नर्तक जैसी

[347] करण सिंह ऊटवाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रुपान्तरण, पृष्ठ संख्या 55

[348] संपादन : महेश आनंद - कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 151

[349] कहानी का रंगमंच : संपादन - महेश आनंद, पृष्ठ संख्या 149

सूक्ष्म से सूक्ष्म क्षमता को भी अपने भीतर समोना होता है, जहाँ वह मात्र शब्दों की ध्वनियों अथवा मुद्राओं से ही सब कुछ साक्षात प्रस्तुत कर देते हैं।

संक्षेप में, कहानी के मंचन में अभिनेता की भूमिका स्वयं कहानीकार, कहानी के शब्दों के पाठक, वाचक, गायक और नट, न जाने कितने रूप-स्वरूप ग्रहण करती रहती है और इसी प्रक्रिया में संभवतः उसके मंचन का रहस्य छिपा हुआ है, जिसे हर बार नए सिरे से खोजना पड़ता है।

3.4.4 नाट्य प्रस्तुति का विश्लेषण

देवेन्द्र राज अंकुर ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया कि कहानियों के 'नाटकीय रूपान्तर' की ओर नहीं बढ़ना, वरन कहानी के अपने मूल 'फ़ॉर्म' में निहित कथ्य, शब्द और दृश्य को ही मंच पर स्थापित करना है। "कहानी को सुनते हुए अथवा- उससे भी आगे-पढ़ते हुए श्रोता अथवा पाठक के सामने जो एक पूरा दृश्य-जगत बनता चलता है, उसे मंच पर कैसे प्रस्तुत किया जाए? इसीलिए यह प्रयोग कहानी को सुनने और पढ़ने से आगे की कड़ी तो है ही, लेकिन इसे नाटक अथवा फ़िल्म की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। शायद यह अनुभव 'कहानियों का रंगमंच' जैसी अपनी कोई संज्ञा उत्पन्न कर सके, इसका अभी मात्र एक संकेत ही दिया जा सकता है।"[350] इन तीनों की कहानियों की मंच-प्रस्तुति जिस तरह से विकसित होती चली गई- उस रचना-प्रक्रिया में से गुज़रते हुए उपर्युक्त प्रश्न, निष्कर्ष सम्भवतः और भी स्पष्ट हो सकें। संयोग से तीनों कहानियों की भावभूमि और 'फ़ॉर्म' लगभग एक-जैसा लगा- तीनों में एक-एक पात्र है जो शुरू से लेकर अन्त तक एक लम्बा संवाद (मोनोलॉग) बोलता है, इसके साथ ही यह "एक अहसास भी बना रहता है कि संवाद की शुरूआत किसी दूसरे पात्र के साथ होती है, लेकिन यहाँ उसकी स्थिति का कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि न जाने कब यह संवाद मात्र स्व-केन्द्रित होकर रह जाता है।"[351] इस प्रकार ये कहानियाँ अकेलेपन के कुछ क्षणों में पात्रों के स्वयं अपने से साक्षात्कार की कहानियाँ हैं- इस मूल थीम को रेखांकित करने के लिए ही प्रस्तुति को एक सम्मिलित नाम 'थ्री टेक्स्ट्स इन सॉलीट्यूड' दिया गया था।

इन प्रयोगों के द्वारा नाटक और रंगमंच तो समृद्ध हुआ ही है साथ ही साहित्य की अन्य विधाओं को भी इस क्षेत्र में प्रतिष्ठा मिली है। इसी का परिणाम है– नाटकेतर विधाओं का मंचन। मंचन के अतिरिक्त उपन्यास, कहानी, कविता, व्यंग्य-रचनाएं, डायरी तथा पत्र इत्यादि साहित्यिक विधाओं को भी रंगमंच पर उतारने के लिए सफल प्रयास हुए हैं इसी श्रृंखला की कड़ी में 1975 में सर्वप्रथम देवेन्द्रराज अंकुर ने निर्मल वर्मा की तीन कहानियों की 'तीन एकांत' नाम से प्रस्तुति कर 'कहानी का रंगमंच' की शुरूआत की। अब तक लगभग तीन सौ कहानियां इस प्रयोग से गुजर चुकी हैं तथा इस प्रयोग की सार्थकता को घोषित कर रही है। तत्कालीन रंगमंचीय स्थिति को देखते हुए धर्मवीर भारती लिखते हैं, "बहुत सी नाट्य परम्पराओं की लोकप्रियता की रवायतों से हमें ख्वाहमख्वाह आक्रांत होने की कोई जरूरत नहीं दिखती जैसे रंगमंच और उनसे सम्बद्ध नाट्य-लेखन हिन्दी में नहीं है, यह हमारा दुर्भाग्य नहीं सौभाग्य है। हम एक स्वस्थ शुरूआत तो कर सकते

[350] संपादन : महेश आनंद - कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 161

[351] संपादन : महेश आनंद - कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 154

हैं।"[352] हिन्दी रंगमंच के सन्दर्भ में कहानी के अंशों को नाट्यांरित किए बिना सीधे खेलने की जो परम्परा शुरू हुई, वह देश की अन्य भाषाओं के रंगमंच में नहीं मिलती। यह हिन्दी रंगमंच की खास स्थिति के कारण सम्भव हुआ। "छठे-सातवें दशकों में इब्राहिम अल्काजी द्वारा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में रंगमंच को लेकर जिस काम की शुरूआत हुई। वह एक ऐसी तकनीकी क्रांति थी जिसने पहली बार नाटक को अखिल भारतीय स्तर पर एक विकासशील और जीवंत रंगमंच का व्यापक सन्दर्भ दिया।"[353] कहानी का नाट्यांतरण किए बिना उसे रंगमंचीय रूप में प्रस्तुत करना अपने आप में कई प्रश्न खड़े करता है। कई आलोचक हिन्दी रंगमंच को अनुवादों और रूपान्तरों का रंगमंच कहते हैं। कहानी का रंगमंच अपने आप में सफल प्रयोग है। इसीलिए मई 1975 ई. में पहले देवेन्द्र राज अंकुर जी के बाद भी इसके आज तक कई दूसरे स्थानों पर भी प्रदर्शन हो चुके हैं।

[352] धर्मवीर भारती- पशयन्ती, पृष्ठ 124-25

[353] संपादन : महेश आनंद - कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 153

अध्याय 4

हिंदी उपन्यास का नाट्य रूपान्तरण

4.1 श्रीलाल शुक्ल और राग-दरबारी

राग-दरबारी श्रीलाल शुक्ल का बहुचर्चित एवं बहुपठित उपन्यास है। यह उनकी प्रसिद्धि का प्रमुख आधार है। इस उपन्यास ने उन्हें हिंदी में एक व्यंग्य लेखक के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की है। इस उपन्यास की रचना सन् 1967 में हुई थी तथा इसका प्रकाशन उसके अगले वर्ष यानी 1968 में हुआ। इसके लिए उन्हें सन् 1969 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। राग-दरबारी के अतिरिक्त, श्रीलाल शुक्ल के सूनी घाटी का सूरज, पहला पड़ाव, अज्ञातवास, सीमाएँ टूटती हैं, विश्रामपुर का संत आदि उपन्यास हैं। उपन्यासों के अलावा उन्होंने अनेक व्यंग्य रचनाओं का भी लेखन किया है, जिनमें 'अंगद का पांव' सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है।

राग-दरबारी अपने ढंग और शैली में एक अनूठा उपन्यास है। यही कारण है कि इसका भारतीय भाषाओं ही नहीं अनेक विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद हो चुका है। यही नहीं, इस उपन्यास पर एक दूरदर्शन धारावाहिक का प्रसारण भी किया गया है। दूरदर्शन पर यह प्रसारण 1986-87 में किया गया था। इस धारावाहिक को लाखों लोगों द्वारा देखा तथा पसंद किया गया। इसकी लोकप्रियता को देखते हुए ही, आकाशवाणी द्वारा इस उपन्यास पर कई एपिसोडों का रेडियो नाटक तैयार कर प्रस्तुत किया गया। राग-दरबारी उपन्यास का 'रंगनाथ की वापसी' नाम से नाट्य रूपांतर भी किया जा चुका है। इस अध्याय में रंगनाथ की वापसी पर चर्चा की गई है। यह नाट्यांतरण मशहूर नाट्य समीक्षक और रंगकर्मी गिरीश रस्तोगी द्वारा किया गया है। गिरीश रस्तोगी आजीवन नाटक लेखन और रंगकर्म से जुड़ी रही हैं। उन्होंने अनेक मौलिक नाटकों और रूपांतरित नाटकों की रचना की है। रंगनाथ की वापसी नाटक की रचना सन् 1982 में हुई थी। यह राग-दरबारी उपन्यास की भांति ही काफी लोकप्रिय हुआ। इसका पहला मंचन गोरखपुर में हुआ था। इसके बाद, अनेक बड़े रंगमंचों से इसका प्रस्तुतीकरण हो चुका है। किसी रचना का नाट्य रूपांतरण स्वयं में एक सृजनात्मक कृति है, यदि लिखित साहित्य को केवल वाचिक साहित्य में बदल देना इस रूप की प्राप्ति नहीं है। किसी दूसरी विधा की रचना का नाट्यांतरण करना, उसे दृश्य रूप देना एक चुनौती भरा कार्य होता है। राग-दरबारी जैसे वृहत उपन्यास के लिए तो यह चुनौती और बड़ी हो जाती है। राग-दरबारी में घटनाओं और पात्रों की भरमार है। इसके अनेक प्रसंग बहुत लंबे और विस्तृत हैं। उन्हें उसी रूप में नाटक में शामिल नहीं किया जा सकता था। नाटक की सफलता उसकी

रंगमंचीयता में है। लेखिका एक सफल रंगकर्मी रही हैं अतः वे रंगमंचीयता की सभी बारीकियों से भली-भांति अवगत थीं। उन्होंने पात्रों और प्रसंगों के चयन में पूरे सूझबूझ और समझ से काम लिया है। यही कारण है कि यह नाटक रंगमंचीय दृष्टि से काफी सफल रहा है। इसके पहले मंचन में खुद श्रीलशुक्ल मौजूद रहे हालाँकि इस प्रदर्शन से बहुत खुश नहीं थे लेकिन कुछ संसोधनों के पश्चात् इसका रूप और अच्छा किया गया।

राग दरबारी पर पहली समीक्षा नेमिचंद्र जैन ने लिखी थी। यह उपन्यास अपने समय में जितना मशहूर हुआ और आज भी यह उतना ही प्रासंगिक है। "उपन्यास की चित्रणशैली में अंतर्भूत अंतर्दृष्टि और यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में अंतर्भूत सामाजिक द्वंद्वात्मकता के बजाय नेमिचंद्र ने राग दरबारी में आद्यंत यथार्थवादी सपाटता देखते हैं। उस समय के कथालेखन में प्राय: मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से स्त्री–पुरुष संबंध का अंतर्द्वंद्व प्रस्तुत करने वाली कृतियों को ही श्रेष्ठ माना जा रहा था। बहुत बाद में श्रीलाल जी ने अपना पक्ष रखा और यह बताया कि राग दरबारी की रचना का प्रेरणास्रोत भारतीय ग्रामजीवन के अंतर्विरोधों की पहचान में ही निहित हैं।"[354] परमानंद श्रीवास्तव की समीक्षा 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुई थी, बताते हैं कि "राग दरबारी द्वारा प्रस्तुत असलियत का सामना हमारा बुद्धिजीवी समाज नहीं कर पा रहा है। वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से हिंदुस्तानी दिमाग के भीतर मौजूद अवरोध तभी समाप्त हो सकता है जब वह मूल्यहीनता के चित्रण के क्रम में व्यंग्यात्मक प्रहार की निस्संगता के प्रति ग्रहणशील होगा। राग दरबारी में तत्कालीन भारतीय गांवों के जीवन यथार्थ के द्वंद्व के चित्रण की प्रासंगिकता और सार्थकता उपन्यास की शिल्पविधि में परिवर्तन पर निर्भर करती है। कथाविन्यास और शिल्पविधि का यह परिवर्तन परमानंद श्रीवास्तव के विश्लेषण का आधार है। इसी बिंदु पर खड़े होकर वे तमाम आरोपों का खंडन करते हैं और संकेतों के द्वारा विभिन्न समीक्षाओं में उठाए गए प्रश्नों के उत्तर बहुत ही सधे तरीके से देते हैं। इसके बावजूद राग दरबारी को लेकर विवादों का सिलसिला बंद नहीं हुआ, चूंकि विभिन्न आलोचकों के अलग–अलग किस्म के प्रतिमानों के भीतर जो मतांतर थे, वे मूलत: वैचारिक थे, यहां तक कि यह बहस नाक की लड़ाई और गुटबाजी तक में तब्दील हो गई।"[355] श्यामाचरण दूबे ने स्पष्ट कहा है कि "चूंकि राग दरबारी के सामाजिक अभिप्राय तथा ग्रामीण जीवन के अंतर्विरोधी सारतत्व को उन्होंने हिंदी समालोचकों की तुलना में भिन्न दृष्टि से रेखांकित किया था, शिवपालगंज की कहानी परंपरा और प्रगति के मुखौटों की कहानी है, जिन पर लेखक ने निर्मम प्रहार किए हैं, अपने सशक्त पर नियंत्रित व्यंग्य से। गांव के बदलते परिवेश का इतना रोचक विवरण अन्यत्र दुर्लभ है। शैली में न

[354] रेखा अवस्थी : राग दरबारी आलोचना की फांस, पृष्ठ संख्या 74

[355] रेखा अवस्थी : राग दरबारी आलोचना की फांस, पृष्ठ संख्या 87

कहीं उलझाव है, न बोझिलता। विराट समाजशास्त्रीय कल्पना वाले बीस विद्वान ग्रामीण यथार्थ के बारे में जो नहीं कह सकते, वह इस एक उपन्यास में श्रीलाल शुक्त ने कह दिया है।"[356] इस उपन्यास की खासियत ही यही है कि वर्तमान परिदृश्य में भी यह राजनीति पर अच्छा व्यंग्य करता है।

[356] श्यामाचरण दूबे : परम्परा, इतिहासबोध और संस्कृति, पृष्ठ संख्या 140-141

4.1.1 कथानक के स्तर पर

उपन्यास के शुरुआत में जहाँ विवरण दिया हुआ है नाटक भी वैसे ही शुरू किया जाता है। इस नाटक का केंद्रीय पात्र रंगनाथ है और वही सूत्रधार या उद्घोषक भी है। रंगनाथ ही राग-दरबारी उपन्यास का दृष्टा और भोक्ता है यही कारण है कि नाटककार ने उसे नाटक का केंद्रीय चरित्र और आधार बनाया है। रंगनाथ शिवपालगंज में घटित होने वाली हर घटना का एक मूक दर्शक है। उसकी सहानुभूति शिवपालगंज के आम आदमी के प्रति है किंतु वह उनके लिए कुछ भी नहीं कर पाता। वह शिवपालगंज की व्यवस्था से निराश है पर वह उसे बदलने में खुद को असमर्थ पाता है। अंत में वह शिवपालगंज छोड़ने का निर्णय लेता है। उसका यह पलायन अत्यंत मार्मिक और त्रासदपूर्ण है। "रंगनाथ उस शिक्षित और बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधि है जो मौन होकर सब कुछ तो देखता है किंतु उसके खिलाफ आवाज नहीं उठाता। वह स्थिति को बदलने अथवा उसका विरोध करने के स्थान पर खुद को उससे अलग कर लेता है। उसकी यह निर्लिप्तता समाज और राष्ट्र के पिछड़ेपन का प्रमुख कारण है और यही इस नाटक का केंद्रीय भाव है। राग-दरबारी स्वातंत्र्योत्तर भारत के ग्रामीण जीवन और वहाँ की राजनीति का यथार्थ चित्रण है। यह आजादी के आंदोलन से जुड़ी हमारी प्रतिज्ञाओं के टूटने और हमारे स्वप्नों के भंग होने का प्रमाणिक दस्तावेज है।"[357] यह भारतीय शासन व्यवस्था की असफलताओं और नाकामियों की कहानी है। देश की आजादी के दो दशकों के भीतर ही यह स्पष्ट होने लगा था कि आम आदमी के लिए इस आजादी के अधिक मायने नहीं हैं। उसकी स्थिति जैसी आजादी से पूर्व थी, अब भी वैसी ही है। वह शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाओं के लिए अब भी मोहताज है। गांवों के हालात बदतर हैं। वहाँ, गरीबी, भुखमरी, बीमारी, अकाल जैसी समस्याएँ पहले की ही तरह बनी हुई हैं। "आजादी के कुछ सालों बाद ही इस देश में पंचवर्षीय योजनाएँ लागू कर दी गईं, किंतु उनके प्रभाव से अधिकांश गांव अछूते ही रहे। गांवों के सुधार एवं विकास से संबंधित सारी योजनाएं कागजों पर ही बनतीं और कागजों पर ही क्रियान्वयित होतीं। इन योजनाओं के नाम पर जो धन आबंटित होता वह राग-दरबारी के वैद्य जी सरीखे ताकतवर और प्रभुत्वशाली लोगों की जेब में जाता था।"[358] गांवों में जहाँ-कहीं सरकारी स्कूल और अस्पताल खुले भी तो केवल नाम के लिए। उन स्कूलों और अस्पतालों की हालत ऐसी जिस पर केवल तरस ही खाया जा सकता है। वहाँ न ढंग की छतें और दीवारें ही होती थीं। देश की राजधानी दिल्ली में गांवों के विकास के नाम पर बनने वाली अधिकांश योजनाएँ गांवों तक पहुंचने से पूर्व ही दम तोड़ देती थीं। नाटक में जिस गांव शिवपालगंज का चित्रण

[357] सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा शास्त्र, पृष्ठ संख्या 97

[358] सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा शास्त्र, पृष्ठ संख्या 97

है वह 1970 के दशक के अधिकांश भारतीय गांवों का प्रतिनिधित्व करता है। शहर के किसी विश्वविद्यालय से पी-एच.डी शोधकार्य कर रहा रंगनाथ छुट्टियों में स्वास्थ्य लाभ के लिए अपने मामा के गांव शिवपालगंज आया है। वह गांव के जीवन और राजनीति को देखकर हैरान और परेशान है। गांव की सत्ता के केंद्र में वैद्यजी हैं। उनके पहलवान बेटे बद्री और उनके चेलों की ही वहां चलती है उस कस्बे की राजनीति, प्रशासन, थाना, कालेज, गांव-सभा सब पर उन्हीं का दबदबा है। "हमारे देश की राजनीति में जो तानाशाही की प्रवृत्ति है, उसकी झलक नाटक में वैद्य जी के चरित्र में देखी जा सकती हैं। गांव की जिंदगी को देखकर ऐसा लगता है कि यह सदियों से एक-ही ढर्रे पर चलता आ रहा है। वहाँ आधुनिकता के नाम पर कुछ भी नहीं है। स्कूल, अस्पताल, पंचायत भवन से लेकर पुलिस थानों तक सब जर्जर अवस्था में हैं।"[359] देश में लोकतंत्र को आए दो दशक हो चुके थे किंतु शिवपालगंज में अब भी वैद्य जी का तंत्र चल रहा था। यह हाल केवल शिवपालगंज का ही नहीं था, बल्कि तत्कालीन भारत के अधिकांश गांवों की यही स्थिति थी।

रंगनाथ को भी यही लगता है कि कहीं कोई विकल्प नहीं है, हर ओर अंधेरा है, पूरा हिंदुस्तान ही शिवपालगंज है, जहां वैद्यजी की ही सत्ता है। रोजी रोटी के लिए उनका दरबारी बनना ही उसकी नियति है। वह खुद को भयानक रूप से घिरा महसूस करता है। 'राग-दरबारी' में लेखक अपनी ओर से कोई स्पष्ट वैचारिक समाधान या दिशा नहीं बताता। नाटक का स्क्रिप्ट भी स्थितियों को ज्यों का त्यों सामने रख देता है लेकिन जगह-जगह लेखक के गहन अनुभवों से भरी टिप्पणियों की गूंज जरूर दर्शकों के जेहन में जगह बना लेती है। जैसे नाटक में एक जगह रंगनाथ लंगड़ से कहता है- "देखो...लंगड़ जानने की बात सिर्फ एक है कि तुम जनता हो और जनता इतनी आसानी से नहीं जीतती।"[360] नाटक में चित्रित गांव 1967-70 के समय का गांव है किंतु इसकी तस्वीर आज के गांवों से अधिक भिन्न नहीं है। आज गांवों की स्थिति पहले से कुछ बेहतर हुई है किंतु ऐसा भी नहीं कि उनका पूरी तरह कायापलट हो गया हो। आज भी देश के अधिकांश गांव बुनियादी सुविधाओं से वंचित हैं। शिक्षा और रोजगार के लिए लोगों का गांवों से शहरों की ओर पलायन पहले से कहीं ज्यादा बढ़ गया है। महंगाई ने गांव की जिंदगी को अधिक त्रस्त किया है। आज सरकारें जितनी तेजी से गरीबी हटाओ के नारे लगाती है, गरीबी उतनी ही तेजी से बढ़ती जा रही है। आज किसान सबसे ज्यादा बदहाल है। पिछले दो-तीन दशकों से तो किसान आत्महत्याओं की बाढ़ सी आ गई है। इन सबको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि राग-दरबारी उपन्यास की प्रासंगिकता पहले से अधिक बढ़ गई है। व्यंग्य इस उपन्यास की ताकत भी है और कमजोरी भी।

[359] डॉ. वीणा गौतम : हिंदी नाटक पृष्ठ संख्या 37

[360] गिरीश रस्तोगी : रंगनाथ की वापसी, पृष्ठ संख्या 50

उपन्यास में व्यंग्य का अत्यधिक प्रयोग कई आलोचकों को बहुत खटकता है। कुछ आलोचकों ने तो इसे उबाऊ तक कह दिया है किंतु, व्यंग्य इस उपन्यास की एक बड़ी शक्ति है। आकार में बड़ा होने के बावजूद भी इस उपन्यास की पठनीयता और रोचकता बनी रहती है। व्यंग्य ही इसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण भी है। इसके नाट्य रूपांतर में भी गिरीश रस्तोगी ने इसकी व्यंग्यधर्मिता को बनाए रखा है।

4.1.2 संवाद के स्तर पर

इस उपन्यास की सबसे बड़ी ताकत है- इसकी धारदार व्यंग्यात्मक शैली। इसके व्यंग्य को समझने के लिए न तो साहित्यिक ज्ञान और अभिरुचि की जरूरत होती है और न ही भाषा संबंधी विशेष समझ की। सामान्य सा पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी बड़े आराम के साथ इससे तादात्म्य बैठा लेता है। यह एक बहुत बड़ा कारण रहा, जिससे हर वर्ग के लोग इससे जुड़ते चले गए। इसकी भाषा को और भी प्रभावशाली तरीके से मंचन करते समय बोला गया है। मंचन की खास बातों में यह बात उल्लेखनीय है कि पढ़ने और सुनने से ज्यादा देखते हुए सुनने में ज्यादा प्रभावशाली लगता है। "एक ट्रक खड़ा था। उस देखते ही यकीन हो जाता था कि उसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार के लिए हुआ है।"[361] "किसी संस्था का फोकट में पैसा खा लेने भर से आदमी का सम्मान नष्ट नहीं होता।"[362] श्रीलाल शुक्ल, के उपन्यास 'राग दरबारी'में भाषा के अद्भुत प्रयोग को देख सकते हैं। इस अद्भुत भाषा के प्रयोग के कारण ही राग दरबारी उपन्यास में सर्वथा नई और अनूठी शैली का उन्मेष हुआ है। लेखक की शैली में एक खास तरह की ताजगी और कलात्मक अभिव्यक्ति का सन्निवेश है। श्रीलाल शुक्ल की गढ़ी हुई भाषा ने उनकी शैली को भाव व्यंजक सुष्ठु तथा प्रौढ़ रूप प्रदान किया है। जटिल से जटिल भाव की अभिव्यक्ति करते समय भी ऐसा प्रतीत होता है, कि मानों शब्द उनके पास अपने-आप ही दौड़े हुए चले आते हैं। वास्तव में शुक्ल जी की भाषा उनके भावों तथा विचारों को अभिव्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ, सक्षम और सशक्त है। राग दरबारी में मुख्यतःभाषा के दो रूप मिलते हैं। एक रूप गँजहे लोगों की बोलचाल में, संवाद में उभरता है और गँजहों की मानसिकता को, चरित्र को आकार देता है। दूसरा रूप लेखक की अपनी व्यंग्यात्मक, हास्योत्पादक शैली हैं। लेखक ने परिवेश को प्रमुखता दी है, अतः शैली में वर्णनात्मकता प्रचुर रूप में आती हैं। परंतु इस वर्णनात्मकता को चित्रांकन शक्ति से तथा मूर्तिकरण की कला से जीवंत बना दिया हैं। ट्रक का, थाने का, मेले का, दुकानों का, कॉलेज का वर्णन इस संदर्भ में किया गया है। वस्तुओं, स्थितियों तथा व्यक्तियों का वर्णन करते समय लेखक एक स्तर पर उसकी वास्तविकता को उजागर करते हुए दूसरी और उसमें छिपी असंगतियों को हास्योत्पादकता को उधाड़ता चलता है। "कुछ बेशर्म लड़के भी हैं जो कभी- कभी इम्तहान पास कर लेते हैं।"[363] इस प्रकार के वाक्य लेखक लगातार लिखता जाता है। इन्हीं संवादों को नाटक में भी ऐसे ही बोला गया है। "यह हमारी

[361] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या, 41
[362] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या, 69
[363] गिरीश रस्तोगी : रंगनाथ की वापसी, पृष्ठ संख्या, 78

गौरवपूर्ण परंपरा है कि असल बात दो चार घंटे की बातचीत के बाद अंत में ही निकलती है"[364] लेखक की भाषा शैली में सूचित संदर्भ पर विचार किया जाये तो ये संदर्भ पर्याप्त व्यापक परिवेशगत स्थितियों से किये गये दिखाई देते हैं। इस संदर्भो में राजनीतिक, सामाजिक स्थितियों का संकेत होता है जन-मानस का गहरा परिचय दिखता हैं। भाषा-शैली में चुलबुलापन है, चुटीला व्यंग्य है कभी सीधे चोट करने की प्रवृत्ति हैं। कहीं दूर तक अर्थ की गूँज पैदा करने वाले वाक्य हैं। ग़जब की वक्रता दो टूक ढंग से बात करते हुए प्रकट होती हैं। शिवपालगंज के लोगों की भाषा में उखाड़-पछाड़, बेलाग चुभतापन, बेरोकटोक अक्खड़पन मुँहफट बेबाकपन स्पष्ट होता हैं। गाली-गलौज के साथ कुछ ग्राम्य जीवन की भदेस अनगढ़ भाषा का प्रयोग भी हैं। सनीचर, छोटे पहलवान, रुप्पन की भाषा वैशिष्ट्यपूर्ण हैं। प्रिंसिपल की ब्रजभाषा और जोगनाथ की सर्फरी बोली ने अपना अलग रंग जमाया हैं। "अण्डा नहीं देंगे तो क्या बाल उखाड़ेंगे? सब मीटिंग में बैठकर राँड़ों की तरह फाँय-फाँय करते हैं, काम-धाम के वक्त खूँटा पकड़कर बैठ जाते हैं।"[365] 'राग दरबारी'में गयादीन, वैद्यजी की भाषा और अन्य पात्रों की भाषा का अंतर भी देखा जा सकता हैं।

व्यंग्य का उपयोग विसंगतियों पर प्रकाश डालने के लिए सर्वत्र किया गया हैं। उपन्यास में लिखे संवादों को मंच पर उसी भाव से बोलने पर भाषा की खूबसूरती और भी बढ़ जाती है। श्रीलाल शुक्ल ने इस उपन्यास में नाटकीय तत्वों को भाषा के माध्यम से रचा है। अखबार विज्ञापन, लेक्चरबाजी आदि के सम्बन्ध में यह व्यंग्य पैना हो गया हैं। बीच बीच में संवादों को देखने से उसकी प्रतीकात्मकता और भी प्रभावी हो जाती है गांधीवादी कहलाने वाले और व्यवहार में बेहद संयत (मगर कुटिल) वैद्यजी के बारे में रंगनाथ की जिज्ञासा का एक प्रसंग है, जिसमें रुप्पन अपने पिता की ख़ूबियों का बखान करते हैं। रुप्पन ने बड़े कारोबारी ढंग से कहा, 'पिताजी कालेज के मैनेजर हैं। मास्टरों का आना-जाना इन्हीं के हाथ में है।' रंगनाथ के चेहरे पर अपनी बात का असर पढ़ते हुए उन्होंने फिर कहा, 'ऐसा मैनेजर पूरे मुल्क में न मिलेगा। सीधे के लिए बिल्कुल सीधे हैं और हरामी के लिए ख़ानदानी हरामी।"[366] रंगनाथ ने यह सूचना चुपचाप हजम कर ली और सिर्फ़ कुछ कहने की गरज़ से बोला, 'और को-ऑपरेटिव यूनियन के क्या हाल हैं? मामाजी उसके भी तो कुछ थे।' 'थे नहीं, हैं।' रुप्पन ने ज़रा तीख़ेपन से कहा, 'मैनेजिंग डाइरेक्टर थे, हैं और रहेंगे।"[367] हास्य और व्यंग के नए तेवर राग दरबारी उपन्यास में सर्वत्र दिखाई देते हैं। भाषा की यह व्यंजना

[364] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या 152
[365] गिरीश रस्तोगी: रंगनाथ की वापसी, पृष्ठ संख्या 81
[366] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या 202
[367] गिरीश रस्तोगी : रंगनाथ की वापसी, पृष्ठ संख्या 49

संवेदना को अधिक विक्षुब्द बनाती है। यह राग दरबारी उपन्यास की भाषा का प्रमाण है। उदहारण के लिए उपन्यास के आरंभ में से ही ट्रक का पूरा बिंब लोकतांत्रिक व्यवस्था की मूल्यविहीनता का संपूर्ण प्रतीक है। ग्रामीण और शहरी रिक्शा वाले हमारे सामाजिक जीवन दृष्टि को दो रूपों को प्रतिबिंबित करते हैं। इसी प्रकार गँजहापन एक विशिष्ट प्रकार की जीवन शैली हैं। उसका भाषा प्रयोग, लोक व्यवहार और रिति-रिवाज अलग हैं। उसमें गाँव की मासूमियत और शहरी चतुराई का सुखद संयोग है। व्यावहारिक जीवन में कार्यों की अतार्किक परिणति से व्यंग्य की सृष्टि हुई हैं। व्यंग्य केवल पात्र, परिवेश और संस्थान के प्रति ही नहीं अपितु उससे जीवन पद्धति का भी अंतर्विरोध प्रकट हो गया हैं। छंगामल विद्यालय पर टिप्पणी करते हुए लेखक लिखता है "इन्हीं सब इमारतों के मिले-जुले रूप को छंगामल विद्यालय इण्टरमीजिएट कॉलेज शिवपालगंज कहा जाता है। यहाँ से इण्टरमीजिएट पास करने वाले लड़के सिर्फ इमारत के आधार पर कह सकते थे कि हम शांति निकेतन से भी आगे हैं, हम असली भारतीय विद्यार्थी हैं, हम नहीं जानते कि बिजली क्या है, नल का पानी क्या है, पक्का फर्श किसको कहते हैं, सैनिटरी फिटिंग किस चिड़िया का नाम हैं। हमने विलायती तालीम तक देसी परंपरा में पायी है और इसलिए हमें देखो, हम आज भी उतने प्राकृत हैं। हमारे इतना पढ़ लेने पर भी हमारा पेशाब पेड़ के तने पर उतरता है, बंद कमरे में ऊपर चढ़ जाता हैं।"[368]

जीवन और समाज की विश्वसनीय अभिव्यक्ति के लिए राग दरबारी की भाषा की भंगिमा पात्र परिवेश और विषय वस्तु के अनुसार बदलती है, उदाहरण के लिए 'थाना और अदालत की भाषा में उर्दू मिश्रित शब्दों का प्रयोग मिलता है,चूँकि उत्तर भारत में कचहरियों में आज भी उर्दू का प्रचलन व्यापक रूप से है कानून की भाषा का उदाहरण- "बैजनाथ ने सबूत का पूरा मुकदमा दोहरा दिया। बताया जोगनाथ के घर की तलाशी मेरी मौजूदगी में हुई, ये तीन जेवर मेरे सामने से बरामद हुए, इन्हें मेरे सामने मुहर बंद किया गया, बरामदगी की रिपोर्ट मेरे सामने लिखी गई, इस पर मेरा दस्तखत मेरे सामने ही हुआ"[369] आदि। इस उपन्यास की भाषा में अनुभव की विविधता है। राग दरबारी में वस्तुगत भयावहता को भाषा के सतर्क और बेधक मुहावरे में अभिव्यक्ति मिली है। मोहभंग, अवमूल्यन, अमानवीयकरण की त्रासद, विडंबनापूर्ण और विद्रूपमई स्थितियों और मनःस्थितियों को उकेरने में कहावतों, दृष्टांतों और प्रतीकों से समृद्ध भाषा अभिप्राय के विभिन्न स्तरों को खोलने में सफल है। राग दरबारी की भाषा को और भी प्रभावी बनाने के लिए गिरीश

[368] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या 178
[369] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या 19

रस्तोगी ने संवादों को और लयात्मकता के साथ लिखा है। कुछ संवादों को उनके चुटीले स्वाभाव के कारण मंचन में भी वैसा ही रखा गया है जैसा वे उपन्यास में लिखे गए हैं।

"तुम मंझोली हैसियत के मनुष्य हो और मनुष्यता के कीचड़ में फंस गए हो। तुम्हारे चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ है। कीचड़ की चापलूसी मत करो। इस मुगालते में न रहो कि कीचड़ से कमल पैदा होता है। कीचड़ में कीचड़ ही पनपता है। वही फैलता है वही उछलता है।

कीचड़ से बचो। यह जगह छोड़ो। यहां से पलायन करो।"[370]

कोष्ठक में दिए हुए विवरण को उपन्यास में लिखा गया है लेकिन जब उसका नाट्य रूपान्तरण किया गया तो उस भाव को समझने के लिए उसे ऐसे ही रखा गया है।

"वहां, जहां की रंगीन तस्वीरें तुमने लुक और लाइफ में खोजकर देखी हैं (जहां के फूलों के मुकुट, गिटार और लड़कियां तुम्हारी आत्मा को हमेशा नए अन्वेषणों के लिए ललकारती हैं) जहां की हवा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है, जहां रविशंकर- छाप संगीत और महर्षि-योगी छाप अध्यात्म की चिरंतन स्विप्नलता है। जाकर कहीं छिप जाओ। यहां से पलायन करो। यह जगह छोड़ो।"[371]

"नौजवान डाक्टरों की तरह, इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, अंतरराष्ट्रीय ख्याति के लिए हुड़कने वाले मनीषियों की तरह, जिनका चौबीस घंटे यही रोना है कि सबने यहां मिलकर उन्हे सुखी नहीं बनाया, पलायन करो, यहां के झंझटों में मत पड़ो।"[372]

"अगर तुम्हारी किस्मत ही फूटी हो और तुम्हें यहीं रहना पड़े तो अलग से अपनी एक हवाई दुनिया बना लो। उस दुनिया में रहो जिसमें बहुत-से बुद्धिजीवी आंख मूंदकर पड़े हैं होटलों और क्लबों में। शराबखानों और कहवाघरों में, चण्डीगढ़-भोपाल-बंगलौर के नवनिर्मित भवनों में, पहाड़ी आरामगाहों में, जहां कभी न खत्म होने वाले सेमिनार चल रहे हैं। विदेशी मदद से बने हुए नए-नए शोध-संस्थानों में, जिनमें भारतीय प्रतिभा का निर्माण हो रहा है। चुरूट के धुयें, चमकीली जैकेट वाली किताब और गलत, किन्तु अनिवार्य अंग्रेजी की धुन्ध वाले विश्वविद्यालयों में। वहीं जाकर जम जाओ, फिर वहीं जमे रहो।"[373] ऐसे ही संवादों को नाटककार ने उपन्यास से जस का तस ले लिया है अर्थ स्पष्ट है कि श्रीलाल शुक्ल भाषा संवादात्मक है जिस कारण गिरीश रस्तोगी ने

[370] गिरीश रस्तोगी : रंगनाथ की वापसी, पृष्ठ संख्या 42
[371] गिरीश रस्तोगी : रंगनाथ की वापसी, पृष्ठ संख्या 43
[372] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या 21
[373] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या 47

उनकी भाषा शैली से नाट्य रूपान्तरण में भी वही शैली रखी। ऐसे ही नीचे कुछ उदाहरण हैं जिनमे किसी तरह का कोई बदलाव नहीं किया गया और उसे नाटक में प्रयोग किया गया है।

"वर्तमान शिक्षा-पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है।"[374]

"नैतिकता, समझ लो कि यही चौकी है। एक कोने में पड़ी है। सभा-सोसाइटी के वक्त इस पर चादर बिछा दी जाती है।"[375]

"तुम्हारा गियर तो बिलकुल अपने देश की हुकुमत जैसी है।"[376]

"वे झपटकर इतिहास के कमरे में घुसे और यही कहते हुए पुराणके रोशनदान से बाहर कूद आये।"[377]

इन अवतरणों में आये 'गियर', 'कुतिया', 'चौकी', 'रोशनदान' आदि की सहायता से बनी हुई भाषा यदि बहुत ठेठ, निस्संग और आक्रामक लगती है तो यह उसमें केंद्रस्थ वस्तुगत भयावहता की स्वाभाविक परिणति है। भाषा जीवन और साहित्य के बीच की कड़ी है। यह व्यक्तिगत अनुभवों एवं विचारों को समाज तक सम्प्रेषित करने का एक अनिवार्य माध्यम है। उपन्यास कि भाषा तो जीवन की भाषा होती हैं। श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास 'राग दरबारी' में तत्सम शब्द,अंग्रेजी शब्द, युग्म-शब्द, मुहावरों और कहावतों का प्रयोग भी देख सकते हैं। "मुहावरों से भाषा की अभिव्यक्ति अधिक सामर्थ्यवान बनती है। उपन्यास के कुछ मुहावरेदार बात के बतासे फोड़ना, खेत की मूली उखाड़े न उखड़ना, तीन तेरह करना, मुँह की बात छीन लेना, रास्ता नापना, गाज गिरना आदि। मुहावरों की तरह कहावतों का प्रयोग भी श्रीलाल शुक्ल ने कथ्य के अनुरूप किया है। कुछ उदाहरण- वर्तमान शिक्षा पद्धति रस्ते में पड़ी हुई कुतिया है, गाय ही चली गई तो पगहे का क्या अफसोस, गागर में सागर, हम किस खेत की मूली है, कुत्ते भूँकते जाते हैं, आदि। पाठक व्यंग के मीठे-तीखे-चटपटे स्वाद में इतना मगन रहता है कि स्फीतिकारी अंश और संरचनागत दरारों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता है।"[378] हिंदी के अन्य किसी भी उपन्यास में व्यंग्यात्मकता का इतना विशद बेधक और प्रहारक भंगिमाएं सर्जनात्मक रुप में समाहित नहीं हुई हैं। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि इस उपन्यास में भाषा-शैली के माध्यम से लेखक ने शिवपालगंज के बहाने पूरे

[374] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या 58
[375] गिरीश रस्तोगी : रंगनाथ की वापसी, पृष्ठ संख्या 53
[376] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या 59
[377] गिरीश रस्तोगी : रंगनाथ की वापसी, पृष्ठ संख्या 63
[378] श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी, पृष्ठ संख्या 109

देश की दशा और दिशा का जो पूर्वानुमान लगाया था वह इतने दशको के बाद भी किसी-न-किसी रूप में भयावह रूप धारण करके प्रस्तुत हो रहा हैं। एक कठिन यथार्थ को व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करने की भाषा-शैली अपने पाठक को भीतर तक झक-झोर जाती हैं। इन संवादों और भाषा शैली से नाट्य रूपान्तरण की संवाद शैली और बेहतर हो गयी।

अपनी व्यंग्य और भाषिक भंगिमा के कारण राग दरबारी अपने समकालीन उपन्यासों से भिन्न प्रकृति का दिखायी देता है। इसका नाट्य रूपान्तरण ज्यादा इसीलिए भी प्रसिद्द है क्योंकि जिन लोगों ने इसे पढ़ा वह सबसे अधिक कथानक और भाषा से प्रभावित हुआ। श्रीलाल शुक्ल की भाषा को गिरीश रस्तोगी ने बहुत अच्छे से समझा। पारम्परिक औपन्यासिक शिल्प का परित्याग कर एकदम भिन्न शैली अपनाकर उपन्यासकार ने अपनी सृजन क्षमता का पूरा परिचय दिया है। इसके माध्यम से उन्होंने इस तथ्य को भी रेखांकित कर दिया है कि एक भिन्न और नयी अन्तर्वस्तु एक नये रूप अथवा शिल्प की माँग करती है। जिसका नाट्यरूपान्तरण और प्रभावी हुआ। राग दरबारी की रचना के लिए ग्रामीण गंवार पात्रों के बीच रहकर कितनी कठिन जिन्दगी बितानी पड़ी है। पात्रों की बोली-बानी उन पर इतनी हावी हो जाती है कि जीवन और रिश्तेदारों के बीच उन्हें तिरस्कार का भाजन बनना पड़ता है। पात्रों ने उसी शैली में संवादों का आदान प्रदान किया।

4.1.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

उपन्यास में प्रमुख और गौण पात्रों की संख्या बहुत अधिक है इस कारण इसका नाट्य रूपान्तरण और संवादों के साथ बड़ी चुनौतियाँ सामने आई। गिरीश रस्तोगी ने इस तथ्य को बहुत अच्छे से समझा और नाटक के आरम्भ में ही पात्रों का परिचय दे दिया, जिससे उसके मंचन में आसानी हुई।

रंगनाथ- नाटक का केंद्रीय पात्र जो कि इतिहास विषय से स्नातकोत्तर पास कर पीएचडी शोध कार्य कर रहा है। वह स्वास्थ्य लाभ के लिए अपने मामा वैद्य जी के गांव शिवपालगंज आया है। वह गांव की जिंदगी और राजनीति को देखकर त्रस्त है। वह उस बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतीक है जो समाज में घटित होने वाली हर घटना को उदासीन और तटस्थ भाव से देखता है। उसमें यथास्थिति के खिलाफ विरोध करने का साहस नहीं है । वह खुद को उससे अलग कर लेना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझता है। पात्रों के चयन और उनकी अभिव्यक्ति में राग दरबारी और रंगनाथ की वापसी में किसी प्रकार का कोई अंतर नहीं आया है।

वैद्य जी- शिवपालगंज गांव के मुखिया और गांव के प्राइमरी स्कूल तथा कोआपरेटिव सोसायटी के प्रबंधक, ये गांव की राजनीति के मास्टरमाइंड हैं। वैद्य जी दोहरे चरित्र वाले व्यक्ति हैं। ये ऊपर से तो गांधीवादी मूल्यों का दिखावा करते हैं किंतु भीतर से वे अत्यंत क्रूर, अनैतिक और रिश्वतखोर हैं। इन्होंने सालों से गांव के सभी प्रमुख विभागों और संस्थाओं पर कब्जा कर रखा है। वैद्य जी में आज के नेताओं के सभी गुण विद्यमान हैं। इस तरह उल्लेखित करने से पात्रों को अपने अभिनय और अभिव्यक्ति में सरलता मिली।

बद्री पहलवान- वैद्य जी का बड़ा बेटा, यह उनकी आज्ञाओं को मानने वाला तथा उनके नक्शे-कदम पर चलने वाला पात्र है। इसके पास पहलवानों के नाम पर गुंडों की एक फौज है जो वैद्य जी के इशारों पर काम करती है। उपन्यास के अंत में वैद्य जी के द्वारा इसे कोआपरेटिव यूनियन का मैनेजिंग डायरेक्टर बना दिया जाता है।

रुप्पन- वैद्य जी का छोटा लड़का, यह गांव के इंटरमीडिएट कालेज में सालों से एक ही कक्षा में पढ़ रहा है तथा अपने ताकतवर पिता के नाम पर पूरे गांव और विद्यालय में धौंस जमाने वाले युवक का प्रतीक है। आगे चलकर इसमें क्रांतिकारी भाव का जन्म होता है तथा यह वैद्य जी का खुलकर विरोध करने वाले एक मात्र पात्र के रूप में दिखाई देता है।

प्रिंसिपल- छंगामल इंटरमीडिएट स्कूल का प्रिंसिपल, यह अत्यंत चतुर, चाटुकार और चुगली करने वाला पात्र है। यह स्कूल में कम, वैद्य जी की बैठकों में उनकी चापलूसी करता अधिक नजर आता है। इसकी कुर्सी वैद्य जी की चमचागिरी करने के कारण ही बची हुई है। इसे खन्ना मास्टर से विरोध है क्योंकि यह खन्ना मास्टर की ईमानदारी और क्रांतिकारी प्रवृत्ति से डरता है।

खन्ना- स्कूल के मास्टर, यह ईमानदार, विद्रोही और समझौता न करने वाला पात्र है जो प्रिंसिपल के काले कारनामों पर से परदा उठाना चाहता है।

छोटे पहलवान- बद्री पहलवान का चमचा, यह बद्री पहलवान को अपना गुरु मानता है तथा वैद्य जी के प्रति अत्यंत निष्ठावान है। यह गांव की राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाता है।

शनीचर- इसका वास्तविक नाम मंगल दास है किंतु गांव में यह शनीचर के नाम से जाना जाता है। यह वैद्य जी की बैठक में भंग घोटने का काम करता है। इसे वैद्य जी के द्वारा राजनीतिक उपयोग हेतु गांव का प्रधान नियुक्त किया जाता है।

रामाधीन भिखमखेड़वी- यह शिवपालगंज ग्रामसभा के अंतर्गत आने वाले एक गांव भिखमखेड़ा का निवासी है। चरस और अफीम का धंधा करना इसका प्रमुख काम है। इसे कविता करना पसंद है। यह खुद को एक कवि मानता है, इसलिए इसने बड़े शायरों की तरह अपने नाम के आगे अपने गांव का नाम जोड़ लिया है। यह वैद्य जी का राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी है। गांव में एक गुट वैद्य जी का है तो दूसरा रामाधीन भिखमखेड़वी का है।

लंगड़- पैर से विकलांग होने के कारण सब इसे लंगड़ के नाम से पुकारते हैं। इसके वास्तविक नाम का जिक्र उपन्यास और नाटक में कहीं पर भी नहीं है। यह संघर्षरत आम आदमी का प्रतीक है। यह सच्चाई की राह पर चलने वाला पात्र है। वह सरकारी तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार के सामने नहीं झुकता। यह सरकारी दफ्तरों के चक्कर काटता-फिरता है किंतु उसे अंत तक न्याय नहीं मिलता।

बेला- नाटक की एकमात्र नारी पात्र, नाटक में इसकी सबसे कम भूमिका है। वैद्य जी के दोनों बेटे रुप्पन और बद्री बेला से प्रेम करते हैं। नाटक में रूप-सज्जा की जिम्मेवारी चित्रकार रौशन राय और राकेश कुमार दिवाकर ने निभाई। उन्होंने अभिनेताओं के चरित्रों के अनुरूप काफी सटीक मेकअप और वेशभूषा प्रदान किया था। मंच दो हिस्सों में बंटा था, बायीं ओर छंगामल कॉलेज है और दायीं ओर वैद्यजी का बैठकखाना और उनका तखत लगा था। सामने सनीचर के भांग पीसने

की जगह थी। इस नाटक में अभिनय कर रहे कलाकारों ने आरा रंगमंच के भविष्य के लिहाज से बेहतरीन संभावनाओं का परिचय दिया। खासकर वैद्यजी के नौकर सनीचर की भूमिका निभा रहे आजाद भारती को दर्शकों की ओर से खूब तालियां मिलीं। थोड़े बौड़म, मुंहलग्गू और प्रधान बनने की प्रक्रिया में एक चतुर नेता में रूपांतरित होते शख्स की भूमिका उन्होंने शानदार ढंग से निभाई। वैद्यजी के बड़े बेटे बद्री पहलवान और उसके साथी छोटे पहलवान की भूमिका में रंजन यादव और दीपक सिंह गुड्डू दबंग व्यवहार की छाप छोड़ने में पूरी तरह सफल रहे। वैद्यजी के दूसरे बेटे रुप्पन के स्वच्छंद और उद्दंड मिजाज को रंजन सिंह राठौर ने बखूबी जीवंत किया।

कॉलेज के प्रिंसिपल और वैद्यजी की निरंकुशता से परेशान शिक्षकों- खन्ना, गयादीन और मालवीय की भूमिकाओं में क्रमशः राजू कुमार मिश्रा, सुभाषचंद्र बसु और ओमप्रकाश पाठक ने एक ही मकसद से जुड़े, अपनी-अपनी व्यक्तिगत खासियत रखने वाले लोगों की भूमिकाएं कुशलता से निभाई। खन्ना तुरंत उत्तेजित होने वाले शिक्षक थे, तो गयादीन चिंतक-विचारक किस्म के गंभीर व्यक्तित्व वाले और मालवीय थोड़े मानसिक उहापोह में फंसे, हिचक के शिकार, जो कभी-कभी गुस्से से फट पड़ते हैं। प्रिंसिपल और वैद्यजी के मुंहलगे क्लर्क की भूमिका संतोष सिंह ने कुशलता से निर्वाह किया। लंगड़ की भूमिका में निशिकांत अपनी शारीरिक मुद्राओं और अपनी आवाज के संतुलन के जरिए दर्शकों के मर्म को छूने में कामयाब रहे। शायर रामाधीन भिखमखेड़वी की भूमिका वेदप्रकाश गुप्ता ने निभाई और छोटे दृश्य के बावजूद अक्खड़पन के बेहतरीन अभिनय की वजह से दर्शकों की सराहना पाई। कॉलेज के छात्र की भूमिका रविशंकर सिंह, अभिषेक और रवि ने निभाई और समाज के भविष्य के प्रतीक के रूप में नाटक के अंत में सामने आए कुमार उत्कर्ष अनंत।

बेला के चरित्र के लिए नाटक में पर्याप्त जगह नहीं थी, पर बद्री की प्रेमिका के रूप में पूजा कुमारी ने यादगार अभिनय किया। नाटक में रंगनाथ की भूमिका निभा रहे लोकेश दिवाकर ने आधुनिक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के मानसिक द्वंद्व और व्यवस्था से उसके मोहभंग को विभिन्न प्रसंगों के जरिए जीवंत किया। कभी नैरेटर के तौर पर लंबा संवाद, तो कभी अपने मामा जी के बेटे के साथ चुहल, कभी रूमानी मिजाज के नौजवान, कभी लंगड़ के प्रति करुणा से भरे सहृदय व्यक्ति तो कभी वैद्यजी की सत्ता के पीछे की अनैतिकता, दोहरेपन, भ्रष्टाचार और पाखंड से आक्रोशित बौद्धिक- हर रूप को जीने की भरपूर कोशिश उन्होंने की।

प्रिंसिपल के चरित्र के भी कई स्तर थे, एक ओर वैद्यजी की जबर्दस्त चापलूसी, तो दूसरी ओर अधीनस्थ शिक्षकों के साथ निर्मम व्यवहार, एक पल में सख्त तो दूसरे ही पल बिल्कुल मुलायम। इस बड़बोले चरित्र की भूमिका शानदार ढंग से नाटक के निर्देशक श्रीधर ने खुद निभाई।

नाटक में वैद्यजी और बद्री पहलवान, खन्ना और प्रिंसिपल, बद्री पहलवान और छोटे पहलवान तथा गयादीन, मालवीय और खन्ना के बीच के द्वंद्वात्मक और तनावपूर्ण दृश्य बड़े प्रभावशाली बन पड़े थे, दर्शकों ने जिनका जमकर आनंद उठाया।

नाटक की शुरुआत में रंगनाथ अपने सफर और शिवपालगंज के बारे में बताता है, उस समय उसी के समानांतर वैद्यजी के पूजा का दृश्य चलता है, जो सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक यथास्थिति का प्रतीक है। अंतिम दृश्य में जब रंगनाथ वैद्यजी के दरबारियों यानी सिस्टम के घेरे में फंसा हुआ है, उस वक्त भी वैद्यजी धूपदान लिए हुए पूजा में मग्न दिखाए देते हैं, पर इस प्रतीक के समानांतर दूसरा प्रतीक उभरता है, उस अंधेरे में एक बच्चा, स्त्री और किसान हाथों में रोशन टार्च लिए नजर आते हैं। इस तरह बेहतर भविष्य की उम्मीद से जुड़ी शक्तियों की ओर संकेत करते हुए नाटक समाप्त हुआ। प्रकाश-व्यवस्था की जिम्मेवारी पहली बार आशुतोष कुमार पांडेय ने निभाई और अपनी हरफनमौला प्रतिभा का परिचय दिया। उन्होंने इस मंचन के दौरान उद्घोषणा और परिचर्चा का संचालन भी किया। 'भूमिका' का मोटो है- रंगमंच के जादू की फिर से खोज। हर रोज मंचन के बाद हमने दर्शकों के सुझाव और उनकी प्रतिक्रियाएं सुनीं और उसके अनुरूप प्रस्तुति को बेहतर बनाने की कोशिश की। चारों दिन दर्शकों की पर्याप्त मौजूदगी और नाट्य मंचन को देखने के पश्चात अपनी प्रतिक्रिया और सुझाव देने के प्रति उनके उत्साह ने कलाकारों को भी उत्साहित किया। अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर कई कलाकारों ने इस मंचन को सफल बनाया तथा वहीं श्रीलाल शुक्ल की भाषा और गिरीश रस्तोगी ने जैसे उसे नाट्य रूपान्तरण में पिरोया है वह अभिव्यक्ति का सबसे अच्छा माध्यम दिखा।

4.1.4 नाट्य प्रस्तुतियों का विश्लेषण

आरा की नाट्य संस्था 'भूमिका' ने महाभोज, दिल्ली ऊंचा सुनती है, थैंक्यू मिस्टर ग्लाड, घासीराम कोतवाल, एक और द्रोणाचार्य, अमली, लड़ाई, अंधों का हाथी, पंच परमेश्वर, आधे अधूरे जैसे नाटकों का मंचन शामिल है, पर विगत तीन वर्षों से उसके द्वारा साल में किसी एक नाटक के मंचन का जो सिलसिला शुरू हुआ है, वह सामाजिक-राजनीतिक प्रासंगिकता के लिहाज से गौरतलब है। मंचन में विभिन्न राजनैतिक-वैचारिक पृष्ठभूमि के कलाकार हिस्सा लेते हैं, पर नाटक प्रायः सत्ता और व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक रुख वाले होते हैं। नाटक 'राग दरबारी' भी इसी तरह का नाटक था, श्रीलाल शुक्ल के बहुचर्चित और बहुपठित उपन्यास 'राग दरबारी' का गिरीश रस्तोगी द्वारा किए गए नाट्य रूपांतरण पर आधारित था। इस नाटक का मंचन बहुत ही धूमधाम से हुआ।

उपन्यास के केंद्र में शिवपालगंज नामक एक कस्बा है, जहां सत्ता के केंद्र वैद्यजी हैं। उनके पहलवान बेटे बद्री और उनके चेलों की ही वहां चलती है। उस कस्बे की राजनीति, प्रशासन, थाना, कालेज, गांव-सभा- सब पर उन्हीं की दबदबा है। उपन्यास गांव-कस्बों के प्रति बने रुमानी दृष्टिकोण को जबर्दस्त झटका देता है। एक तरह से आजादी के बाद के भारत के शासन-प्रशासन, उसके विकास के माडल और विकास योजनाओं, शिक्षा-स्वास्थ्य-सहकारिता, कृषि- हर क्षेत्र की स्थिति पर कटाक्ष करता है। हमारे देश की राजनीति में जो तानाशाही की प्रवृत्ति है, उसकी जड़ें हमारी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के भीतर हैं, इसे नाटक ने बखूबी दिखाया। नाटक में एक पात्र कहता है कि वह शिवपालगंज से चला जाएगा, तो दूसरा पात्र जवाब देता है कि देश के नक्शे को फैलाकर देख लो, कहां नहीं है शिवपालगंज। उपन्यास में शिवपालगंज जो हिंदुस्तान का प्रतीक था, आज वह पूरी तरह हकीकत बन चुका है। वैद्यजी आज हिंदुस्तान की सत्ता पर छाए हुए हैं, अपनी गैर-आधुनिक, अवैज्ञानिक-पुरातनपंथी, तर्कविरोधी, पाखंडी, भेदभाव भरी हिंसक प्रवृत्ति के साथ। गाहे बगाहे आने वाले नेताओं के बयान इसका साक्ष्य हैं। राग दरबारी गाने वालों की तादाद भी आज इस मुल्क में पिछले किसी समय से ज्यादा है, जो वैद्यजी जैसों की हर बात को उचित साबित करने में लगे रहते हैं। हमारे लोकतंत्र में जो भारी गड़बड़ियां हैं, इस ओर इस नाट्य प्रस्तुति ने ध्यान खींचा। हमारे बौद्धिकों के दरबारी बनने की नियति और आलोचनात्मक विवेक के कमजोर होने के खतरों को भी चिह्नित किया, जिसके कारण कोई भी लोकतांत्रिक समाज कमजोर होता है।

उपन्यास की शुरुआत रंगनाथ द्वारा ट्रक के रोमांचक सफर से होती है, वह बताता है कि देश का हाल ट्रक के गेयर की तरह है, उसे जितना भी टॉप में डाला जाए, वह न्यूट्रल में आ जाता है। शिवपालगंज में रंगनाथ को एक ओर सरकारी प्रचार-पोस्टर नजर आते हैं, जिसमें कहीं देश के लिए अधिक अन्न उपजाने का संदेश है, तो कहीं देश के लिए धन बचाने की बात है, दूसरी ओर

दाद-खाज खुजली से लेकर बवासीर तक के इलाज के इश्तहार हैं और सर्वोपरि है वैद्यजी के ब्रह्मचर्य का संदेश, जो मानो हर चीज का समाधान है। नाटक इसी व्यंग्यात्मक तेवर के साथ शुरू हुआ।

इसके बाद मंच पर वैद्यजी अवतरित हुए, पता चला कि उन्होंने भांजा रंगनाथ को उसकी सेहत सुधारने के लिए वहां बुलाया है। वे उसे पूरे देश के नौजवानों की तरह निकम्मा नहीं रहना देना चाहते। हालांकि उनके खुद के बेटों की योग्यता यह है कि बड़ा बेटा बद्री पहलवानी करता है और ताकत के दंभ में रहता है, दूसरा बेटा रुप्पन उसी कॉलेज में छात्रों और शिक्षकों के बीच राजनीति करता है, जिसके मैनेजर खुद वैद्यजी हैं। उसके बाद दर्शकों का कॉलेज की दुनिया से साक्षात्कार हुआ, जहां प्रिंसिपल, मालवीय और खन्ना मास्टर के बीच के स्वार्थ आधारित झगड़े हैं, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का अभाव है, खन्ना की महत्वाकांक्षा वाइस प्रिंसिपल बनने की है। लेकिन अंततः वैद्यजी अपने दरबारी प्रिंसिपल की ही सुनते हैं, खन्ना मास्टर को त्यागपत्र देना पड़ता है और मालवीय को जान गंवानी पड़ती है।

कालेज, कोआपरेटिव, ग्राम सभा चुनाव और वैद्यजी के बैठकखाने यानी दरबार के दृश्यों से यह नाटक बुना गया है। कोआपरेटिव में आठ लाख रुपये का गबन होता है, वैद्यजी उसमें साझीदार हैं, पर उन्हें कुछ नहीं होता। इस्तीफा देकर बेटे बद्री पहलवान को मैनेजर बना देते हैं। अपने नौकर सनीचर को प्रधान बनाकर गांव-सभा को अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं। लंगड़ गांधीवादी किस्म का एक ऐसा पात्र है, जो न्याय के लिए अंतहीन कोशिश करता है, पर उसे न्याय नहीं मिल पाता। वैद्यजी के सिद्धांत सिर्फ भाषण के लिए हैं, व्यवहार में उनका स्वयं का आचरण उसके विरुद्ध है। उनके बेटे ही उनका पोल खोल देते हैं और उनके घोषित सिद्धांतों का मजाक उड़ाते हैं और उनके विपरीत आचरण करते हैं।

सामंती नैतिकता जिसके खाने के दांत और दिखाने के कुछ और होते हैं, उसका नमूना हैं वैद्यजी। नाटक में कृषि, शौचालय, स्वास्थ्य आदि विभिन्न क्षेत्रों की बदहाल स्थिति की सूचनाएं और शासन-प्रशासन के संवेदनहीन रवैये की चर्चाएं भी आती रहती हैं। नाटक में एक ही स्त्री पात्र है बेला, जिसने भारतीय समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति को दिखाया। बेला पर वैद्यजी के दोनों बेटे फिदा हैं। इस प्रसंग ने जितना हास्य उत्पन्न किया, उतना ही बारीक तरीके से प्रेम और स्त्री-पुरुष संबंधों के प्रति सामंती नजरिये को भी दर्शाया। नाटक में रंगनाथ, जो भारत के मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों का प्रतीक है, को लगता है कि कहीं कोई विकल्प नहीं है, हर ओर अंधेरा है, पूरा हिंदुस्तान ही शिवपालगंज है, जहां वैद्यजी की ही सत्ता है। रोजी रोटी के लिए उनका दरबारी बनना ही उसकी नियति है। वह खुद को भयानक रूप से घिरा महसूस करता है। मौजूदा लोकतांत्रिक

व्यवस्था के छद्म पर जितने भी प्रसंग और पात्रों के संवाद नाटक में थे, वहां दर्शकों की तालियां बज रही थीं।

उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल ने अवधी के प्रभाव वाली खड़ी बोली का उपयोग किया है। निर्देशक श्रीधर ने इसमें वैद्य जी के बेटों- बद्री और रुप्पन, उनके नौकर सनीचर और न्याय के लिए जूझते लंगड़ आदि कई चरित्रों की भाषा भोजपुरी कर दी थी, जिससे भोजपुरी भाषी दर्शकों के लिए 'राग दरबारी' नाटक ज्यादा प्रभावकारी बन गया। साहित्यिक रचनाओं में हिंदी के क्लिष्ट शब्दों के इस्तेमाल को लेकर इस नाटक का नायक रंगनाथ एक जगह एक टिप्पणी भी करता है। बद्री पहलवान से वह कहता है कि "हिंदी वालों को तुम्हारे अखाड़े में चार महीने रखा जाए तो मिट्टी के जर्रे-जर्रे से नया शब्दकोश तैयार हो जाएगा। परिप्रेक्ष्य, युगबोध, आयाम, संदर्भ, सर्जनात्मकता, संचेतना- खोजे हुए शब्दभंडार से कहीं ज्यादा सशक्त शब्द।"[379] 'राग दरबारी' में लेखक अपनी ओर से कोई स्पष्ट वैचारिक समाधान या दिशा नहीं बताता। नाटक का स्क्रिप्ट भी स्थितियों को ज्यों का त्यों सामने रख देता है। लेकिन जगह-जगह लेखक के गहन अनुभवों से भरी टिप्पणियों की गूंज जरूर दर्शकों के जेहन में जगह बना रही होंगी। जैसे नाटक में एक जगह रंगनाथ लंगड़ से कहता है- ''देखो... लंगड़ जानने की बात सिर्फ एक है कि तुम जनता हो और जनता इतनी आसानी से नहीं जीतती।"[380] इस तरह भाषा को संवादों के माध्यम से मंच पर अच्छे से सुपुर्द किया गया है।

हालाँकि सबसे पहला मंचन 1982 में गिरीश रस्तोगी के निर्देशन में ही हुआ था। उस मंचन में स्वयं श्रीलाल शुक्ल भी मौजूद थे।

नागरी प्रचारिणी सभागार में भी राग दरबारी का मंचन हुआ। इसका रूपान्तरण भी गिरीश रस्तोगी द्वारा किया गया था। इस मंचन में भी नाटक में दिखाए गए उपन्यास को दर्शाने की कोशिश की गई। रस्तोगी जी ने कुछ कुछ प्रसंगों को छोड़ दिया था लेकिन निर्देशक श्रीधर ने इसमें उपन्यास के छूटे हुए प्रसंगों को भी जोड़ा है। साथ ही उसके मूल में किसी तरह का कोई बदलाव नहीं किया जिससे नाटक की संवेदना पर कोई असर नहीं पड़ा और अच्छे से संप्रेषित हुआ। इस नाटक में मुख्य किरदार लोकेश दिवाकर, श्रीधर, सुधीर सुमन, रंजन यादव, सुभाषचंद्र बसु, रंजन, दीपक सिंह, राजीव सिंह, संतोष, वेद प्रकाश, आजाद भारती, पूजा कुमारी ने निभाया। प्रस्तुति संयोजक सत्येंद्र कुमार और द्विजेंद्र किरण हैं। रूप-सज्जा रोशन राय का है। नाट्य मंचन के पहले दिन इस वर्ष दिवंगत हुए संगीतकार देवनंदन मिश्र, वरिष्ठ रंगकर्मी ईवी सेन और जियाउल हसन, विजय नैय्यर शामिल थे।

[379] गिरीश रस्तोगी : रंगनाथ की वापसी, पृष्ठ संख्या- 45

[380] गिरीश रस्तोगी : रंगनाथ की वापसी, पृष्ठ संख्या - 73

4.2 फणीश्वर नाथ रेणु और मैला आँचल

मैला आँचल' की कथावस्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के दो एक वर्ष पहले से लेकर उसके लगभग एक वर्ष बाद तक की है। जो महज तीन या चार वर्षों की कथावस्तु ठहरती है, परंतु इसका मुख्य कथानक स्वतंत्रता प्राप्ति के ईद-गिर्द की घूमता रहता है। इसका कथ्य देश भी बिहार के पूर्णिया जिले के एक अत्यंत पिछड़े गाँव मेरीगंज से जुड़ा हुआ है। इसके अलावा अन्य कथावस्तु भी हैं, जो मेरीगंज के आस-पास के इलाके से जुड़ी हुई है, जिस प्रकार कोई किसान बाजार करने के लिए कस्बे के हाट में जाता है और शाम होने पर गांव लौट आता है। "मेरी गंज एक बड़ा गाँव है, बारहों बरन के लोग रहते हैं। गांव के पूरब एक धारा है, जिसे कमला नदी कहते हैं। बरसात में कमला भर जाती है। बाकी मौसम में बड़े-बड़े गड्डों में पानी जमा रहता है- मछलियों और कमल के फूलों से भरे हुए गड्ढ़े। पौष पूर्णिमा के दिन इन्हीं गड्ढों में कोशी स्नान के लिए सुबह से शाम तक भीड़ लगी रहती है।"[381] मेरीगंज की सामाजिक, आर्थिक संरचना की बनावटी भी साफ-साफ दिखाई देती है, गाँव में तीन जातियों के लोगों की प्रमुखता हैः कायस्थ, राजपूतों और यादच। तीनों जातियों के अलग-अलग टोले है। ब्राम्हाणों का भी अलग टोला है पर उनकी संख्या कम है। राजपूतों और कायस्थों में पुश्तैनी मनमुटाव ओर झगड़े होते आए है। इनके बीच ब्राम्हण, तीसरी शक्ति की भूमिका पूरी करते रहे है। कुछ दिनों से यादवों के दल ने भी जोर पकड़ा है। जनेऊ धारण कर उन्होंने अपने को यदुवंशी क्षत्रिय घोषित किया है, पर राजपूतों ने इसे मान्यता नहीं दी है। वे उन्हे 'ग्वार' भी कहते है। अभी भी वे गाँव की तीसरी शक्ति नहीं बन पाए है। गांव के अन्य जातियों के लोग सुविधानुसार इन्हीं दलों के साथ जुड़े है।

रेणु प्रेमचन्द्र के सच्चे उत्तराधिकारी साबित हुए है एक ओर उन्होने ग्रामीणों की दयनीय और शोषित दशा का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया तो दूसरे ओर आजादी मिलने के कुछ पहले और उसके बाद किसानों में पैदा हुई अधिकार चेतना ओर संघर्ष प्रवृत्ति का अनूठा चित्रण किया। कालीचन इस संघर्ष -चेतना का नेतृत्व करता है। स्वंतत्रता प्राप्ति के समय भारत के ग्रामीण अंचलों का यही सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक यथार्थ था जिसे उपन्यासकार ने अनुभव जगत् की प्रामाणिकता, सूक्ष्म पर्यवेक्षण और गरीब संवदेना के साथ प्रस्तुत किया है। गाँधीजी जी ने अपने सत्याग्रहों से स्वंतत्रता की नींव बहुत पहले रख दी थी, जिसका प्रभाव धीरे-धीरे भारत के गाँवों में भी दिखने लगा था। बावनदास, चुन्नी गोसाई, बालदेव आदि सुराजी बन जाते है, जेल जाते है और तरह-तरह की तकलीफों का सामने करते है। परंतु स्वंतत्रता प्राप्ति के बाद इस राजनीति का घिनौना

[381] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल पृष्ठ संख्या- 69

चेहरा सामने आने लगता है। नेपाल की सीमा से सटे उत्तर-पूर्वी बिहार के एक पिछड़े ग्रामीण अंचल को पृष्ठभूमि बनाकर रेणु ने इसमें वहाँ के जीवन का, जिससे वह स्वयं ही घनिष्ट रुप से जुड़े हुए थे, अत्यन्त जीवन्त और मुखर चित्रण किया है। 'मैला आँचल' का कथानक एक युवा डॉक्टर है जो अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद पिछड़े गाँव को अपने कार्य-क्षेत्र के रुप में चुनता है, तथा इसी क्रम में ग्रामीण जीवन के पिछड़ेपन, दुःख-दैन्य, अभाव, अज्ञान, अन्धविश्वास के साथ-साथ तरह-तरह के सामाजिक शोषण-चक्रों में फँसी हुई जनता की पीड़ाओं और संघर्षों से भी उसका साक्षात्कार होता है। कथा का अन्त इस आशामय संकेत के साथ होता है कि युगों से सोई हुई ग्राम-चेतना तेजी से जाग रही है।

4.2.1 कथानक के स्तर पर

"गाँव में यह खबर बिजली की तरह फैल गई - मलेटरी ने बहरा चेथरू को गिरफ्फ कर लिया है और लोबिनलाल के कुएं से बाल्टी खोलकर ले गए हैं।"[382] सन् 1942 ई के आंदोलन का गाँव-पर क्या प्रभाव था। इसे लेकर गुअरटोली, राजपूतटोली, कायस्थटोली और तमामटोली का जिक्र भी हमें पहले पृष्ठ पर ही मिल जाता है। ग्रामीण लोगों की मानसिकता, गोरे सिपाहियों का आतंक, ग्रामीण सामाजिक, आर्थिक संरचना की झलक सबकुछ हमें शुरुआत से ही दिखने लगता है। इस कथन से कि "मछलियों की तरह लोगों की लाशें महीनों पड़ी रहीं, कौआ भी नहीं खा सकता था, मलेटरी का पहरा था।"[383] इस तरह की घटना से कथा की शुरुआत होती है लेकिन नाटक में इसे बदल दिया गया है। उपन्यास की कथा मेरीगंज गांव में मलेरिया सेंटर खुलने की प्रक्रिया से आरंभ होती है। डॉ. प्रशांत कुमार के मलेरिया सेंटर का इंचार्ज बनकर आने से कथा को गति मिलती है। डॉक्टर प्रशांत कुमार गांव को चिकित्सा सुविधा भी प्रदान करते हैं और गांव के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन से भी गहरे रूप में जुड़ते हैं। तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद की बेटी कमली के रोग का उपचार करते दोनों प्रेम बंधन में बंधते हैं। उधर गांव में राजनीतिक गतिविधियां भी गति पकड़ती हैं। बालदेव कांग्रेस कार्यकर्ता व स्वतंत्रता सेनानी हैं, लेकिन गांव में वह कोई सक्रिय राजनीतिक गतिविधि नहीं करता, जबकि कालीचरण आदि सोशलिस्ट पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता बनकर गांव में क्रांति का प्रचार करते हैं। साथ में ज़मींदारों का शोषण भी करते हैं तो गांव के सभी समुदायो का वर्ग चरित्र खुलकर सामने आ जाता है। कालीचरण जैसे सोशलिस्ट भी तब ज़मींदारों के पक्ष में जाते हैं। डॉक्टर प्रशांत कुमार को संथालों से सहानुभूति है, तभी वह 1947 के बादं के आजाद भारत में कम्युनिस्ट होने के आरोप में गिरफ्तार कर लिए जाते हैं। प्रशांत के कारावास के दौरान कमली उसके बच्चे की बिन ब्याही मां बनती है और प्रशांत जेल से रिहा होने पर उसे अपनाता है। प्रशांत कमली प्रेमकथा उपन्यास में एक स्तर पर चलती है तो दूसरे पर कई अन्य कथाएं भी सामानांतर ही उपन्यास में चलती रहती हैं। गांव का मठ अपने आप में कई कथाएं समेटे हैं और इन कथाओं को मुख्य कथा के साथ बालदेव का मठ में लछमी के साथ रहना जोड़ता है। बाद में बालदेव व लछमी डेरा छोड़ भी देते हैं। प्रेम प्रसंगों में कालीचरण मंगला, महंत रामदास-रामपियारी व अन्य कई प्रसंग भी कथा में गुंथे चलते हैं लेकिन क्योंकि उपन्यासकार का मुख्य लक्ष्य पूरे अंचल के जनजीवन को उसकी पूरी विविधता व सजीवता में चित्रित करता है, इसलिए उसने गांव के जीवन के प्रायः सभी पक्षों को किसी न किसी प्रसंग द्वारा अपनी कथा में बुना है, चाहे

[382] फणीश्वर नाथ रेणु : मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 1
[383] फणीश्वर नाथ रेणु : मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 1

वह होली का त्यौहार हो या कोई अन्य पर्व। उपन्यास में 1946-48 के मध्य की स्थिति को देश के संक्रमणकालीन दौर के रूप में चित्रित किया गया है, इसलिए इस संक्रमणकाल में कांग्रेस, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि की गतिविधियाँ औपन्यासिक सरंचना में ढलकर चित्रित की गई हैं।

इसी तरह नाटक किस शुरुआत भी होती है जहाँ उपन्यास में परिच्छेदों में लिखा गया हैं वहीं नाटक में 16 दृश्यों में समायोजन किया गया है। स्पष्ट है कि इतने विस्तृत उपन्यास की सभी चीजें मंच पर दिखाना संभव नहीं है इसके बावजूद प्रतिभा अग्रवाल के नाट्य रूपान्तरण ने मूल कथा की सम्वेदना को बहुत अच्छे से संप्रेषित किया है। उपन्यास की कथावस्तु को रेणु ने आरंभ, विकास, मध्य, चरमसीमा व अंत के औपचारिक पडावों में तो नहीं बांटा लेकिन उपन्यास का आरंभ अत्यंत नाटकीय व प्रभावशाली है इसी प्रकार उपन्यास का विकास भी सहज गति से होता है। उपन्यास की चरमसीमा है – महात्मा गांधी के प्रिय शिष्य बावनदास का गांधी की शहादत के दिनों बिना किसी के जाने, बिना किसी प्रचार के देश के लिए शहीद हो जाना, यह घटना उपन्यास के दूसरे खंड में उस समय घटती है, जब भारत-पाक समी पर स्मगलिंग का धंधा रोकने के लिए बावनदास निष्क्रिय प्रतिरोध का निर्णय लेता है। देश के स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों से यह सच्चा गांधीवादी अत्यंत विचलित है और उसे स्वतंत्रता संग्राम में अपना योगदान निरर्थक लगने लगता है। इसी तरह नाटक भी शुरू होता हो "गाँव मेरीगंज मंच खाली है प्रकाश के एक आलोक वृत्त में डॉ. प्रशांत बैठे डायरी में कुछ लिख रहे हैं माइक पर आवाज़ आती है।"[384] इसके तुरंत बाद "डाक्टर मेरीगंज आये आज चार दिन हो गये। ये चार दिन कहां बीत गये, पता ही नहीं चला। डायरी लिखने तक का समय नहीं मिला। मलेरिया सेंटर के काम ने. तो समय लिया ही, लेना ही था पर उससे कहीं अधिक समय लिया गांव और गांववालों ने। मैं पहली बार किसी गांव में आया होऊं सो नहीं पर मेरीगंज की धरती, यहां का आकाश, यहां की वायु में कुछ है जिसने पैर रखते साथ. मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया। लगता है यह आकर्षण धीरे-धीरे घनीभूत होगा, मुझे अपने में जकड़ लेगा। अगर वैसा हो भी तो उसमें बुराई क्या है?पिछले शनिवार को यहां आया। पहुंचते-पहुंचते एक बज गया। गांव की सीमा के भीतर पैर रखते ही चारों ओर भाग-दौड़, आनन्द-उल्लास दिखलाई पड़ा। बड़े- छोटे सभी व्यस्त दिखे, प्रसन्न दिखे। लगा जैसे अपनों के बीच पहुंच गया होऊं। (मंच पर प्रकाश फैलने लगता है। डाक्टर उठकर भीतर जाते हैं डाक्टर का नौकर प्यारू डाक्टर साहब का सामान ठीक करता है। टेबुल, कुर्सी, स्टैंड पर चिलमची, पानी का जग, तौलिया सब तैयार है साथ

[384] प्रतिभा अग्रवाल : मैला आंचल, पृष्ठ संख्या 7

में कालीचरन है और बालदेव जी। एक ओर लछमी बैठी है)"[385] यहीं नाटक शुरू होता है और कहानी आगे बढ़ने लगती है। इसलिए वह कलीमुद्दीपुर सीमा की ओर जाता है। उसे देखकर पुलिस के सिपाही या कांग्रेस स्मगलर दुलार चंद कापरा आदि परेशान तो होते हैं, लेकिन उसके बीच रास्ते पर खड़ा होने पर उनके मन में इस 'डेढ हाथ के अत्यंत सन्माननीय देशभक्त को जीवित ही कुचल देने में कोई दुविधा नहीं होती। रेणु ने इस घटना को इतने यथार्थ रूप से चित्रित किया है कि आजादी के बाद का भारत का सामाजिक परिदृश्य अपनी पूरी क्रूरता व भयावहता में उघड़ जाता है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में प्राप्त आज़ादी का यह हश्र होता है, जिसे न खुद गांधी ही झेल पाए और न ही बावनदास जैसे उनके सच्चे शिष्य। उपन्यास का अंत यदि चरम सीमा पर हो जाता तो यह कथावस्तु की अत्यंत प्रभावी सफलता होती, लेकिन उपन्यास जिंस आदर्शवादी ध्वनि पर समाप्त हुआ है, उससे उपन्यास की चरमसीमा का प्रभाव कुछ खंडित हुआ है।

'मैला आंचल को आंचलिक उपन्यास ही माना जाता है लेकिन कथावस्तु के आधार पर इसे सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक आदि किसी भी प्रकार की रचना कहा जा सकता है। वैसे उपर्युक्त सभी प्रश्नों के सारतत्व इस उपन्यास की कथावस्तु में समाहित है। कथावस्तु को यदि कथा, चरित्र व परिवेश प्रधानता की दृष्टि से देखना हो तो निश्चय ही उपन्यास की कथावस्तु परिवेश प्रधान है। इसकी कथा व चरित्र दोनों ही परिवेश के जीवंत चित्रण के साधन मात्र हैं। अपने परिवेश चित्रण की प्रधानता के कारण ही मैला आंचल उपन्यास को आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में रखा गया है। कुल मिलाकर रेणु ने मैला आंचल में अपने प्रिय अंचल को जीवंत रूप से उघाड़ने के लिए प्रभावी कथावस्तु का निर्माण किया है, इसके गठन का ढीला ढाला ढांचा ही इसकी कथावस्तु का प्राण है।

इतने विवरणात्मक उपन्यास को मंच पर ले जाना जटिल कार्य है इस कारण मंचन के लिए कथा के महत्वपूर्ण प्रसंगों को दिखाया गया है। इस नाटक का मुख्य पात्र डॉ. प्रशांत बनर्जी है, जो पटना के मेडिकल कॉलेज से शिक्षा प्राप्त कर मलेरिया और कला-अजर पर शोध करने मेरीगंज आते है। इसी तरह से कुछ कुछ पहलुओं पर नाट्य रूपान्तरण कर मंचन को प्रभावी बनाया गया है। मलेरिया केंद्र खुलने से सम्पूर्ण गाँव में हलचल मच जाती है। लोगों में अंधविश्वास को लेकर बड़ी आस्था दिखाया गया है जिसमें झार-फूंक, टोना-टोटका, भूत-प्रेत आदि पर विश्वास दिखाई देता है। जाति व्यवस्था का भी बोल-बाला दिखता है। डॉ. प्रशांत कमली से प्रेम होता है और साथ-ही-साथ लोगों की स्तिथि से रूबरू होकर उनमें राजनीतिक चेतना जागृत करता है। कमली एक कोमल

[385] प्रतिभा अग्रवाल : मैला आंचल, पृष्ठ संख्या 7

हृदय वाली स्त्री है। जो अपने अभिभावकों को किसी भी कष्ठ में नहीं डालना चाहती है। कमली के पिता विश्वनाथ मालिक गाँव के तहसीलदार है और बाद में इसे छोड़ कांग्रेस में शामिल हो जाते है। ये जमींदारी प्रथा के प्रतीक है। विश्वनाथ मलिक के चरित्र में द्वंद दिखाया गया है। नेता होने पर गंभीर होते है वहीं घर पर एक हँसोड़ और समझदार व्यक्ति बन जाते है। मैला आँचल में सम्पूर्ण समाज जति व्यवस्था में जकड़ा हुआ है और जातिगत झगड़े आम बात है। जातिगत शक्ति संतुलन भी सामाजिक संरचना ही करता है। प्रत्येक जाति का अलग टोला है। दलितों के टोले में सवर्ण तभी प्रवेश करते है जब उनका कोई स्वार्थ हो। छुआछूत का वातावरण है, भंडारे में सब जाति के अनुसार बैठ के खाते है। लेखक ने आर्थिक समस्या को मेरीगंज की सबसे बड़ी समस्या माना है। यह भी कहा है कि जबतक गरीबी व जहालत समाप्त नहीं होगी, तब तक ये अंचल मैला ही रहेगा। लेखक ने डॉ. प्रशांत का चरित्र में यह दर्शाया है कि वह पैसे कमाने नहीं बल्कि बीमारी का इलाज खोजने आया है। आकर्षक प्रस्ताव को ठुकरा कर उसने जानकर यह गाँव चुना है किन्तु बाद में गाँव की स्तिथि से वाकिफ़ होकर सोचने लगा कि जिनके लिए जीवन का अर्थ भूख और बेबसी है, उसके लिए दवाई किसी काम की नहीं है। उसके लिए बेहतर यही है कि वह भूख और बेबसी के स्थान पर मलेरिया से बेहोश होकर शांतिपूर्ण मृत्यु प्राप्त कर सके।

4.2.2 संवाद के स्तर पर

वस्तु के अनुकूल संवाद-योजना का होना एक श्रेष्ठ उपन्यास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि संवादों के माध्यम से ही उपन्यासकार कथावस्तु का विकास, टूटी कड़ियों को जोड़ना, विगत घटनाओं की सूचना देना तथा पात्रों का चरित्रोद्घाटन जैसे तथ्यों की प्रयोजन-सिद्धि करता है। आलोच्य उपन्यास में रेणु ने कथोपकथनों के माध्यम से प्रायः इन सभी प्रयोजनों की सिद्धि की है, इन्हीं संवादों की सहायता से नाट्य रूपान्तरण में संवाद के स्तर अपर इसका प्रयोग किया गया है। "इस प्रकार की संवाद-योजना के अंतर्गत उपन्यासकार दो या अधिक पात्रों के संवादों के माध्यम से कथावस्तु का विकास करता है। नाटक में सम्वादों का बेजोड़ प्रदर्शन किया गया है।"[386] एक तो यह कि इस कथा की भाषा अपने आप में विशिष्ट है दूसरा जब इसे मंच पर बोलते हैं तो यह ग्रामीण होते हुए भी दर्शकों को बहुत अच्छे से समझ आ जाती है। नाट्य रूपान्तरण में इस बात का बहुत बारीकी से ध्यान रखा गया है कि रेणु की लोक भाषा और उसकी शैली पाठकों को छूती हुई दर्शकों तक जरूर पहुंचें। संवाद लिखते समय ग्रामीण भाषा का प्रयोग तो किया ही है साथ ही कोष्ठक में दिए हुए निर्देशन से बात और खुल कर सामने आ जाती है।

"डाक्टर : आपको देखकर मुझे लगा कि आप मेरी अपनी ही कोई हैं। मौसी का सम्बन्ध मुझे सबसे प्यारा लगा। गणेश कहां है ?
पारवती की मां : यहीं तो रहा अभी। गनेस... ओ गनेस....
गनेश : आए।
(भागते-भागते गनेश का प्रवेश। डाक्टर को देखकरअचकचा जाता है।)
डाक्टर : आइए गणेश जी, क्या खबर है? कहां घूम रहे थे इतनी रात तक? स्कूल जाते हैं?
पारवती की मां : कहां भैया। रोज तो पैखाना में खून आता है, स्कूल कैसे भेजें?
डाक्टर : मौसी, बड़ी भूख लगी है। मुझे क्या खिला सकती हो?
पारवती की मां : घर में तो गुड़-चूड़ा है और…
गनेश : और पेड़किया?
पारवती की मां : अरे हां, हम तो भूल ही गये रहे। कल गनेस जिद करने लगा कि...अभी आए...।
(प्रस्थान)
डाक्टर : गणेश, अभी कुछ दिन पेड़किया वगैरह एकदम बंद। पहले तबियत ठीक करनी है फिर सब कुछ खाना है।

[386] प्रतिभा अग्रवाल : मैला आंचल, पृष्ठ संख्या 22

(पारवती की मां कटोरा में पेड़किया लाती है)

पारवती की मां : लो बेटा। अब तुमने मौसी कहा तो हम भी बेटा ही कहें न । तुम्हारे मां-बाप कहां रहते हैं बेटा ?

डाक्टर : मां-बाप नहीं हैं। मेरा इस दुनिया में कोई नहीं है मौसी।

पारवती की मां : पर तुम तो सब के हो गये हो। दो महीना में ही तुमने सबका मन जीत लिया है।

(इस बीच दो-तीन लोग झांककर देख जाते हैं ।)

औरत : डागदर बाबू की भगवान रच्छ करें। ई डाइन का जादू लगा तो फिर छुट्टी।"[387]

इस तरह के संवाद पूरे नाटक में दिए हुए हैं जिनसे यह तात्पर्य निकलता है की भाषा की दृष्टि से उपन्यस और नाटक में कोई खास अंतर नहीं है। प्रतिभा अग्रवाल ने इस बात का बेहद ख्याल रखा है कि भाषा की संप्रेषणीयता कम न हो साथ ही मंचन करते समय भी इस चीज़ का ख्याल रखा गया है। टूटी कड़ियों को जोड़ने तथा विगत घटनाओं की सूचना देने वाली संवाद-योजना उपन्यासकारों के समक्ष कथानक की प्रत्येक घटना को ज्यों-का-त्यों रूप में प्रस्तुत करने में पर्याप्त कठिनाई रहती है। जिससे बचने के लिए वे अनेक बातों की सूचना पात्रों के वार्तालाप के माध्यम से दे देते हैं। ऐसा करने से एक ओर तो उपन्यासकार को प्रत्येक घटना का अपनी और से विवरण देने की विवशता से छूट मिल जाती है, दूसरी ओर कथोपकथन के माध्यम से कथानक की किसी टूटी कड़ी की सूचना का मिल जाना भी स्वाभाविक प्रतीत होता है। आलोच्य उपन्यास में भी यत्र-तत्र इस प्रकार की संवाद योजना की गई है।

"डाक्टर साहब!

कौन?

विश्वनाथप्रसाद!

आइए। कहिए क्या है?

डाक्टर साहब, जरा एक बार मेरे यहाँ चलिए। मेरी लड़की बेहोश हो गई है। बेहोश क्या उम्र है? इससे पहले भी कभी बेहोश हुई थी?

जी! दो-तीन बार और ऐसा ही हुआ था। उम्र? यही सोलह-सत्रह साल घर लीजिए। जरा जल्दी...चलिए।"[388]

---

[387] प्रतिभा अग्रवाल : मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 23

[388] प्रतिभा अग्रवाल: मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 53

सन्दर्भगत संवाद-योजना के अंतर्गत उपन्यासकार ने डॉ. प्रशांत, तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद और नौकर रनजीत के कथनों उपकथनों के माध्यम से कमला के संदर्भ में इन तथ्यों का परिचय दिया है कि वह तहसीलदार विश्वनाथप्रसाद की इकलौती संतान है। इसके साथ ही उसने इस तथ्य की भी सूचना प्रदान कर दी है कि कमला को लोग मनहूस मानकर उससे विवाह नहीं करना चाहते, क्योंकि जहाँ कहीं भी उसके विवाह की चर्चा चलाई गई थी, वहीं कुछ-न-कुछ अनहोनी घटनाएं घटित हो गई थीं। कथोपकथन अथवा संवाद योजना के माध्यम से उपन्यासकार पात्रों के चरित्र के विभिन्न पहलुओं का उद्घाटन करके उनका चारित्रिक विकास भी करता है। आलोच्य उपन्यास में ऐसी संवाद-योजना भी अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है।

"बालदेव जी जगे ही हुए हैं। उठते ही दूर पेड़ की छाया में किसी को जाते देखते हैं।

ओ! बिदियारथी जी अभी जा रहे हैं। इसीलिये बैल भड़के थे! साहेब बंदगी! लछमी पैर छूकर साहेब बंदगी करती है। बालदेव जी मिनमिनाकर कुछ कहते हैं और सीधे अपनी आसनी पर चले जाते हैं। मेरा कंबल कौन ओढ़ा था? बालदेव जी बिछावन पर पड़े हुए कंबल को नाक सिकोड़ कर देखते हुए पूछते हैं, मेरा कंबल क्यों ओढ़ा था वह?"[389]

उपर्युक्त संवाद योजना के माध्यम से नाटककार ने लछमी और बालदेव के चरित्र में कई पहलुओं का उद्घाटन किया है जैसे बालदेव की शंकालु प्रवृत्ति, लछमी की तेजस्विता और क्षमाशीलता आदि। पात्रों द्वारा एक-दूसरे के प्रति कहे गये कथन संक्षिप्त हैं। इस प्रकार के कथोपकथनों की अनेक अवसरों पर योजना की गई है। बावनदास हँसकर कहता है, "मुँह क्यों छिपाते हैं रामबुझावन सिंह जी आज खुलकर खेला होना चाहिये! मुँह मत छिपाइए। दास जी, हमारा क्या कसूर! आप तो जानते ही हैं...सिंघ जी. बातचीत कुछ नहीं गाड़ियाँ जाएँगी खगड़ा। लौटाइए गाड़ी त ना लौटी। लौटी नात ठाढ़ रही। अढाई हजार रुपए हिस्से में मिल चुके हैं रामबुझावन सिंह को क्या किया जाए?..दास जी ठहरिए। ...हम तुरत आते हैं। अच्छी बात! ले आइए आज जो लोग पर्दे में हैं। जाइए!"[390] स्वगत कथनों की योजना उन स्थलों पर की जाती है, जहाँ कोई पात्र अपने विषय में अथवा किसी दूसरे पात्र के संबंध में अकेला बैठा-बैठा सोचता रहता है। यद्यपि यह भी संवाद-योजना का ही एक अंग होता है, तो भी स्वगत कथनों की अधिक मात्रा में करना उत्तम नहीं माना जाता। उपन्यास में स्वगत कथनों की योजना सीमित मात्रा में ही की गई है। जिसका प्रभाव नाटक में भी देखने को मिलता है। संवाद-योजना की दृष्टि से यह तथ्य भी महत्वपूर्ण

[389] फणीश्वर नाथ रेणु : मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 272

[390] प्रतिभा अग्रवाल: मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 105

होता है कि विभिन्न पात्रों द्वारा कही गई बातें उनकी मनःस्थिति तथा सामाजिक स्थिति के अनुकूल होनी चाहिए। कथोपकथन-योजना इस कसौटी पर खरी उतरती है। जिसमें गाँव में पुलिस और मिलिट्री के आगमन से भयगीत गाँव वालों की मनोदशा तथा सामाजिक स्थिति के अनुकूल ही उनकी संवाद किया गया है-

"अरे, क्या बात है?...कौन झूटमूठ खबर लाया? छूत नहीं। ततमाटोली का अभी दौड़ता होता आया है। उसको सौर माय का किरिया खिलाकर पूछिए तो!
ऐ सुनो! मोटरगाड़ी की आवाज हुई न? हाँ...पछियारीटोला के पास आ रही है मोटरगाड़ी।
...भागो! एकदम लाल इडहुल रंग की मोटरगाड़ी आ रही है।
...भागो किधर? मोटरगाड़ी तो आ गई!"[391]

उपर्युक्त कथोपकथनों पर दृष्टिपात किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि गाँव में कालीचरण की तलाश में आए हुए गोरखा बटैलियन के सैनिकों को देखकर संपूर्ण गाँव में ऐसा आतंक परिव्याप्त हो जाता है कि सभी लोग जाते हैं। कालीचरन की माँ जब गिरफ्तारी के भय से, जोर-जोर से डकारने लगती है तो भोले ग्रामीण यह कल्पना करने लगते हैं कि शायद उसका गला काटा जा रहा है। भगत और भगताइन के कथोपकथन भी उनकी मनोदशा के सर्वथा अनुकूल है। कथोपकथनों का स्वाभाविक होना उनकी एक अन्य विशेषता स्वीकार की जाती है। जिसका अभिप्राय यह है कि विभिन्न पात्रों के संवाद ऐसे होने चाहिए, जैसे कि वे साधारण जीवन में बातें कर रहें हों। अर्थात उनमें कृत्रिमता नहीं होनी चाहिए। मैला आँचल के कथोपकथनों में यह विशेषता सर्वत्र पाई जाती है।

इसमें नाटकीयता और किस्सागोई शैली का प्रयोग किया गया है। इसे हिन्दी में आँचलिक उपन्यासों के प्रवर्तन का श्रेय भी प्राप्त है। कथा शिल्पी फणीश्वरनाथ रेणु की इस युगान्तकारी औपन्यासिक कृति में कथाशिल्प के साथ-साथ भाषा शिल्प और शैली शिल्प का विलक्षण सामंजस्य है जो जितना सहज-स्वाभाविक है, उतना ही प्रभावकारी और मोहक भी। रेणु के इस उपन्यास में गीतों की भरमार है इसलिए इसके संवादों में गीतों का आना और उनके संगीतबद्ध होने की अनिवार्यता है। लोकगीत व लोकसंगीत का सृजन मैला आंचल में उपन्यास के आरंभ से लेकर अंत तक जारी रहता है और पाठक इसके रस में सराबोर रहता है। उपन्यास के तीसरे अध्याय के अंत में लेखक ने अखाड़े में बजते ढोल का चित्र द्वारा संगीतमय शब्द बिंब से खींचा है- ढाक-

[391] प्रतिभा अग्रवाल: मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 112

ढिन्ना, ढाक-ढिन्ना! चौथे अध्याय के शुरू में ही ब्रह्म बेला में भजन गायन से गीत संगीत दोनों के ही बिंब उघाड़े हैं।

"जागहु सतगुरू साहेब
डिम-डिमिक-डिमिक, डिम-डिमक-डिमिक
भोर भयो अब भरम भयानक भानु देखकर भागाजी"[392]

भजन गायन में गीत और संगीत दोनों का योग है। रामदास खंजडी बजाता है जो स्वर निकालती है। "डिम-डिमिक,रून झुनुक-झुनुक"[393] और महंत व लछमी के कंठ स्वर से भजन के शब्द आकार लेते हैं।

कबीर पंथ में यह भजन व संगीत का सृजन उपन्यास में अनेक स्थलों पर सृजित होता है, जिसे रेणु ने भाषा का ऐसा जामा पहनाया है कि यह संगीतमय बिंब चाक्षुब बिंब बनकर आंखों के सामने आ जाते हैं। महंत सेवादास के देहांत पर शोकमय वातावरण को भी लोकशैली के गायन व संगीत सृष्टि द्वारा रेणु ने भाषा के सृजनात्मक रूप में बांधा है-

"कांचहि बाँस के पिंजड़ा
जामे दियरो न बाती हो"[394]
"अरे हंसा उड़ल आकाश
कोई संगीन साथी हो!"[395]

मिथिला अंचल के मधुर लोकगीत प्रस्तुत हुए हैं- कमली प्रसंग में या होली आदि पर्वो-त्यौहारों के अवसर पर। रेणु ने मैला आंचल में अपने स्त्री पात्रों के मन के भावों को प्रकट करने के लिए भी अंचल के मधुर लोकगीतों का सजनात्मक उपयोग किया है। कमली की जांच के समय जब डॉ. प्रशांत कुमार अपना ट्रांसिस्टर उसके पास छोड़ आता है तो सवितादेवी के गाए मैथिल लोकगीत को उपन्यास में रेणु ने इस ढंग से प्रयुक्त किया है कि उपन्यास की सरसता बढ़ जाती है-

"माइगे, हम न वियोहब अपन गौरा के
जो बुढ़वा होइत जमाम गे माई!"[396]

---

[392] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 214
[393] प्रतिभा अग्रवाल: मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 100
[394] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 45
[395] प्रतिभा अग्रवाल: मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 78
[396] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 96

तंजिमा टोली में सुरंगा-सदाब्रिज की लोककथा के गायन का प्रसंग रेणु ने उपन्यास में मिथिला अंचल में प्रचलित लोक कथाओं, लोकगीतों को फिर साकार किया है।

"सासू मोरा मरे हो, मरे मोरा बहिनी से
मरे ननद जेठ मोर जी!
मरे हमार सब कुछ पलिक्खा से,
फसी मछली परेश से डोर जी!"[397]

इन प्रचलित लोककथाओं के प्रसंग द्वारा लेखक ने अपने पात्रों के प्रेम प्रसंगों की व्याख्या भी की है। भडजिआ लोकगान मिथिला का लोकप्रिय गीत है, सो रेणु ने गाडीवानों के दल के माध्यम से उपन्यास में इस गान को प्रस्तुत कर दिया।

"चढली जवानी मोरा अंग-अंग कडके से
कब हो इहैं गवना हमार रे भउजिया!"[398]

लेखक ने प्रसंग जोड़ दिया प्रेम दीवानी नायिका कमली सें, उसकी तो कोई भौजाई ही नहीं, वह बेचारी "किससे दिल की बात कहे?"[399]

किसान जीवन के कुछ अपने विशेष पर्व होते हैं। मिथिला अंचल में एक पर्व है- खम्हार यानि खलिहान। जब धान की फसल का लेखा-जोखा है और ज़मींदार का, किसान का चाव है। साधारण किसान तो घाटे में ही रहेगा लेकिन ज़मींदार की मौज, सो उसके घर जश्न का दिन। उसके घर होता है। मिथिला अंचल का प्रसिद्ध लोकनृत्य-विदापत। विदापत नाच का माहौल पैदा करता है- मृदंग, विदापत नाच का माहौल पैदा करता है- मृदंग। मृदंग पर बजते संगीत को । शब्दों में बांध देते हैं, रेणु

"तिरकिट धिन्ना, तिरकिट धिन्ना!
धिन तक धिन्ना, धिन तक धिन्ना!
धिनक धिनक धा
धिक धिक् तिन्ना!"[400]

---

[397]प्रतिभा अग्रवाल : मैला आंचल, पृष्ठ संख्या 19
[398] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 44
[399] प्रतिभा अग्रवाल : मैला आंचल, पृष्ठ संख्या 29
[400] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 123

ढोलक, मृदंग आदि साजों की संगीतमय धुनों को शब्दबद्ध करना, यह रेणु के भाषा शिल्प का कमाल है। डॉ. प्रशांत कुमार के सोचने के क्रम में भी रेणु ने लोकगीतों का सृजनात्मक रूप उकेर दिया है- अपभंश की कोमल गीत पंक्तियां- "पिया मइले डुमरी के फूल रे पियवा मइले।"[401] डॉ. प्रशांत को समझ आ जाता है कि मिथिला अंचल ने कैसे विद्यापति जैसा कवि पैदा कर दिया, उसे लगता है कि विद्यापति के मान 'हमारी टी झोंपड़ियों में जिंदगी के मधुरस बरसा रहे हैं। होली उत्तर प्रदेश और बिहार का ऐसा त्यौहार है कि गरीब से गरीब आदमी भी अपना दुःख अभाव भूल कर एक दिन तो फागुन मीहने की बावरी हवा में खो जाता है। होली पर नाचना, गाना, रंग, अजीर, गुलाल में खो जाना और होली पर जोगिड़ा गाना तो बिहार का विशेष आकर्षण है। रेणु का 'मैला आंचल का आंचलिक चित्र होली व जोगिड़ा के चित्रण के बगैर कैसे रूप ग्रहण कर सकता था।

"जोगड़ा सर
जोगिड़ा सर
जोगी जी ताल न टूटे
तीन ताल पर ढोलक बाजे
ताक धिन्ना-धिन धिन्नक
धिन्नक
जोगी जी!
होली है! कोई बुरा न माने होली है!"[402]

रेणु ने अपनी भाषा से जोगिड़ा गान के संगीत प्रक्रिया का पूरा चित्र उघाड़ दिया है। 'जोगिड़ा' द्वारा कुछ भी कहा-अनकहा कहा जा सकता है। एक दिन के लिए सब कुछ माफ है।

"चर्खा कातो, खदधड पहनो, रहे हाथ में झोली
दिन दहाडे करो डकैती बोल पुरानी बोली जोगिड़ा सारा रा"[403]

भाषा के इस गीत-संगीतात्मक प्रयोग के ज़रिए राजनीतिक स्थिति भी चित्रित कर दी है। मैला आंचल का होली चित्रण 'गोदान' के होली चित्रण की याद भी दिला देता है। फर्क इतना है कि 'गोदान में प्रेमचंद ने गीत-संगीत का प्रयोग कम, नौकर द्वारा नौटंकी के माध्यम से सामंती व्यवस्था का शोषण उघाड़ा है। यहाँ रेणु ने होली चित्रण को और अधिक सरस बना कर प्रस्तुत कर दिया है। रेणु ने संथालिन आदिवासी स्त्रियों के गीत भी उपन्यास में समाहित कर लिए हैं। संथाल

[401] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 148
[402] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल, पृष्ठ संख्या- 254
[403] प्रतिभा अग्रवाल: मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 91

टोली का मादल भी जारे शोर से बचता है- "डा डिग्गा, डा डिग्गा सर ता-धिन ता"[404] रेणु की भाषा का संगीत के संदर्भ में भी अध्ययन संभव है, क्योंकि उन्होंने साज़ों के स्वरों को इतने सटीक शब्दों में बाधा है कि पाठक दंग रह जाता है। वर्षा ऋतु तो उत्तर भारतीय लोकगान परंपरा में वैसा ही स्थान रखती है, जैसा होली पर्व। सो ऐसा कैसे हो सकता था कि रेणु वर्षा ऋतु के लोकगीत 'मैला आंचल में प्रस्तुत न करते –

"अडरे मास आसाढ है। गरजे धन
बिजूरी-ई चमके सखि हे ए ए!
मोहे तजी कन्ता जाये पर देसा आ-आ
कि उमडू कमला माई हे!
हँडरे! हँडरे"[405]

रेणु ने सिर्फ लोकगान ही नहीं, उन्हें संगीत के स्वरों में बांधकर, कण्ठ के आरोह-अवरोह के साथ शब्दों में बांधा है, जिससे सुविज्ञ पाठक इन्हें गा भी सकता है और गान लायक संगीत भी बांध सकता है। उपन्यास में यदि परंपरा से प्रचलित लोककथाएं, लोकगीत व लोकसंगीत शब्दों में बांधे गए हैं तो भाषा का सृजनात्मक स्वरूप तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं को गीत-संगीत में बांधने में भी सफल रहा है-

"उठ मेहनतकश अब होश में आ
हाथ में झण्डा लाल उठा

या

जो जोतेगा सो बोयेगा
जो बायेगा सो काटेगा
जो काटेगा वह बांटेगा
मिथिला अंचल की अपनी शैली में भी राजनीतिक गीत रचे गए
भरे देसवा के सब धन-धान विदेसवा में जाम रहे
मंहमी पड़त हर साल कृसक अकुलाम रहे"[406]

'मैला आंचल' का भाषा शिल्प उपन्यास की बहुत बड़ी शक्ति है, हालांकि मैला आंचल ही आंचलिकता का स्वरूप केवल इसकी भाषा के कारण नहीं है। "मैला आंचल में आंचलिकता

[404] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल, पृष्ठ संख्या- 17
[405] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल, पृष्ठ संख्या – 85
[406] फणीश्वर नाथ रेणु- मैला आँचल, पृष्ठ संख्या- 85

अपने बहुविध रूप में प्रस्तुत हुई है, उपन्यास मं सृजित भाषा ने इस बहुरंगी आंचलिकता को अत्यंत संरस व सजीव बनाने में अवश्य ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उपन्यास में भाषा भी सजनशील रूप में अभिव्यक्त हई है। कई भाषा प्रेमी या भाषा वैज्ञानिक को इस उपन्यास की भाषा पर ही मुग्ध व इससे सराबोर भी हो सकते हैं या फिर समाज भाषा विज्ञन की दृष्टि से या विखंडन पद्धति से उपन्यास का विश्लेषण भी कर सकते हैं। उपन्यास में भषा ने जिन स्तरों पर अपनी सृजनशीलता अभिव्यक्ति की है, उनमें लोकगीत व लोक संगीत के पुनः सृजन का एक स्तर है। इस स्तर में त्यौहारों, पर्यों का अपना रंग भी भषा के माध्यम से आकार ग्रहण करता है। एक अन्य स्तर है, जन-व्यवहार का। मिथिला अंचल के मेरीगंज गांव व आसपास के क्षेत्र में जन व्यवहार में जो भाषा आती है, लेखक ने उसे भी उपन्यास में यथार्थ रूप से अभिव्यक्ति दी है। भाषा का तीसरा स्तर है, जिसके द्वारा विवरण के लिए अपनाई गई भाषा शैली। मैला आंचल के सरंचना शिल्प के अंतर्गत मैला आंचल के कथा शिल्प की प्रविधियों व चरित्रांकन में रेणु की विशेषताओं को लक्षित किया। भाषा शिल्प पर विचार करते हुए आपने 'मैला आंचल में भाषा प्रयोग के विविध स्तरों, लोकगीत, लोकसंगीत पर्यावरण सृजन में भाषा प्रयोग, जन-व्यवहार में भाषा प्रयोग मुहावरे लोकोक्तियां व विवरण शैली का भाषा प्रयोग देखा। उपन्यास के रूपगत या शिल्पगत पक्ष पर विचार किया और यह कहा जा सकता है कि मैला आंचल की सफलता उपन्यास की विषयवस्तु के स्तर पर तो है ही, शिल्पगत स्तर पर भी रेणु यहाँ एक सफल उपन्यासकार के रूप में प्रस्तुत होते हैं। वहीं संवाद के स्तर पर नाट्य रूपान्तरण का अद्भूत प्रदर्शन किया गया है। दोनों ही कृतियों में भाषा और संवाद को लेकर कई आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है लेकिन नाटक के संवाद संप्रेषणीय हैं। जहाँ रेणु अपनी भाषा में ग्रामीणता की गंध लिए हुए हैं वहीं प्रतिभा अग्रवाल ने संवादों के माध्यम से उस महक को पाठकों से दर्शकों में फैला दिया। संवाद की दृष्टि से उपन्यास के साथ न्याय है।

4.2.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

रेणु ने मैला आंचल में जिस प्रकार निरायास ढंग से कथावस्तु को निर्मित किया है, वैसे ही आयासहीन ढंग से उनके चरित्र भी अपना रूप ग्रहण करते गए हैं। चरित्रों के दो प्रकार फार्टर ने बताए हैं- गोल और चपटे। गोल यानि उपन्यास की कथा के विकास के साथ-साथ विकसित होने वाले चरित्र। चपटे यानि कि कथा के आरंभ में प्रस्तुत विशेषताओं को कथा के अंत तक बिना परिवर्तन के बनाए रखने वाले चरित्र, इस दृष्टि से मैला आंचल के अधिकांश चरित्र गोल हैं लेकिन कुछ चरित्र चपटे भी हैं।

चारित्रों को एक अन्य स्तर पर भी परिभाषित किया जाता है- प्रतिनिधि चरित्र या व्यक्तिपरक चरित्र, यहाँ यह स्पष्ट करना होगा कि प्रतिनिधिक या टाईप चरित्र किसी सामाजिक समूह, समुदाय या वर्ग के प्रतिनिधि चरित्र हैं, जबकि व्यक्तिपरक चरित्र अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण जाने जाते हैं। "यद्यपि प्रतिनिधिक चरित्रों में भी व्यक्तिपरक विशेषताएं रहती हैं लेकिन उनके व्यक्तित्व की मुख्य पहचान उनके टाईप चरित्र के रूप में रहती है।"[407] मैला आंचल में कई समीक्षकों को चरित्रों की इतनी भरमार लगती है कि उनमें चरित्रों का विशिष्ट व्यक्तित्व उघड़ता नज़र नहीं आता। या कई ऐसे चरित्र हैं, जिन्हें लेखक ने महत्व तो बहुत दिया है, लेकिन जिनका उपन्यास में घटनागत या चरित्रगत उद्घाटन विस्तार से नहीं हुआ है, ऐसे एक चरित्र हैं बावनदास। यह नाटक और उपन्यास का बहुत ही महत्वपूर्ण चरित्र है।

कई आलोचकों के विचार में 'मैला आंचल' में बावनदास न सिर्फ केंद्रीय चरित्र हैं, वरन उपन्यास की पूरी आत्मा इस चरित्र के साथ जुड़ी हुई है। "यद्यपि उपन्यास में बावनदास बहुत कम समय के लिए अवतरित होता है और कथा के विकास में बहुत कम योगदान करती है। लेकिन नाटक में इसकी भूमिका अहम है। बावनदास के चरित्रांकन में यह अंतर्विरोध ज़रूर है लेकिन यह भी सच है कि इस चरित्र में उपन्यास की आत्मा भी बसी हुई है।"[408] वास्तव में उपन्यास की धुरी भारतीय जन की स्वतंत्रता व उसके जीवन स्तर पर स्वतंत्रता के वास्तविक प्रभाव से जुड़ी है। "इस अर्थ में बावनदास अत्यंत महत्वपूर्ण चरित्र है, यह गांधीवादी जीवन मूल्यों का जीवन्त प्रतीक है और भारतीय समाज में आज़ादी मिलने के 6-8 महीने के भीतर ही गांधी की भी हत्या होती है और गांधीवादी जीवनदर्शन व जीवन मूल्यों की भी। गांधीवादी जीवन दर्शन सामान्य भारतीय जन की कलयाण कामना करता था लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस सामान्य भारतीय जन की कहीं

[407] डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र : आंचलिकता की कला और कथा साहित्य, पृष्ठ संख्या 1
[408] डॉ. देवेश ठाकुर : मैला आँचल की रचना प्रक्रिया, पृष्ठ संख्या 51

सुनवाई नहीं हुई, वरन इसकी अपने शासकों के हाथों और भी दुर्गति हुई। बावनदास की जघन्य हत्या, सामान्य तन की दुर्दशा को प्रतीक रूप से उद्घाटित करती है।"[409]

उपन्यास के प्रभुताशाली वर्गों के प्रतिनिधि चरित्र हैं- तहसीलदासर विश्वनाथ प्रसाद, ठाकुर रामकिरपाल सिंह और हरगौरी सिंह, खेलावन सिंह यादव, दुलारचंद इत्यादि। लेखक ने इन चरित्रों में स्वार्थ प्रियता, पाखंड व शोषित वर्गों पर बिना संकोच अत्याचार करने, अंतरात्माहीन होने की स्थितियां उद्घाटित की हैं। यद्यपि व्यक्तिगत स्तर पर इन चरित्रों में कुछ अंतर भी दृष्टिगोचर होते हैं। "जैसे तहसीलदार विश्वनाथ प्रसादं की एकमात्र संतान है कमली। हजार बीया ज़मीन से मालिक होकर भी वे उसकी शादी नहीं कर पाते, जिससे कमली मानसिक रूप से रोगी हो जाती है और डॉ. प्रशांत कुमार का प्रेम ही उसका वास्तविक उपचार कर पाता है। यहाँ लेखसक ने तहसीलदार के चरित्र के दो अंतर्विरोधी रूप अंकित किए हैं। एक पिता के रूप में वह अत्यंत स्नेहितल, कोमल हृदय, चिंतातुर है, जबकि एक ज़मींदार के रूप में वह क्रूर, स्वार्थी व अत्याचारी है।"[410] डॉ. प्रशांत उसके दोनों रूपों को देखता व विश्लेषित करता है। डॉ. स्वयं कमली से प्यार करता है अतः शोषित वर्गों से सहानुभूति रखकर भी वह विश्वनाथ प्रसाद को कई बातों में नापसंद तो करता है, लेकिन उससे नफरत नहीं कर पाता। यही विश्वनाथ प्रसाद सिंह अपनी बेटी कमली और डॉ. प्रशांत कुमार के विवाह की खुशी में अपने असामियों को पांच-पांच बीघा जमीन लौटाने की घोषणा भी करता है। "रेणु ने दुलारचंद आदि एकाध शोषक को छोड़ कर, जिसका चरित्रांकन वैसे भी सांकेतिक मात्र हुआ है, अपने अन्य शोषक चरित्रों को भी अपनी संवेदना और सहानुभूति दी है। संथालों के हाथों ठाकुर हरगौरी के मारे जाने पर, हालांकि वह बहुत उदंड व अत्याचारी था, लेखक ने उसके परिवार के दुःख के अंकन में संवेदना से काम लिया है, जबकि आदिवासी संथालों के प्रति अपनी घोषित सहानुभूति के बावजूद उन परिवारों की भीतरी व्यथा कथा से रेणु अपने पाठकों को परिचित नहीं करवाते।"[411]

मैला आंचल के स्त्री चरित्रों में सर्वप्रमुख हैं- कमली और लछमी। कमली तहसीलदार की बेटी है, जो युवावस्था में प्रेम की प्यासी है, डॉ. प्रशांत कुमार से प्रेम-बंधन में बंधकर उसका उपचार होता है, लेकिन इसी प्रेमबंधन में उसके चरित्र के कुछ पहलू भी उघड़ते हैं। कमली अत्यंत संवेदनशील है, साथ ही वह प्रबुद्ध भी है। डॉ. की प्रतीक्षा में वह इतना साहित्य पढ़ती है, शरतचंद्र, बंकिम चंद्र, तमाम बंगाली लेखक उसे अच्छे लगते हैं, जिनकी रचनाएं पढ़-पढ़ कर वह रोती भी है

[409] डॉ. देवेश ठाकुर : मैला आँचल की रचना प्रक्रिया, पृष्ठ संख्या 71

[410] डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र : आंचलिकता की कला और कथा साहित्य, पृष्ठ संख्या 19

[411] परमानंद श्रीवास्तवा : भारतीय उपन्यास की अवधारणा और मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 43

व उन चरित्रों से अपनी अस्मिता भी जुड़ी देखती है। कमली उन भारतीय स्त्रियों की प्रतिनिधि चरित्र है जो प्रेम के अपना सर्वस्व होम कर सकती है। वह डाक्टार को जी-जान से प्यार करती है और उसके प्रेम में कुंआरी मां बनने में भी उसे लाज, संकोच या भय नहीं है। "कमली को रेणु ने जितनी संवेदना दी है, उतनी ही संवेदना दुःखों की मारी लछमी को भी दी है। अबोध बालिका, जो मठ पर पालने पोसने, पढ़ाने लिखाने के लिए महंत सेवादास द्वारा लाई गई, लेकिन जिसने उसके किशोरावस्था में पहुंचते ही उसका दैहिक शोषण आरंभ कर दिया"[412] बेचारी लछमी, वह इस शोषक महंत से घृणा भी नहीं कर सकती, क्योंकि वह उसका अन्य भक्षकों से रक्षक है और उसके जीवन का आधार व सहारा भी लेकिन स्त्री का दैहिक शोषण कितना भी क्यों न हो, वह सच्चा प्रेम उसी से करती है, जिससे उसके मन का मेल हो और लछमी के मन का मेल है स्वतंत्रता सेनानी बालदेव जी से, बालदेव जी को भी लछमी आकर्षित करती है और वे भी सामाजिक रूढ़ियों या मूल्यों की परवाह न कर उसके प्रेम-बंधन में बंध कर उसके साथ रहने लगती है। "लछमी के शोषण द्वारा रेणु ने भारतीय समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति को अंकित किया है, विशेषतः निर्धन स्त्री की। कमली संपत्तिशाली वर्ग की स्त्री है, इसलिए उसे कुछ सामाजिक दर्जा व सुविधा प्राप्त हैं, लेकिन लछमी दासी है, जिसे कोई भी महंत अपनी रखेलिन बना सकता है।"[413] लछमी के व्यक्तित्व में भी संवदेनशीलता, समझदारी व दंबगता के गुण हैं। लरसिंघदास जैसे लार टपकाते साधुओं से निपटने की क्षमता भी उसमें विकसित हो गई है।

कमली व लछमी के अतिरिक्त गणेश की नानी, मंगला आदि स्त्री चरित्रों को भी रेणु ने संवदेनशीलता से चित्रित किया है। स्त्री चरित्रों के प्रति रेणु के सृजन में विशेष सौंदर्य बोध है, स्त्री-पुरुष संबंधों में वे उन्मुक्तता को भी कोई नकारात्मक मूल्य के रूप में नहीं देखते। मैला आंचल के राजनीतिक व सामाजिक रूप से सक्रिय व महत्वपूर्ण चरित्र हैं- बालदेव, कालीचरण, डॉक्टर प्रशांत कुमार, चलित्तर कर्मकार आदि। ये सभी चरित्र अपने अपने ढंग से महत्वपूर्ण हैं लेकिन इनमें प्रतिनिधिक समानता मिलती है। ये सभी चरित्र, चाहो किसी भी राजनीतिक विचारधारा के क्यों न हों, मध्यम वर्ग के समान आधार वाले चरित्र हैं, चलित्तर कर्मकार को छोड़ कर जो ज़ाहिरा रूप में कभी सामने नहीं आता, जिसकी सिर्फ चर्चा ही होती है। इनमें बालदेव कांग्रेस कार्यकर्ता व स्वतंत्रता सेनानी हैं, देशभक्ति में उन्होंने यातनाएं भी सही हैं और कारावास भी भोगा है। "स्वभाव में वे कुछ सीधे, भोले भाले जीव हैं, कुछ पिछड़ापन भी उनमें हैं, क्योंकि उन्हें लगता है 'कॉमरेड मुर्गी का अण्डा खिलाकर बनाया जाता है...लेकिन वे ईमानदार व मानवता से प्रेम करने वाले हैं। गांव

[412] डॉ. देवेश ठाकुर : मैला आँचल की रचना प्रक्रिया, पृष्ठ संख्या 45

[413] परमानंद श्रीवास्तवा : भारतीय उपन्यास की अवधारणा और मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 40

का हित चाहते हैं। गांव में राशन डिपो मिलता है तो भ्रष्टाचार बंद करते हैं। हस्पताल बनाने में आगे बढ़करर योगदान करते हैं। लछमी के प्रति आकर्षित होते हैं तो उसके साथ जीवन साझा करने को भी प्रस्तुत होते हैं, जाति-बंधनों से मुक्त हैं। कालीचरण युवा शक्ति के प्रतीक हैं उन्हें कांग्रेस पार्टी से ज्यादा क्रांतिकारी पार्टी सोशलिस्ट पार्टी आकर्षित करती है, जो ज़मीन हलवाहकों को का नारा देती है व संघर्ष की मार्ग दिखाती है।"[414] कालीचरण बम फोड़ने वाले मस्ताने भगत सिंह से भी प्रभावित है। वह भी संवदेनशील प्रेमी है। मंगला उसे अच्छी लगती है, लेकिन उससे चार हाथ की दूरी वह बनाए रखता है।

चलित्तर कर्मकार भूमिगत क्रांतिकरी है, जो वर्ग संघर्ष में यकीन रखता है, उसके साथ कोई भी अपने को नहीं जोड़ना चाहता। केवल कम्युनिस्ट पार्टी ने उसके वारंट वापिस लेने की मांग कर रखी है। डॉ. प्रशांत कुमार वास्तव मे उपन्यास का केंद्रीय चरित्र है, जो स्वयं लेखक के विचारों का प्रतिनिधि है। डॉ. प्रशांत के चरित्र के विकसित होने का अवाकश भी उपन्यास में मिला है व लेखक की संवदेना भी उसे पर्याप्त मात्रा में मिली है। "डॉ. प्रशांत सही मायनों में जनहित से जुड़ा कॉमरेड बुद्धिजीवी है, जिसने विदेश का वज़ीफा छोड़ कर भारतीय देहात का दुःख दर्द महसूस करना, उसे दूर करना, पीड़ित जन से जुड़ना अधिक श्रेयस्कर माना और डॉ. प्रशांत हर स्तर पर मेरीगंज की पीड़ित मानवता से जुड़ता है। वह मलेरिया पर शोध भी करता है, गांव वासियों को चिकित्सा प्रदान कर जीवनदान भी करता है व उनके दुःख सुख और सामाजिकसांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग भी बनता है।"[415] कमली को अपनी सहचरी बनाकर वह शहर का रहा सहा आकर्षण भी मन में नहीं रहने देता और जेल से रिहा होकर गांव को ही अपनी कर्मभूमि बनाने का निर्णय लेता है। हालांकि शहर में उसे ऊंचे पद, मान-सम्मान, सुख-सुविधा सब कुछ मिलता था।

आदिवासी संथालों के विद्रोह को यदि किसी चरित्र की सहपनुभूति मिली तो वह प्रशांत कुमार ही था। प्रशांत कम्युनिस्ट समर्थक समझा जाता था लेकिन बालदेव, कालीचरण व प्रशांत में वर्ग चरित्र एक समान है। "तीनों ही अपनी मध्यवर्गीय चारित्रिक सीमाओं को पार कर संघर्षशील वर्ग से नहीं जुड़ते। उनकी सहानुभूति वहीं तक हैं, जहाँ तक उनका जीवन व जीवन शैली सुरक्षित है। आदिवासी संथालों के विरूद्ध बालदेव और काचरण दोनों गवाही देते हैं और उन्हें आजीवन कारावास दिलवाने में शामिल होते हैं। डॉ. प्रशांत को संथालों से सहानुभूति है, लेकिन इस सहानुभूति को वह सक्रिय रूप नहीं देते।"[416] कुल मिलाकर 'मैला आंचल ' में लेखक की अपनी

[414] परमानंद श्रीवास्तवा : भारतीय उपन्यास की अवधारणा और मैला आँचल, पृष्ठ संख्या 81

[415] डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र : आंचलिकता की कला और कथा साहित्य, पृष्ठ संख्या 52

[416] डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र : आंचलिकता की कला और कथा साहित्य, पृष्ठ संख्या 94

वर्ग सीमाएं भी मध्यवर्ग तक ही सीमित हैं, इसलिए उनके सर्वश्रेष्ठ चरित्र भी मध्यवर्गों से ही आते हैं, ताकि मेहनतकश या संघर्षशील वर्गों से।

यह रोचक पर खेद की बात है कि आलोचकों द्वारा उपर्युक्त विचार को दोहराया तो अनेक बार गया है पर उसकी परीक्षा नहीं की गयी है। मैला आँचल में अपेक्षाकृत प्रमुख पात्र सात, गौण पात्र तीस, आकस्मिक रूप से झलक दिखाकर चले जाने वाले पात्र पैंसठ और मात्र उल्लेख के रूप में आने वाले पात्र लगभग दो सौ से ऊपर है। प्रमुख सात पात्रों- प्रशांत, विश्वनाथप्रसाद, बालदेव, बावनदास, कालीचरन, कमली और लछमी मे से एक भी पात्र नायक अथवा नायिका की संज्ञा पाने लायक नहीं है। प्रशांत और कालीचरन दोनों नायक बनते-बनते रह गये है। दरअसल मैला आँचल के सभी पात्र अपने-अपने व्यक्तित्व के योगफल से मेरीगंज या उस अंचल को एक समग्र व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। रेणु ने मेरीगंज की कल्पना एक पात्र के रूप में की है, इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने उसके नामकरण से लेकर उसकी विशिष्ट पहचान तक के सभी पक्षों को उद्घाटित किया है। उपन्यास के लगभग आरंभ में ही मेरीगंज के नामकरण को एक ट्रैजिक तथा मार्मिक संदर्भ से जोड़ दिया गया है। हालाँकि ये समझने योग्य बात है कि किसी कहानी में बिना नायक के होना बड़ी विचित्र बात लगती है लेकिन कई बार मुख्य घटना के नाम पर कहानी का नामकरण होता है, कई बार मुख्य पात्र के नाम पर, कई बार किसी वाक्य पर भी तथा कई बार प्रतीक के रूप में नामकरण कर लिया जाता है। जैसे गोदान, रंगभूमि, सुनीता, शेखर, उसने कहा था, चीफ की दावत, अँधा युग इत्यादि। यहाँ मेरीगंज के नाम के पीछे भी एक कहानी दिखाई गई है, मेरी जिसके नाम पर उसके पति मार्टिन द्वारा गाँव का नया नाम रखा गया था, उसकी मृत्यु मलेरिया से होती है और मार्टिन के अथक प्रयत्न के बावजूद वहाँ डिस्पेंसरी नहीं खुल पाती है। ठीक ऐसा ही दृश्य संवादों के माध्यम से नाटक में दिखाया गया है।

"(डाक्टर पूरी बात न समझ पाने के कारण मुंह ताकने लगते हैं।)

विश्वनाथ : रामकिरपाल ठीक कह रहे हैं। कई साल पहले यहां के कलेक्टर थे मार्टिन साहब। उनकी मेम साहब थीं मेरी। उन्हीं के नाम पर गांव का नाम पड़ा मेरीगंज। डाक्टर : ओ।

विश्वनाथ : एक बार उन्हें जोरों का मलेरिया हुआ। यहां कोई दवा-दारू का इंतजाम नहीं था साहब गये पुरनिया से डाक्टर को लाने। जब तक वो लौटे, तब तक मेरी मेम साहब ठंडी हो चुकी थीं। उसी दम मार्टिन साहब ने दौड़-धूप शुरू की कि यहां एक मलेरिया सेंटर खुले सरकार से लिखा-

पढ़ी की, अपनी जमीन और कोठी सेंटर को दान कर दी। उसी जमीन पर तो सेंटर बना है। अभी ले चलते हैं आप को वहां।"[417]

मेरी और मार्टिन की अभिशप्त आत्माएँ मेरीगंज पर तब तक मँडराती रहती हैं जब तक प्रशांत अपनी मलेरिया और कालाजार पर रिसर्च की योजना लेकर मेरीगंज नहीं पहुँचता। गाँव के नामकरण के बाद उपन्यासकार मेरीगंज का एक पात्र की तरह ही ब्यौरेवार हुलिया देता है- 'कोठी के बगीचे में, अंग्रेजी फूलों के जंगल में आज भी मेरी की कब्र मौजूद है। कोठी की इमारत ढह गई है, नील के हौज टूट-फूट गए हैं, पीपल, बबूल तथा अन्य जंगली पेड़ों का एक घना जंगल तैयार हो गया है। लोग उधर दिन में भी नहीं जाते। कलमी आम का बाग तहसीलदार साहब ने बंदोबस्त में ले लिया है. इसलिए आम का बाग साफ-सुथरा है किंतु कोठी के जंगल में तो दिन में भी सियार बोलता है। लोग उसे भुतहा जंगल कहते हैं। इसके बाद कथाकार मेरीगंज के निवासियों और वहाँ के परिवेश का वर्णन करता है- "मेरीगंज एक बड़ा गाँव है: बारहो बरन के लोग रहते हैं। गाँव के पूरब एक धारा है जिसे कमला नदी कहते हैं। बरसात में कमला भर जाती है, बाकी मौसम में बड़े-बड़े गढ़ों में पानी जमा रहता हैं-मछलियों और कमल के फूलों से भरे हुए गढ़े। पौष पूर्णिमा के दिन इन्हीं गढ़ो में कोशी स्नान के लिए सुबह से शाम तक भीड़ लगी रहती है। रौतहट स्टेशन से हलवाई और परचून की दुकानें आती है। कमला मैया के महातम के बारे में गाँव के लोग तरह-तरह की कहानियाँ कहते हैं। गाँव में किसी के यहाँ शादी-ब्याह या आद्ध का भोज हो, गृहपति स्नान करके गले में कपड़े का खूँट डालकर, कमला मैया को पान-सुपारी से निमंत्रित करता था। इसके बाद पानी में हिलोरें उठने लगती थीं. ठीक जैसे नील के हौज में नील मथा जा रहा हो।"[418] इसी तरह नाटक और उपन्यास में समानता नज़र आती है। जहाँ विवरण है उसे संवादों के माध्यम से दर्शकों तक पहुँचाया गया है।

"अब गाँव में तीन प्रमुख दल है-कायस्थ, राजपूत और यादव। ब्राह्मण लोग अभी भी तृतीय शक्ति हैं। गाँव के अन्य जाति के लोग भी सुविधानुसार इन्हीं तीनों दलों में बटे हुए हैं।"[419]

"सारे मेरीगंज में दस आदमी पढ़े-लिखे हैं- पढ़े-लिखे का मतलब हुआ अपना दस्तखत करने से लेकर तहसीलदारी करने तक की पढ़ाई। नये पढ़ने वालों की संख्या है पंद्रह । गाँव की मुख्य पैदावार है धान, पाट और खेसारी रब्बी की फसल भी कभी-कभी अच्छी हो जाती है।"[420]

---

[417] प्रतिभा अग्रवाल : मैला आँचल पृष्ठ संख्या 9

[418] फणीश्वर नाथ रेणु : मैला आँचल पृष्ठ संख्या 14

[419] प्रतिभा अग्रवाल : मैला आँचल पृष्ठ संख्या 54

[420] फणीश्वर नाथ रेणु : मैला आँचल पृष्ठ संख्या 16

स्थान- संकोच के कारण यह वर्णन संक्षिप्त रूप में उद्धृत किया गया है, जबकि "कथाकार ने तो अत्यंत विस्तार से कमला मैया के बारे में प्रचलित किवदंती, राजपूतों और कायस्थों के पुश्तैनी झगड़ों, ब्राह्मणों द्वारा तीसरी शक्ति की भूमिका तथा गाँव के प्रमुख लोगों का परिचय आदि दिया है। इस प्रकार मेरीगंज का नामकरण और व्यक्तित्व ठीक उसी प्रकार निर्मित हो जाता है, जैसे किसी पात्र का। इसके बाद प्रमुख और गौण पात्रों का जुलूस सामने आता है। कुछ पात्र ऐसे अवश्य हैं जो इस जुलूस में प्रमुख भूमिका निभाते हैं. इसे निर्देशित करते हैं, नियंत्रित करते हैं और नारों के पूर्वार्ध का उद्घोष करते हैं, पर वे रहते हैं जूलूस का हिस्सा ही उनमें से कोई भी ऐसा नायक या नेता नहीं है जो जुलूस को अपने पीछे-पीछे ले जाता हो।"[421] एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उपन्यास के अधिकांश पात्र मेरागंज में रहते हैं। उपन्यास की कथा मेरीगंज से बहुत कम बाहर जाती है। इस कारण मेरीगंज पूरे उपन्यास की कथा पर हावी रहता है। दरअसल उपन्यासकार ने किसी भी पात्र को मेरीगंज से बड़ा नहीं बनने दिया है। यहाँ तक कि कालीचरन और डॉ. प्रशांत जैसे पात्रों को भी मेरीगंज निगल गया है। अतः यह मानना गलत नहीं है कि मैला आंचल में मेरीगंज की कल्पना एक पात्र के रूप में की गयी है। मेरीगंज ही मैला आँचल का प्रमुख विषय है, अतः उसका प्रस्तुतीकरण उपन्यास के केंद्रीय पात्र अथवा नायक के रूप में, उसे स्पष्ट और संपूर्ण व्यक्तित्व प्रदान करते हुए किया।

[421] डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र : आंचलिकता की कला और कथा साहित्य, पृष्ठ संख्या 29

4.2.4 नाट्य प्रस्तुतियों का विश्लेषण

मैला आँचल का सबसे नाट्य रूपान्तरण प्रतिभा अग्रवाल ने नाट्यकर्मी रजिन्दर नाथ के अनुरोध पर किया था। नाट्य आलेख में रजिंदर नाथ को नाटक का केंद्र बिंदु स्पष्ट नहीं हुआ और कई वर्षों बाद डॉ. प्रशांत को केंद्र बिंदु बना कर नाट्यालेख तैयार किया। बहुत से विद्वानों तथा आलोचकों ने मैला आँचल का नायक मेरीगंज को माना है। सर्वप्रथम नलिन विलोचन शर्मा ने मेरीगंज को एक पात्र के रूप में देखने की दृष्टि दी थी। उन्होंने लिखा था 'हिंदी के एकाधिक उपन्यासकारों ने दो-चार स्त्रियों पुरुषों के यहाँ तक कि एक ही स्त्री या पुरुष के जीवन को लेकर खासे अच्छे उपन्यास लिखे हैं किंतु जो उपन्यासकार व्यष्टि को नहीं, समष्टि को ही सिद्धांत रूप में प्रधानता देते हैं, वे भी अपने आदर्श को उपन्यास का रूप देने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। नाटक लिखने और उसके खेलने में बहुत अंतर है क्योंकि कई बार नाटक कागज़ पर अच्छा लगता है लेकिन जब उसका मंचन किया जाता है तब उसकी परीक्षा होती है। कहानी के नायक के बिना कहानी अधूरी से जान पड़ती है इस कारण इसके मंचन को लेकर निर्देशक और नाट्य रूपान्तरणकार के बीच में सम्वाद भी हुए जिसेक चलते इसके नाटक माध्यम को बदला भी गया। हिंदी के ऐसे उपन्यासकारों ने यदि समष्टि का चित्रण किया भी है तो कुछेक पात्रों को ही सामान्य लक्षण टाइप बनाकर, अर्थात् प्रधानता व्यक्ति या व्यक्तियों की ही रही है, समूह गौण अथवा प्रासांगिक ही बना रह गया है। भारतीय उपन्यासकारों में प्रेमचंद अपवादस्वरूप थे, क्योंकि उन्होंने बिना किसी साहित्येतर सिद्धांत के आग्रह से गोदान जैसा महान समष्टिमूलक उपन्यास लिखा, जिसका मुख्य पात्र है-तत्कालीन भारतीय जीवन दूसरे उपन्यास का पात्र बिहार का एक छोटा-सा अंचल है, पर पहले का पात्र समग्र भारतीय जीवन है।'

हिन्दी अकादमी दिल्ली की तरफ से मंडी हाउस स्थित कमानी सभागार में प्रख्यात साहित्यकार फणीश्वरनाथ रेणु के चर्चित उपन्यास मैला आंचल पर आधारित नाट्य मंचन किया गया। इसका नाट्य मंचन सुरेंद्र शर्मा के निर्देशन में हुआ। इस नाट्य रूपान्तरण में नाटक का नायक डॉ. प्रशांत है जो एक युवा है। बेहतरीन निर्देशन में रंग सप्तक की टीम ने इस उपन्यास के पात्रों को मंच पर जीवंत कर दिया। शहीद भवन के सभागार में हम थिएटर ग्रुप के द्वारा फणीश्वरनाथ रेणु द्वारा लिखित मैला आंचल उपन्यास पर आधारित नाटक का मंचन बालेंदु सिंह के निर्देशन में किया गया। इस नाटक को मंचित करने वाले कलाकारों में 5 वर्ष से लेकर 65 वर्ष तक के नए कलाकारों ने इसे मंचित किया, जिसमें मुख्य डॉ. प्रभात के गेटअप में प्रयाग साहू, कमली प्रियंका देवनाथा, लक्ष्मी- दीपा सिंह (वृंदा), कमली की मां- खुश्बू चौबीतकर, बल्देव- सोनू साहा, विश्वनाथ प्रसाद-

भगत सिंह, रामकृपाल सिंह- दुर्गा शंकर लखेरा, राम खेलावन यादव- दीपक तिवारी, रामखेलावन यादव- दीपक तिवारी, रामदास-अशरफ अली, कालीचरण- रूपेश तिवारी, जोतखी- अमित घोष, महंत सेवादास व हवलदार- भगवत दयास कुशवाह सहित अन्य कलाकार रहे। इन कलाकारों ने अपने अभिनय से सभागार में बैठे सभी दर्शकों को सोचने पर मजबूर किया कि क्योंकि ये सभी कलाकार शहरों से हैं जबकि नाटक की भाषा लोक की है। भाषा और पोशाक की दृष्टि सेस भी यह मंचन बहुत सफल रहा है।

इन स्थानों पर हुए मंचनों को देखने से यह पता चलता है कि नाटक खेलने के लिए वर्तमान समेत में संसाधनों की कमी नहीं है क्योंकि लगभग 200 पात्रों वाले इस उपन्यास में मंच पर इतने लोग सम्भव नहीं किन्तु इसके बावजूद इसका मंचन सफलता से किया गया। कई नाट्य संस्थाओं ने डॉ. प्रशांत और मेरीगंज को नायक का रूप देकर नाट्यालेख तैयार किया है। मैला आँचल के हो भी मंचन हुए हैं वे सारे ही सफल रहे हैं इसका कारण है रेणु की भाषा और कहने की शैली। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, श्री राम सेंटर, कमानी ऑडीटोरियम, एलटीजी, साहित्य अकादमी जैसी संस्थाओं में इसका मंचन सफलतापूर्वक किया है।

4.3 मन्नू भंडारी और महाभोज

महाभोज मन्नु भंडारी का प्रख्यात उपन्यास है। यह आपका बंटी के बाद मन्नू भंडारी द्वारा स्वतंत्र रूप से लिखा गया दूसरा उपन्यास है। इसके अतिरिक्त स्वामिनी नाम से उनका एक अन्य उपन्यास प्रकाशित हुआ है। मन्नू भंडारी ने राजेंद्र यादव के साथ संयुक्त रूप से एक इंच मुस्कान नामक उपन्यास की रचना की है। उपन्यासों के अलावा उन्होंने विपुल मात्रा में कहानियों की रचना की है। उनका कहानी संसार अधिक व्यापक और समृद्ध है। कथा-साहित्य के अतिरिक्त, मन्नू भंडारी ने 'महाभोज' तथा 'बंद रास्तों का मकान' नाम से दो नाटकों की भी रचना की है।

महाभोज एक यथार्थवादी उपन्यास है। इसका प्रकाशन सन् 1979 में हुआ था। इसमें लेखिका ने राजनीति के अवमूल्यन को दर्शाया है। राजनीति अपने चरित्र में कितना अमानवीय और अनैतिक हो सकता है, इसका यह उपन्यास एक जीवंत प्रमाण है। राजनीति अब केवल सत्ता संघर्ष बनकर रह गई है। उसका समाज-हित तथा राष्ट्र-हित से अधिक सरोकार नहीं रह गया है। "राजनीति से जुड़े लोग और नेता अपने स्वार्थों को साधने के लिए दंगे, हिंसा और आगजनी जैसे कृत्यों का सहारा लेते हैं और आम आदमी को यह सब झेलने के लिए विवश होना पड़ता है। वह विरोध करे भी तो किससे और कहाँ करें, इस लोकतंत्र में उसकी सुनने वाला कौन है। पत्रकारों तथा मीडिया का तबका भी उसके साथ नहीं है। वह भी बिकाऊ हो गया है। वह उन्हीं खबरों को छापता है जिसके लिए उसे कीमत मिलती है। सबसे ज्यादा बुरा हाल तो दलित और वंचित तबके का है। उसे जब चाहा दबंगों से पिटवा दिया और जब चाहा उनसे हमदर्दी दिखाकर उनसे अपना मतलब साध लिया। राजनेताओं और गुंडों के गठजोड़ ने इस देश की राजनीति का सबसे ज्यादा नुकसान किया है। नेता और मंत्री गुंडों और दबंगों के द्वारा जो चाहते हैं आसानी से करवा लेते हैं। उनके गुंडे चुनावों के समय अधिक सक्रिय रहते हैं।"[422] इनका प्रभाव गांवों में तथा दलितों की बस्तियों में अधिक होता है। ये स्वतंत्र होकर पूरे समाज में दहशत और आतंक फैलाते हैं। इस दहशत और आतंक को इस उपन्यास में आद्योपांत महसूस किया जा सकता है। महाभोज नामक नाटक इसी उपन्यास का नाट्य रूपांतरण है। इसका नाट्यांतरण स्वयं लेखिका द्वारा किया गया है। इस नाटक में उपन्यास की-सी सजीवता, सहजता और जीवंतता बनी हुई है, यही कारण है कि यह उपन्यास की ही भांति अत्यंत लोकप्रिय हुआ। यह हिंदी साहित्य जगत में पहली अपने आप में अलग कृति है, जिसे उपन्यास और नाटक दोनों विधाओं में प्रकाशित किया गया तथा दोनों ही रूपों में इसका भरपूर स्वागत हुआ। "इस विषयवस्तु को कथानक अथवा कथावस्तु कहते हैं कथावस्तु का संबंध

[422] राकेश वत्स : साठोत्तरी हिंदी नाटकों का रंगमंचीय अनुशीलन, पृष्ठ संख्या 94

कुछ पात्रों से होता है, जिनके बिना उसका निर्माण नहीं हो सकता कथावस्तु को प्रस्तुत करते हुए रचनाकार इन पात्रों की प्रकृति, आचार-विचार तथा कुछ अन्य विशेषतओं का भी उद्घाटन करता है, जो पात्रों का चरित्र कहलाता है।"[423] ये पात्र अपने वार्तालापों से कथा को विकास देते हैं तथा एक-दूसरे की चरित्रगत विशेषताओं को भी प्रकट करते हैं। कथावस्तु और पात्र किसी स्थान और समय से संबंध रखते हैं, जिसे देशकाल कहा जाता है। कथा, पात्र और देशकाल अथवा परिवेश को प्रस्तुत करने की प्रत्येक रचनाकार की अपनी शैली और भाषा होती है और अंततोगत्वा उसका कोई उद्देश्य भी होता है, जिसे वह रचना अंक माध्यम से स्थापित करना चाहता है। परंपरागत रूप से- कथावस्तु, पात्र और उनका चरित्र-चित्रण, देशकाल, संवाद, भाषा-शैली और उद्देश्य जिनकी कसौटी पर किसी रचना की सफलता अथवा अफसलता का मूल्यांकन किया जाता है। इस नाटक की विशेषता इसकी प्रासंगिकता है जो इसे और भी महत्वपूर्ण बनाती है।

[423] राकेश वत्स : साठोत्तरी हिंदी नाटकों का रंगमंचीय अनुशीलन, पृष्ठ संख्या 95

4.3.1 कथानक के स्तर पर

महाभोज नाटक उत्तर प्रदेश के सरोहा गाँव के इर्द-गिर्द बुना गया है। यह गाँव उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में स्थित है। गाँव में विधान सभा की एक सीट के लिए चुनाव होने वाला है। कहानी बिसेसर उर्फ़ बिसू की मौत की घटना से शुरू होती है। सरोहा गाँव के हरिजन बस्ती में आगजनी की घटना में दर्जनों व्यक्तियों की निर्मम हत्या हो चुकी थी। आगजनी की घटना और बिसू की मौत को सारे हथकंडों और दाँव-पेंचों का आधार बनाया जाता है। आपातकाल के कुछ पहले से लेकर जनता पार्टी की सरकार बनने तक की संपूर्ण राजनीतिक परिप्रेक्ष्य उपन्यास के कथानक में समाहित है। यह सारा परिप्रेक्ष्य जाना-पहचाना है, परन्तु घटनाओं और स्थितियों को इस तरह संजोया गया है कि पाठक को यह सारी जानकारियाँ नई उपलब्धि-सी जान पड़ती हैं। यही इस उपन्यास की मौलिकता है। "बिसू के पास इस हत्या काण्ड के प्रमाण थे, जिन्हें वह दिल्ली जाकर सक्षम पदाधिकारियों को सौपना चाहता है और बस्ती के लोगों को न्याय दिलवाना चाहता है किन्तु राजनितिक षड्यंत्र और स्थानीय दबंग जोरावर के षड्यंत्र के कारण बिसू के चाय में दो लोगों को भेजकर जहर मिलवा दिया जाता है, जिसके चलते उसकी मृत्यु हो जाती है। यहीं से नाटक की शुरूआत होती है। पहले दृश्य में बिसू की लाश को पुलिया पर पड़े दर्शाया गया है। बिसू दलितों का हमदर्द और मसीहा था।"[424] उसकी मौत के बाद पूरी दलित बस्ती में भय और दहशत का माहौल छा जाता है। चुनावी माहौल के कारण बिसू की हत्या एक ज्वलंत खबर बन जाती है। बिसू की हत्या के बाद उसका साथी बिंदेश्वरी उर्फ़ बिंदा इस प्रतिशोध को जिंदा रखता है। बिंदा को भी राजनीति और अपराध के जाल में फँसाकर सलाखों के पीछे डाल दिया जाता है। पिछड़ी और वंचित जाती के लोगों के साथ अत्याचार और प्रतिनिधि चरित्रों द्वारा उसका प्रतिरोध इस नाटक को गति प्रदान करता है।

मन्नू भंडारी द्वारा लिखित महाभोज उपन्यास एक राजनीतिक पृष्ठभूमि वाला उपन्यास है। जिसने समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों का प्रसंगानुसार चित्रण किया गया है। "उपन्यास की पृष्ठभूमि उस समय की है, जब आपातकाल के बाद कांग्रेस की पराजय हो रही थी और जनता पार्टी का उदय हो रहा था। महाभोज उपन्यास का परिवेश हमारे आज के आधुनिक राजनीतिक जीवन जैसा है।"[425] उपन्यास बेहद रोचक शैली में लिखा गया है, जिसे पढ़कर उसमें अवास्तविकता का बोध बिल्कुल भी नहीं होता। महाभोज उपन्यास में अनेक कथाओं का संयोजन मिलता है।

[424] उद्भावना : जनवरी जून 1996, पृष्ठ संख्या 15

[425] डॉ. जयश्री शुक्ल : साठोत्तरी हिंदी नाटकों की सामाजिक चेतना, पृष्ठ संख्या 42

महाभोज उपन्यास में मौलिकता के साथ-साथ मार्मिक प्रसंगों का संयोजन होने के कारण कथानक की संरचना में कोई भी कमी नहीं आने पाई है। कथावस्तु की दृष्टि से यह उपन्यास आरंभ से अंत तक सार्थक रहा है। उपन्यास के संवाद कथा चलने के साथ-साथ पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का परिचय देने में पूर्णता सफल रहे हैं। इसकी संवाद, संक्षिप्त, सरल हैं। उपन्यास में राजनीतिक घटनाओं का वर्णन किया गया है। उपन्यास की भाषा शैली मुख्यतः बोलचाल की आम भाषा देसी है, जो एकदम सरल एवं सुबोध है। इ"स उपन्यास के माध्यम से मन्नू भंडारी ने यह कहने का प्रश्न किया है कि आज की राजनीति चंद नेताओं के हाथ का खिलौना बन कर रह गई है। जिसके पास धन और बल का जोर है। वह ही राजनीति में अपना प्रभाव रखता है। उन्होंने राजनीति के बाहुबल का यथा चित्रण महाभोज उपन्यास में किया है।"[426] महाभोज उपन्यास का कथानक सरवन पश्चिमी उत्तर प्रदेश में स्थित सरोहा नामक एक गांव है यहां पर विधानसभा का चुनाव होने वाला है। "कथानक का आरंभ कहानी के एक पात्र विशेसर की मौत की घटना से होता है। सरोहा गांव की हरिजन बस्ती में आगजनी की घटना होने से अनेक लोगों की निर्मम हत्या कर दी जाती है। बिसेसर के पास इस घटना की सत्यता के प्रमाण थे और वह इन प्रमाणों को दिल्ली जाकर अधिकारियों को सौंप कर बस्ती के लोगों को न्याय दिलवाना चाहता था। लेकिन राजनीतिक षड्यंत्र विशेषर को ही जेल में डलवा दिया जाता है और उसकी हत्या करवा दी जाती है। बिसेसर साथी बिंदा इस प्रतिरोध को जिंदा रखता है। बिंदा को भी राजनीतिक षड्यंत्र रच कर जेल में डाल दिया जाता है। फिर एक पुलिस अधीक्षक सक्सेना इस प्रतिरोध को जारी रखता है। यह उपन्यास एक विस्तृत कथा है जिसे स्वयं लेखिका ने ही नाटक में परिवर्तित किया है। इस नाटक में उन्होंने ग्यारह दृश्यों में विभाजित किया है।"[427] जो कथानक के स्तर पर अलग अलग हिस्सों को रूपायित करता है। प्रत्येक दृश्य के शुरू होने से पहले वहां के दृश्य का विवरण दिया हुआ है जिससे मंचन करते समय कथानक की मूल संवेदना ज्यों की त्यों बनी रहे। जिन विवरणों को मंचन के दौरान नहीं दिखाया जा सकता उसे सूत्रधार के हवाले से उद्घोषित किया गया है। कई स्थानों पर विस्तृत रूप से दिया गया है और कहीं पर केवल संवादों से माध्यम से दृश्य को संप्रेषित किया है।

दृश्य : एक

"गाँव का मैदान। बिसू की माँ का हृदय विदारक रूदन सुनायी देता है। धीरे-धीरे मंच पर प्रकाश होता है। बिसू की लाश रखी है, उसकी माँ छाती पीट-पीटकर रो रही है। बाप घुटनों में सिर

[426] डॉ. जयश्री शुक्ल : साठोत्तरी हिंदी नाटकों की सामाजिक चेतना, पृष्ठ संख्या 44
[427] डॉ. जयश्री शुक्ल : साठोत्तरी हिंदी नाटकों की सामाजिक चेतना, पृष्ठ संख्या 44

दिये बैठा है चारों तरफ़ लोग जमा हैं। माहौल में सनसनी और तनाव है। रिसर्च स्कॉलर महेश, जो सूत्रधार की भूमिका भी अदा कर रहा है, अपनी जगह से चलकर आगे आता है। बाक़ी दृश्य फ्रीज हो जाता है।"[428] ठीक यही दृश्य देवेन्द्र राज अंकुर ने कहानी के मंचन में दिखाया है "अँधेरा। मंच पर प्रकाश आते ही बाएँ कोने में एक व्यक्ति घुटनों में सिर दिए सुबक रहा है। दूसरा उसके पीछे खड़ा मानो उसे सांत्वना देने की कोशिश कर रहा है शेष पूरा मंच ख़ाली है। खड़ा हुआ व्यक्ति बोलना शुरू करता है...इस पूरे संवाद के दौरान मंच के दोनों कोनों से एक-एक करके आठ अभिनेता मंच के पिछले हिस्से में एक अर्द्ध-गोलाकार बनाकर चुपचाप खड़े हो चुके हैं।"[429] आगे के संवादों में कहानी के रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण में दोनों ही में एक ही बात कही गयी है। यहाँ तक की उपन्यास का आरम्भ भी थोड़े विवरण के बाद इसी तरह होता है।

"सूत्रधार : लावारिस लाश को गिद्ध नोंच-नोंचकर खा जाते हैं। पर बिसेसर लावारिस नहीं। उसकी लाश सड़क के किनारे पुलिया पर पड़ी मिली, शायद इसीलिए लावारिस लाश का खयाल आ गया। वरना उसके तो माँ भी है और बाप भी ग़रीब भले ही हों, पर हैं तो। विश्वास नहीं होता था कि वह मरा पड़ा। लगता था जैसे चलते-चलते थक गया हो और आराम करने के लिए लेट गया हो मरे और सोये आदमी में अन्तर ही कितना होता है भला? बस, एक साँस की डोर, वह टूटी और आदमी गया देखते-ही-देखते सारा गाँव जमा हो गया लोग एक-दूसरे को धकेलते हुए लाश के पास आ रहे हैं। भीड़ में आतंक और अजीब तरह का तनाव। एक फ़ोटोग्राफ़र तसवीरें खींच रहा है- कभी भीड़ को तो कभी लाश की। रिपोर्टर नरोत्तम चारों तरफ़ देखकर स्थिति का जायजा ले रहा है...साथ ही कुछ लिख भी रहा है। एक लठैत भीड़ को लाश के पास से हटा रहा है महेश सूत्रधार की भूमिका अदा करने के बाद फिर भीड़ में जा मिलता है। वह लाश की ओर देख रहा है, बेहद दुखी उदास और त्रस्त।"[430] इस दृश्य में, गांव का वातावरण है। बिसू की लाश सड़क के किनारे पुलिया पर मिलने से पूरे गांव में भय और तनाव का माहौल है। बिसू के माता और पिता उसकी लाश के पास बेठे रो रहे हैं तथा चारों तरफ गांव के अन्य लोग इकट्ठा हैं। पुलिस महज खानापूर्ति के लिए जांच-पड़ताल कर रही है। गाँव के सभी लोगों को पूरा यकीन है कि आगजनी वाली घटना के कारण बिसू की हत्या हुई है। बिसेसर की हत्या सिर्फ एक दलित युवक की हत्या नहीं थी। उस लोकतंत्र प्रणाली की हत्या थी, जिसमे 'शिक्षा' व 'समानता' जैसे अधिकारों को शामिल करने और उनके कल्याण से जुड़ी आदर्श बातें की जाती रही है।

---

[428] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 13-14

[429] देवेद्र राज : अंकुर कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 162

[430] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 13-14

दृश्य : दो

"शहर- मशाल साप्ताहिक का कार्यालय। भवानी अपनी मेज पर फैली फ़ाइलों में व्यस्त। कभी एक फ़ाइल खोलता है तो कभी दूसरी। उसके स्वभाव का उतावलापन उसके काम करने के ढंग से साफ़ जाहिर है। बीच-बीच में वह कुछ गुनगुनाता भी रहता है। नरोत्तम का प्रवेश। चुस्त-दुरुस्त लेकिन गर्मी में लम्बा सफ़र करने के कारण चेहरे पर थकान, धूल और पसीना।"[431] इस दृश्य में, शहर का माहौल है। 'मशाल' साप्ताहिक का कार्यालय जहाँ भवानी अपनी मेज पर फैली फ़ाइलों में व्यस्त है। नरोत्तम गाँव से रिपोर्ट लेकर सीधे भवानी के पास पहुँचकर गाँव का सब हाल सुनाता है। बिसेसर हरिजनों का नेता था। गाँव के चुनावी सरगर्मी में ऐसा होना कोई आम बात नहीं है। आगजनी वाली घटना में किसी के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी। किन्तु इस घटना में सब कुछ मुस्तैदी से हो रहा था। पूर्व मंत्री सुकुल बाबू अब इस चुनाव में खम ठोककर खड़ा हो रहे हैं। दोनों के बीच समसामयिक परिस्थितियों के बारे में बात होती है कि आज भी हरिजनों की जिंदगी बदतर ही है। यहाँ पत्रकारिता का दो चेहरा दिखाई देता है। जहाँ पर एक ओर नरोत्तम है, जो सही और सत्य पत्रकारिता करने की कोशिश कर रहा है। वहीँ पर दूसरी ओर भवानी है जो पत्र का अधिक बिक्री कैसे और किस माध्यम से हो वैसी पत्रकारिता करता है। नाटक में समसामयिक परिस्थितियों का यथावत जिक्र है, जो कि आज के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक है।

दृश्य : तीन

"दा साहब की कोठी का भीतरी भाग। कमरा दो हिस्सों में बंटा है। एक ओर उनकी बैठक, जिसमें गद्दीदार कुसियां और सेंटर टेबिल। दूसरी ओर उनका घरेलू दफ़्तर, जिसमें दीवार के सहारे मोटा गद्दा बिछा है, गाव तकिये लगे हैं। एक ओर डेस्क पर करीने से लगी फाइलें, दूसरी ओर चौकी पर दो टेलीफ़ोन। पीछे रैंक पर पुस्तकें। दोनों कमरों में गांधी, नेहरू की बड़ी-बड़ी तसवीरें। दा साहब के दफ़्तर से जुड़ा उनके पी. ए. रत्ती का छोटा-सा केबिन टेबिल पर टाइप राइटर और फ़ोन बैठक का दरवाजा भीतर की ओर जाता है और दफ़्तर का बाहर की ओर दा साहब कुर्सी पर बैठे हुए गीता पढ़ रहे हैं। सौम्य शान्त चेहरा, गुरु-गम्भीर वाणी। कमरे के दूसरे सिरे पर जमना बहन बैठी कुछ सिलाई कर रही हैं।"[432] इसमें, दा साहब के घर और घरेलू दफ़्तर का दृश्य है। जहाँ लखन अख़बार में छपी बिसू की हत्या के बात से हैरान है। हरिजनों के सारे वोट विपक्षी पार्टी सुकुल बाबू को जाएंगे, इस बात से वह आतंकित है। चुनावी दाव-पेच और वोट कैसे लालच देकर लिया जाय इसकी योजना बनाई जाती है।

---

[431] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 18

[432] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 26

दृश्य : चार

"गाँव का मैदान। एक ओर भाषण देने के लिए मंच। दूसरी ओर खुले में बिन्दा नरोत्तम से बातें कर रहा है। कुछ दूरी पर महेश बैठा हुआ अखबार पढ़ रहा है। पीछे से नारों की आवाज आ रही है। रुक्मा एक टोकरी में लकड़ियाँ लिये हुए आती है। बिन्दा को किसी अजनबी आदमी से बातें करते हुए देखकर उसके चेहरे पर परेशानी का भाव उभर आता है पीछे से आती हुई आवाज।

कार्यकर्ता : भाइयो और बहनो, हरिजन भाइयों के हमदर्द दोस्त सुकुल बाबू आज शाम आ रहे हैं, आप लोगों की लड़ाई लड़ने। बिसू की मौत का...

सम्मिलित स्वर : जवाब चाहिए...जवाब चाहिए!

नारों की आवाज धीरे-धीरे दूर चली जाती है। नरोत्तम बिन्दा को कुछ समझाकर चला जाता है। रुक्मा टोकरी वहीं रखकर बिन्दा के पास जाती है।"[433] इस दृश्य में यह दर्शाया गया है कि, बिसेसर की मौत से आक्रोशित बिंदा उसके मौत का बदला लेने को तैयार रहता है। महेश और उसकी पत्नी रुकमा उसे इस पचड़े में न पड़ने की सलाह देते हैं। बिसेसर की मौत के कारण गाँव में सभी ग्रामीण नारे और जुलूस निकालकर आक्रोश दर्शाते हैं। वही, सुकुल बाबू आगामी चुनाव के मद्देनजर गाँव में जनसभा करते हैं। जनसभा का अंत सुकुल बाबू और दा साहब के लोगों के बीच मारपीट में होता है।

दृश्य : पाँच

"दा साहब का कमरा। पाण्डेय जी, दा साहब और अप्पा बैठे हैं।"[434] राजनीति में किस प्रकार प्रलोभन देकर रैलियों में भीड़ इकट्ठी की जाती है, इस दृश्य में यह तरकीब सुकुल बाबू अपनाते दिखाई देते हैं। इस रैली से दा साहब के पार्टी के लोग आगामी चुनाव के मद्देनजर थोड़े चिंतित हो जाते हैं। वैसे भी, लखन को सुकुल बाबू के खिलाफ खड़ा करने से दा साहब की पार्टी के लोग उनसे बेहद नाराज़ थे। दा साहब मामले की पुनः रिपोर्ट बनाने सक्सेना को कहते हैं। अप्पा साहब से पार्टी के सभी लोग सभी मतभेदों को भुलाकर पार्टी का साथ देने को कहते हैं।

[433] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 38
[434] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 45

दृश्य : छह

"मशाल का दफ़्तर। चपरासीनुमा लड़का फ़ाइलें जमा रहा है। कुछ दूर पर बिन्दा और महेश बैठे हैं। दत्ता बाबू हड़बड़ाये-से आते हैं। उनके चेहरे पर प्रसन्नता छलकी पड़ रही है।"[435] मशाल का दफ़्तर, जहाँ महेश और बिंदा नरोत्तम के कहने पर आगजनी के सबूत लेकर जाते हैं। दत्ता बाबू ढंग से और मामले की गंभीरता को न समझते हुए, बेहद लापरवाही के साथ पेश आते हैं। जिससे वो दोनों गुस्से में वापस चले जाते हैं। नरोत्तम इस बात से आगबबूला होकर मशाल छोड़ने की बात करता है।

दृश्य : सात

"पीछे से ग्रामोफ़ोन पर बहुत ही चलती हुई धुन का रिकार्ड बज रहा है। गाँव के पंचायतघर में सजावट हो रही है चारों ओर चहल-पहल। जोरावर हाथ में एक काराज लिये भीतरी कक्ष से प्रवेश करता है। सिगरेट का एक गहरा कश खींचकर चारों ओर देखता है। एक लड़की जमीन पर गिरे हुए फूल-पत्ते साफ़ कर रही है, दूसरा लड़का माला लटका रहा है। एकाध लड़का या लड़की काम करते हुए दिखाये जा सकते हैं माला हाथ में लिये एक लड़की 'राम-राम ठाकुर साहेब' कहती है।"[436] गाँव में दा साहब के जन संबोधन की तैयारी जोरों से की जा रही है, जिसमे जोरावर पूरी व्यवस्था का जायज़ा खुद बारीकी से ले रहा है लेकिन सारे किए पर दा साहब आकर पानी फेर देते हैं। वह सीधे बिसू के पिता से मिलने चले जाते हैं और जोरावर को पूछते तक नहीं। इस बात से जोरावर खुद को बहुत तिरस्कृत महसूस करता है। इसी बीच, काशी, जो कि सुकुल बाबु की विरोधी पार्टी का सदस्य है इस मौके का फायदा उठाता है और जोरावर को भड़का कर चुनाव में खड़े होने की राय देता है।

दृश्य : आठ

"गाँव का थाना मेज-कुर्सी की झाड़-पोंछ हो रही है। थानेदार चौकीदार को आदेश देता जा रहा है। थाने के बाहर मैदान में काफ़ी लोग जमा हैं। एक ओर महेश अकेला बैठा है। थोड़ी दूर पर कुछ गुंडा क़िस्म के लड़कों का एक दल बैठा है। दूसरी ओर हीरा को घेरकर कुछ लोग बैठे हैं।"[437] एस.पी. सक्सेना बिसू की मौत की पुनः तहकीकात करने गाँव आता है। पूरे गाँव में खलबली मची

[435] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 56
[436] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 62
[437] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 71

हुई है। सक्सेना एक-एक कर के सबकी गवाही लेता है। बिंदा ने साफ-साफ जोरावर का नाम बताता है और यह भी बताया कि आगजनी के पीछे भी उसी का हाथ था। इसका प्रमाण बिसू के पास था इसी कारण उसने अपने दो आदमियों के द्वारा बिसू की चाय में जहर मिलाकर उसकी हत्या करवा दी। पोस्टमार्टम की रिपोर्ट में भी ज़हर से मौत की बात कही गई है।

दृश्य : नौ

"गाँव का रेस्ट हाउस। रात का समय रेस्ट हाउस पर धीरे-धीरे प्रकाश आता है। सन्नाटे को चीरता हुआ दूर से कहीं चौकीदार का स्वर सुनायी देता है- जागते रहो...जागते रहो! एक ओर से बेतहाशा भागते हुए महेश का प्रवेश। दोड़ने के कारण उसकी सांस फूली हुई है, चेहरे पर आतंक और बदहवासी आते ही वह जोर-जोर से दरवाजा पीटता है...सक्सेना को पुकारता है- सर...एस.पी. साहब...मिस्टर सक्सेना...! कभी वह खिड़की खटखटाता है तो कभी दरवाजा। टॉर्च लिये हुए मोहन सिंह दरवाजा खोलता है। पीछे- पीछे सक्सेना है।"[438] अचानक सक्सेना के रेस्ट हाउस पर रात को महेश आता है। बिंदा की गवाही के कारण उसकी पिटाई की बात बताता है और जिन लड़कों ने बिसू को जहर दिया था, उनके बारे में भी बताता है। वह एस.पी. सक्सेना को उन दोनों के नाम बताता है और कहता है कि उन दोनों को पकड़ लीजिए वही एकमात्र सबूत हैं, नहीं तो बिंदा ही उसे मार डालेगा। दोनों लड़के टिटहरी गाँव के हैं। बिंदा भी वही गया है।

दृश्य : दस

"दा साहब की बैठक। दा साहब चाय पी रहे हैं। पाण्डेय जी पास में खड़े कुछ कह रहे हैं। भीतर से जमना बहन हड़बड़ाती हुई लखन के साथ आती है।"[439] सक्सेना की रिपोर्ट में जोरावर को साफ-साफ हत्यारा घोषित किया गया। जोरावर के चुनाव में खड़े होने से होने वाले नुकसान से दा साहब हैरान और परेशान हो जाते हैं। वे जोरावर को सक्सेना की रिपोर्ट से धमकाते हैं और वह चुनाव में खड़े होने के फैसले को बदल देता है। दा साहब एक और नई चाल चलते हैं तथा इस मामले में बिंदा को बिसू का हत्यारा बताते हैं। बिंदा पर यह आरोप लगा दिया जाता है कि बिंदा की पत्नी रुकमा के साथ बिसू का संबंध था, जिसे बिंदा बर्दाश्त नहीं कर पाया और चोरी-छुपे उसने इस कार्य को अंजाम दे दिया। दा साहब ने डी। आई। जी। को कहा कि सक्सेना को सस्पेंड करो और बिंदा को गिरफ्तार कर लो। इस दृश्य में, राजनीति में व्याप्त शक्ति का दुरुपयोग साफ दिखाई देता है।

---

[438] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 93

[439] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 96

दृश्य : ग्यारह

"गाँव में जोरावर के घर को चौपाल। तबला हारमोनियम वाले कोई बहुत हो चलती धुन बजा रहे हैं, जिस पर एक नाचने वाली नाच रही है। दो- तीन लोग मुग्ध भाव से तालियां बजा रहे हैं। एक किनारे लठेत भी बैठा है। जोरावर, पांडेजी और लखन का प्रवेश। लखन के चेहरे पर परेशानी और दुख का मिला-जुला भाव है।"[440] जोरावर के घर पर जश्न का माहौल है, जहाँ उसके बिसू की हत्या के मामले से साफ़ बाहर निकल जाने की खुशी में नाचने वाली को बुलाया गया है। दूसरी तरफ़, सिन्हा आई.जी. में प्रोमोशन और शादी की पच्चीसवीं सालगिरह की जश्न मना रहे है। थाने में पुलिस वाले बिंदा को मार-मारकर बिसू के खून का इकरार करवाने में लगे हैं। महाभोज नाटक में कभी दृश्य दा साहब के घर का दिखाया जाता है कभी थाने में पिटता बिंदा का। एक तरफ़ दा साहब बिंदा को फँसा कर दुनिया के सुख और आराम फरमा रहे हैं वहीं, बेकसूर बिंदा दर्द से कराह रहा है। फिर पुनः जोरावर के घर का दृश्य, सिन्हा की पार्टी का दृश्य और दा साहब के खाने पीने का दृश्य आता है। ये सभी महाभोज चलते रहते हैं। फिर थाने का दृश्य आता है जहाँ बिंदा कराह रहा होता है। महेश वहाँ जाकर भी कुछ नहीं कर पाता और नाटक इन संवादों के साथ समाप्त हो जाता है।

"महेश: आपको बिन्दा की चीखें नहीं सुनायी दे रहीं, सर?...जो कुछ हो रहा है वह बहुत तरीके से हो रहा है? यह तो सरासर जुल्म है, सर! अब इसे और बरदाश्त नहीं किया जा सकता। सक्सेना को ढकेल कर थाने के भीतर घुस जाता है। वहाँ बिन्दा जमीन पर पड़ा छटपटा रहा है। एकाएक जोरावर, सिन्हा तथा दा साहब वाले रंगस्थल प्रकाशित और सजीव हो उठते हैं। जोरावर के यहाँ उसी तरह नाच-गाना चल रहा है, सिन्हा के यहां हँसी-मजाक और पीना-पिलाना चल रहा है...दा साहब के यहाँ खाना खिलाना चल रहा है। कुछ क्षण तक महाभोज के ये दृश्य सक्रिय रहते हैं, फिर धीरे-धीरे तीनों स्थानों पर अंधेरा हो जाता है, केवल थाने पर हलका-सा प्रकाश रह जाता है। जमीन पर पड़ा हुआ बिन्दा छटपटा रहा है, कराह रहा है। गुस्से से तमतमाया हुआ महेश थाने से बाहर आता है, एक क्षण क्रोध की उसी मुद्रा में खड़ा रहता है, फिर चेहरे का भाव बदलकर सूत्रधार के रूप में आगे बढ़ता है। हाथ उठाकर कुछ कहने के लिए मुंह खोलता है लेकिन कुछ कह नहीं पाता मानो अब स्थिति कहने-सुनने के परे चली गयी हो। धीरे-धीरे पूरे मंच पर अन्धकार हो जाता है, लेकिन बिन्दा के कराहने की दर्द भरी आवाज फिर भी गूंजती रहती है!"[441] इन दृश्यों के साथ नाटक समाप्ति की घोषणा हो जाती है। नाटक और उपन्यास की यही विशेषता है कि यदि कोई

[440] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 105
[441] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 110-111

विवरण दिया हुआ है तो उसे निर्देशक और नाट्य रूपान्तरणकार कोष्ठक में देकर अथवा सूत्रधार के माध्यम से संप्रेषित कर देते हैं। इन दृश्यों के संयोजन और मंच पर हुई चहल पहल के कारण कथा की वस्तु और भी प्रभावी रूप से नज़र आती है। दोनों की विधा का सीधा सम्बन्ध मन्नू भंडारी से है इस कारण इसका नाटक भी उतना ही प्रभावी है जितना यह उपन्यास के रूप में है।

4.3.2 संवाद के स्तर पर

किसी भी कहानी अथवा कविता को सशक्त उसकी भाषा बनाती है। भाषा के ही माध्यम से रचना पाठक के अंतर में प्रवेश करती है। भाषा सहज, सुगम्य और सरल होती है तो वह और भी प्रभावी रूप में दिखाई पड़ती है। उपन्यास की भाषा शैली मुख्यतः बोलचाल की आम भाषा देसी है, जो एकदम सरल एवं सुबोध है। इस उपन्यास के माध्यम से मन्नू भंडारी ने यह कहने का प्रयास किया है कि आज की राजनीति चंद नेताओं के हाथ का खिलौना बन कर रह गई है। जिसके पास धन और बल का जोर है। वह ही राजनीति में अपना प्रभाव रखता है। दोनों ही विधा में मन्नू भंडारी ने भाषा और संवाद के माध्यम से इसे पाठकों से दर्शकों तक संप्रेषित किया है, इन्हीं भाषा को संवादों के माध्यम से नाट्य रूपांतरणकर्ता ने बखूबी संजोया है। महाभोज में संश्लिष्ट यथार्थ को रचना में बांधा गया है। "दत्ता बाबू दो लाइनें लिखते और चार काटते इस समय अपने लिखे को अपनी नजरों से नहीं वरन दा साहब की नजरों से देख कर तौर पर रख रहे थे दत्ता बाबू।"[442] इस तरह उनके चरित्र की विशेषता बताई गई है। महेश जैसे बुद्धिजीवी सदस्यता पर बिसू का कहना था "जहां दिनदहाड़े इतना जुलुम होता है वहां कोई कैसे अलग-थलग बैठकर खाली कागज पोतता रह सकता है।"[443] इस तरह के संवाद उपन्यास में कई बार आए हैं, उसे ही नाटक में ऐसे ही पिरोया गया है ताकि दोनों ही विधाओं में संवाद की दृष्टि से ज्यादा बदलाव नहीं दिखे। बौद्धिक वर्ग इतना संवेदनहीन हो जाता है कि समाज में दिल दहला देने वाली घटनाएं भी उसे परेशान नहीं करती- ओह हॉरिबल सिंपली इन्ह्यूमन। कब तक यह सब चलता रहेगा और पन्ना पलट गया। थोड़ी देर बाद गांव वालों की जिंदगी की तरह अखबार की रद्दी के ढेर में जा पड़ा। "जब से हरिजन टोला मा आगजनी भई ना सरकार तब से ऊ काहू से लड़बो नहीं करा बस भीतरे, भीतर कल्पत रहा। कबौ तो रात भर छटपट-छटपट करै सरकार।"[444] जिस तरह की ग्रामीण भाषा का प्रयोग किया गया है ठीक उसे ही संवाद का रूप दे दिया है। पात्रों की मनःस्थिति के चित्रण के समय भाषा अपने प्रतीकार्थ में भी सार्थक और सफल रही है। उदाहरण के लिए उपन्यास के अंत में एस.पी. सक्सेना के मनोद्वंद्व के चित्रण को देखा जा सकता है। आवेशात्मक प्रसंगों में भाषा भावों के अनुरूप ढलती गई है। मन्नू जी ने भाषा के जड़ और रुढ प्रतिमानों को तोड़कर सीधी-सरल भाषा का प्रयोग किया है। इसलिए नाटक की संप्रेषण - सामर्थ्य प्रभावशाली बन पड़ी है। कहावतों और मुहावरों के प्रयोग ने भाषा को जीवतंता प्रदान की है। उसमें सरल और संयुक्त, दोनों ही प्रकार के वाक्यो का प्रयोग हुआ, परंतु

[442] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक) पृष्ठ संख्या 16
[443] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक) पृष्ठ संख्या 41
[444] मन्नू भंडारी : महाभोज, पृष्ठ संख्या- 45

उनमें कहीं उबाऊपन या उलझाव नहीं है। वाक्य-रचना में व्याकरणिक नियमों को बदलकर शब्द-प्रयोग को अधिक प्रभावशाली बना दिया गया है।

"जो जिंदा है अभी जी नहीं सकते अपने इस देश में मार दिए जाते हैं कुत्ते की मौत जैसे विश्व को मार दिया सोच सोच कर ही दिमाग की नसें फटने लगती है।"[445] मिस्टर सक्सेना की समस्या मुक्तिबोध के अंधेरे में के नायक की तरह है एक ऐतिहासिक मौके पर सामाजिक दायित्व को व्यक्तिगत हित के लिए छोड़ देने के लिए खुद को बराबर दोषी ठहराते हैं।"[446] मिस्टर सक्सेना के भीतर संकल्प और विकल्पों, की स्थिति उपन्यास के अंत में समाप्त हो जाती है यहां आकर मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी का व्यक्तित्वांतरण हो गया है। "दूर्निवार सम्मोहन से भरी उस खतरनाक लपकती अग्नि -लीक के लिए जो विसू और बिंदा तक ही नहीं रुकी रहती।"[447] जनता और आज की राजनीति से जुड़े हुए सवाल से मनु भंडारी का साहित्यिक साक्षात्कार है। व्यवस्थागत खोट, राजनीतिक प्रपंच, मानवीय विडंबनाओं को उजागर किया है। अवशिष्ट सामंती सत्ता और राजसत्ता की गठजोड़ के आगे उनके कूटनीतिक चालों से अनभिज्ञ बिसू और बिंदा के दलित नेतृत्व में टिक पाने की क्षमता नहीं दिखती। इसलिए मुख्य प्रश्न है- दलितों का उत्थान कैसे हो? उन्हें उनका अधिकार कैसे मिले? क्या दशा है राजनेताओं द्वारा या राजनीति में उनकी सीधी भागीदारी द्वारा? यहां जनता और उसकी आकांक्षाएं एक लावारिस लाश की तरह है जिस पर राजनीतिज्ञों का स्वार्थ भोज का आनंद लेते हैं। मूल्यहीन राजनीति में सामान्य मानवीय जीवन त्रासद परिणति की ओर बढ़ता चला जाता है। यह उपन्यास अपराध के राजनीतिकरण और राजनीति के अपराधीकरण की कथा है।

यहां राजनेता, नौकरशाह, प्रेस और अपराधिक तत्वों का चतुष्कोणीय ढांचा उभरता है, जो प्रजातंत्र का हत्यारा बनने की क्षमता रखता है। उदाहरण के लिए बिसू की हत्या, वृंदा को फंसा कर गिरफ्तार करवाना, सक्सेना का निलंबित करवाया जाना। आजादी के सपनों की मृत्यु को बतलाता है महाभोज के नामकरण की प्रासंगिकता, खाने वाले गिद्धों से परिचय करवाता है। मृत्यु पर दिए जाने वाले भोज को पराया महाभोज कहा जाता है। रचना के अंत में अनेक संकेत दिए गए हैं- सिन्हा को पदोन्नति मिलने की खुशी में उनके घर दावत है, दत्ता बाबू सरकारी विज्ञापन का कॉन्ट्रैक्ट मिलने की खुशी में दावत दे रहे हैं, सुकुल बाबू सबसे बड़ी रैली होने का जश्न मना रहे हैं।

---

[445] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक) पृष्ठ संख्या 70

[446] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या- 85

[447] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या- 63

यह भोज स्वतंत्र भारत की तथाकथित आजादी लोकतांत्रिक व्यवस्था और नैतिकता की मौत का महाभोज है जो लोग इस नाटक में शामिल होने को तैयार नहीं है वह सब हाशिये पर फेंक दिए गए हैं। लावारिस लाश सिर्फ बिसू की नहीं है, बल्कि वह प्रतीकात्मक अर्थ में लोकतांत्रिक व्यवस्था की लाश है। लेखिका पूरे उपन्यास में गिद्धों को पहचानने का प्रयास कर रही है जिन्होंने लोकतंत्र को नोच कर खाया है। पूरे नाटक में भाषा और संवाद को लेकर कहीं कहीं परिवर्तन किए हैं लेकिन बहुत सारे संवाद को ज्यों के त्यों रख दिए हैं जिससे कहानी की मूल संवेदना का कुछ नुकसान नहीं हुआ है। उपन्यास और नाटक में मन्नू भंडारी ने सुकुल बाबू के कुछ संवाद है, जिन्हें कथा और नाट्य रूपान्तरण में प्रयोग किया गया है। यहाँ उन संवादों का उदाहरण दिया गया हैं जिन्हें कथा और नाटक में बराबर इस्तेमाल किया गया है।

"गांठ बांध लीजिए कि यह सरकार आप लोगों के लिए कुछ नहीं करने जा रही । उसे लगाव आप से नहीं अपनी कुर्सियां से हैं"[448]

"मुझे दा साहब से न्याय मांगना है। बातें और आश्वासन नहीं नौ-नौ आदमियों को मारने वाला मुजरिम चाहिए। बिसू को मारने वाला हत्यारा चाहिए।"[449]

"अब बचे हुए सारे वोट अपने पक्ष में करने पड़ेंगे तब बात बनेगी। पर इन नीची जात वालों का कुछ भरोसा नहीं।"[450]

ठीक ऐसे ही मुख्य पात्रों के संवादों का प्रयोग किया है दा साहब के कथन भी उदाहरण है जिन्हें उपन्यास और नाटक में दोनों ही में रखा गया है इन संवादों के साथ किसी तरह की छेड़ छाड़ नहीं की गई है। बिसू, बिन्दा, लोचन भैया और एस. पी. सक्सेना के माध्यम से भ्रष्ट और हथकंडेबाजी तथा गुंडागर्दी को संरक्षण प्रदान करने वाली राजनीति का पर्दाफाश करके वर्ग-चेतना का संदेश प्रस्तुत उपन्यास में है। उपन्यास के समर्पण रूप में अंकित पंक्तियाँ उसके उद्देश्य के विषय में अधिक कुछ कहने के लिए शेष नहीं रहने देती है। "मामले की पूरी खोजबीन कर पूता लगाने का काम पुलिस का है ऐसी घटनाएं घटी और पुलिस ठीक-ठाक पता न लगा मतलब क्या हुआ पुलिस का इसमें तो बेहतर है कि आप और हम इस्तीफा देकर बैठ जाए।"[451]

---

[448] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या- 14
[449] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या- 73
[450] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या- 51
[451] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या- 12

"आवेश राजनीति का दुश्मन है, राजनीति में विवेक चाहिए। विवेक और धीरज पद पर बैठोगे तो पद की जिम्मेदारी स्वयं सूब सिखा देगी। लखन अभी भी शांत नहीं हुआ और उसने कहा कि कहा रखा है पद वद। वह भूल जाइए अब सब विरोधी दल के नेता इस घटना को ऐसी बनाएंगे कि हम सब टापते ही रह जाएंगे।"[452] (जब दा साहब ने लखन से कहा)

महाभोज के संवादों में नाटकीयता भी पर्याप्त मात्रा में है। इस प्रकार के संवादों में लेखिका ने पात्रों की भाव-भंगिमा अथवा उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया आदि पर कोई टिप्पणी नहीं की, बल्कि उन्हें सीधे नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है।

"जिस दिन अपने लोगों का विश्वास खो दूंगा. उस दिन कुर्सी पर नहीं बैठूंगा। सब के लिए विश्वास ही टिकी हुई है मेरी कुर्सी। सबके सद्भाव पर ही भरी पर ही जिंदा हूं मैं अपनी आकांक्षाओं को भोडी लगाम दो लखन, वरना मेरे साथ चलना मुश्किल होगा।"[453]

"मेरे लिए राजनीति धर्म नीति कम नही। इस राह पर मेरे साथ चलना है तो गीता का उपदेश गांठ बांध लो। निष्टा से अपना कर्त्तव्य किये जाओ, फल पर दृष्टि ही मत रखो।"[454] (दा साहब ने लखन से कहा)

"क़ानून हाथ में लेते ही आदमी बेताज का बादशाह हो जाते है।"[455]

"आदमी जब अपनी सीमा और सामर्थ्य को भूलकर काम करने लगे तो समझ लो, पतन की दिशा में उसकी क़दम बढ़ गया।"[456]

"जिसके अकाउंट में कुछ हो ही नहीं, वही खुले हाथ सकता है इस प्रकार के ब्लैक चेक।"[457] (दा साहब ने विधायक राव और चौधरी से कहा)

नाटक अथवा कहानी में घटनाओं और संवाद का सम्बन्ध बहुत गहरा होता है जहाँ संवादों के माध्यम से दृश्यों का संयोजन होता है। कई बार संकलनत्रय भी इन्हीं संवादों से हो जाता है। नाटक में आए लखन के संवादों से यह दृश्य और भी प्रभावी हो जाता है।

---

[452] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 41
[453] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 51
[454] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 15
[455] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 42
[456] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 49
[457] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 29

"आदमी का दुःख जिस दिन पैसे से दूर होने लगेगा तो इंसानियत उठ जाएगी इस दुनिया में"[458]

"वह तो सजा पायेगा अपने जुर्म की पर उससे भी बड़ी सजा तो हम पाएंगे वह भी बिना कोई जुर्म किए।"[459]

बीच-बीच में विश्लेषणात्मक, अन्वेषणात्मक, पूर्वदीप और पाटकीय पद्धतियों का प्रयोग भी कुशलता के साथ किया गया है। पात्रों के अंतर्द्वद्व के चित्रण में विश्लेषणात्मक पद्धति का बहुत अच्छा उपयोग किया गया है। बिसू का संपूर्ण चरित्र पूर्वदीप्ति पद्धति में ही अंकित हुआ है। इनके संवादों को भी इन्हीं पात्रों के अनुरूप रचा गया है जिससे इनके संवाद और भी प्रभावशाली नज़र आते हैं।

"माथे पर कलंक और आत्मा पर बोझ सो अलग।"[460]

"जानते तो हैं लोचन भैया कितने दिनों से अपनी खिचड़ी अलग पूका रहे हैं, देखिए हम इस घटना से कैसे उफान आता हैं उनकी खिचड़ी में जोड़-तोड़ करके विश्वास का प्रस्ताव ले आएं तो आपको भी लेने देने पड़ जाएंगे।"[461]

"ठीक है सब के विश्वास पर आप अपनी कुर्सी जमाइए।"[462]

महाभोज में कथ्य की प्रस्तुति के लिए प्रधान रूप से वर्णनात्मक शिल्पविधि को अपनाया गया है। वर्णनात्मक शिल्प की दो विधियाँ होती हैं- पहली विधि में नाटककार कथा को कालक्रमानुसार प्रस्तुत करता है, जो पात्र जिस समय महत्वपूर्ण होता है, उसको केन्द्र में रखकर कथा की स्थापना की जाती है। दूसरी विधि में नाटक का कोई पात्र आरंभ से अंत तक सारी कथा को प्रस्तुत करता है और साथ ही पात्रों के क्रियाकलापों तथा चरित्रों के बारे में टिप्पणी करता चलता है। महाभोज में पहली विधि को अपनाया गया है। बिसू की मौत की घटना को केन्द्र में रखकर नाटक की मूल समस्या-भ्रष्ट राजनीति के परिणामस्वरूप जीवन-मूल्यों के विघटन की समस्या के सब पहलुओं को लेकर लेखिका ने सारा कथावृत्त प्रस्तुत किया है।

---

[458] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 48
[459] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 51
[460] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 59
[461] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 21
[462] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 74

रचना इस महाभोज से टकराती भी है। अंतिम पंक्तियों में यथार्थ को बदलने की छटपटाहट को भी व्यक्त किया है लेखिका ने। कई स्तरों पर प्रयोगशीलता दिखती है। जनजीवन के निकट कथ्य के लिए वैसे ही भाषा तद्भव व देशज शब्दों का प्रयोग ज्यादा। शब्दावली के चयन में पात्र की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि का ख्याल भाषा के कई तेवर दिखते हैं "दा साहब- दिस इज ए क्लियर केस ऑफ सुसाइड।"[463] जोरावर- "ये ससुरे सीना तान कर आंख गाड़कर बात करते हैं। हीरा कबौ कबौ तो रात भर छटपट -छटपट करे सरकार। कुर्सी और इंसानियत में बैर है। जब साहित्यकार खुद को सामाजिक विद्रूप को हटाने की स्थिति में नहीं पाता तो उसकी यही तिलमिलाहट पैने व्यंग को जन्म देती है। "दा साहेब का पूरा व्यक्तित्व ही जैसे भव्यता के प्रेम में बढ़ा हुआ है। गौर वर्ण, सुता हुआ शरीर। कहीं भी एक इंच फालतू चर्बी दिखाई नहीं देती शरीर पर, बोलते भी हैं तो आवाज में अधिकतर उतार-चढ़ाव नहीं आता।"[464] शुरुआत नाटक के सस्पेंस के साथ होता है। "लावारिस लाश को गिद्ध नोच नोच कर खा जाते हैं।"[465] नाटक में जिस प्रकार पात्रों की मुद्राओं का अंकन होता है वैसे ही यहां वर्णन भी होता है। "आवेश के मारे मुंह से धूप भी छोटी-छोटी फुकरे फुहारे छूटने लगी लखन के और सावला चेहरा एकदम बैगनी हो उठा।"[466] नाटक की कथा विभिन्न पात्रों के संघर्ष के माध्यम से विकसित होती है उसी प्रकार यहां भी अत्यंत सघन द्वंद योजना है। जैसे उपन्यास की कथा शुरू होती है वैसे ही नाटक के शुरू होते ही जिज्ञासापूर्ण संवाद होने शुरू हो जाते हैं।

बिंदा भी इस नाटक का महत्वपूर्ण पात्र है जिसके संवादों को भी नाट्य रूपान्तरण में जस का तस रखा हुआ है।

"एक व्यक्ति की मौत राजनीति के अखाड़े में खेलने वालों के लिए मानो गिद्धों के महाभोज का जुडालो लेकिन देखना बिसू की राजनीतिक के डाला, मुझे भी मार इच्छा कोई नहीं मार सकता।"[467]

"और जो जिंदा हैं वे अब जी नहीं सकते अपने इस देश में। मार दिए जाते हैं, कुत्ते की मौत।"[468]

---

[463] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 63
[464] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 19
[465] मन्नू भंडारी : महाभोज, पृष्ठ संख्या 16
[466] मन्नू भंडारी : महाभोज, पृष्ठ संख्या 27
[467] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 53
[468] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 68

"बेगुनाहों को पकड़ने का भी और गुनहगारों को छोड़ने का भी । यही तो न्याय है आप लोगों का।"[469]

इसके अतिरिक्त कई पात्रों के और भी कथनों को उपन्यास और नाटक में सामान रूप से रखा गया है "जो सड़क रोज एक गज बनती है और दो गज खुदती है उस पूरे होने पर क्या आप सचमुच विश्वास करते हैं? आप धर्म में रहना चाहते हैं, जरूर रहे पर अब यह दोहरी जिंदगी जीना मेरे बस का नही।"[470] (लोचन का कथन) "इन हरिजनों के बाप-दादे हमारे बाप-दादों के सामने सिर झुकाकर रहते थे। झुके-झुके पीठ कमान की तरह टेढ़ी हो जाती थी और ये ससुरे सीना तानकर आँख में आँख गोड़कर बात करते।"[471] (जोरावर का कथन)

महाभोज की संवाद-योजन कथा को गति देने की दृष्टि से पर्याप्त सफल रही है। नाटक में विस्तार पाने वाली घटनाओं की सूचना लखन और दा साहब के प्रारंभिक संवादों में ही निहित है। मशाल की भूमिका भी दा साहब और दत्ताबाबू के संवादों के साथ निश्चित हो जाती है। ऐसे ही पात्रों के कथनों से नाटक आगे बढ़ता गया है

[469] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 71

[470] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 37

[471] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 42

4.3.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

नाटक की तब्दिली में उपन्यास के मंचन में अभिनेता शुरू से अंत तक वह एक अभिनेता ही रहता है, उसे कोई चरित्र बनने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती है। यदि उसे चरित्र की भूमिका में उतरना भी पड़ता है तो वहाँ भी उसे चरित्र नहीं बनना बल्कि बनकर दर्शकों को दिखाना पड़ता है। साधारण शब्दों में कहें तो वह स्वयं में पूरी तरह कोई चरित्र नहीं हो जाता है, बल्कि उस चरित्र को केवल दिखाता है। उसकी इस प्रक्रिया के लिए कहानी के विवरणात्मक अंशों को तो वह सूत्रधार बनकर सुनाते-सुनाते मंच पर प्रस्तुत भी करता है। उपन्यास के मंच पर जाने की पूरी प्रक्रिया में से गुज़रकर अभिनेता बाहर आया, तब उसे पता चला कि यह प्रक्रिया एक नाटक के तय किए हुए ढाँचे में अभिनय करते जाने से कितनी अलग और ताज़गी भरी है। इस नाटक में इसी तरह की चीज़ देखने को मिलती है, जैसे कहानी एक घटना का ताना बाना होता है अर्थात जिन्दगी के एक पहलू को दिखाया जाता है लेकिन उपन्यास पूरे जीवन का चित्रण होता है। एक विधा के दूसरी विधा में जाने से उसके पात्रों में अभिनय के गुण निर्देशक और नाट्य रूपान्तरणकार की सृजनात्मकता की देन है। "अभिनेता को चरित्र नहीं बनना है, इसलिए बहुत से लोग यह समझ लेते हैं कि कहानी को रंगमंच पर ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करने से ज़्यादा आसान काम और कोई नहीं है। न कोई दूसरा आलेख तैयार करने की ज़रूरत, न मंच पर कोई ताम-झाम की अपेक्षा; बस कुछ अभिनेताओं की दरकार, उनके हाथ में कहानी का आलेख और वे मंच पर उसका पाठ करना आरंभ कर देते हैं वे भूल जाते हैं कि कहानी के मंचन में आलेख का पाठ नहीं किया जाना है, वरन् अभिनेता के माध्यम से उसका अभिनटन होना है, उस पाठ को दृश्यों और बिंबों में परिवर्तित किया जाना है और यह सबकुछ कहानी की अपनी शर्तों पर होना है अर्थात् कहानी को कहानी बने रहना है और नाट्य-रूपांतरण के बिना ही दर्शकों के लिए एक रंगमंचीय अनुभव में बदल जाना है।"[472] इस पूरी प्रक्रिया से जुड़ी जितनी भी संभावनाएँ और चुनौतियाँ हो सकती हैं, उन सबका साक्षात्कार अकेले अभिनेता को ही करना है।

बिसेसर उर्फ बिसू- नाटक का केंद्रीय चरित्र, हरिजनों का हमदर्द, जो हरिजन बस्ती में आगजनी के सबूत इकट्ठा कर लेने के कारण मार दिया जाता है। बिसू उस तबके का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी स्तिति समाज में सबसे दयनीय है और जिसकी आवाज को इस लोकतंत्र में बड़ी आसानी से दबा दिया जाता है। जिसके पक्ष में न तो सत्ता है और न ही कोई कानून व्यवस्था और न्याय व्यवस्था।

[472] सम्पादक : महेश आनंद, कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 147

दा साहब- मुख्यमंत्री, शहर के सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति, दा साहब राजनीति के माहिर खिलाड़ी हैं। उनके शासन में दलितों की बस्ती में आग लगा दी जाती है तथा बिसू की हत्या हो जाती है। यह खबर पूरे शहर में आग की तरह फैल जाती है और विरोधी पक्ष भी इस घटना से लाभ लेने की फिराक में लग जाता है। राजनीति के सभी समीकरण उनके खिलाफ हैं किंतु वे एक दाँव खेलकर सभी समीकरणों को अपने पक्ष में कर लेते हैं। वे मुख्यमंत्री होते हुए भी, दलितों की बस्ती में जाते हैं और बिसू के पिता के प्रति तथा समस्त दलित बस्ती के प्रति अपनी सहानुभूति जताते हैं।

बिंदा- बिसू का अभिन्न मित्र, यह बिसू की हत्या का बदला लेना चाहता है। यह पूरे सरोहा में अकेला आदमी है जो सत्ता के खिलाफ खड़ा है। आखिर, उसे इसकी कीमत भी चुकानी पड़ती है। राजनीतिक षड्यंत्र द्वारा उसे ही बिसू की हत्या के लिए अपराधी घोषित कर दिया जाता है।

सुकुल बाबू- भूतपूर्व मुख्यमंत्री, विरोधी पार्टी के नेता और सरोहा गांव की विधानसभा सीट से प्रत्याशी, ये बिसू की हत्या की घटना का इस्तेमाल अपने राजनीतिक स्वार्थों को पूरा करने के लिए करते हैं। इन्हें पुनः सत्ता में वापसी की उम्मीद दिखाई देने लगती है। ये दलितों के प्रति अपनी हमदर्दी दर्शाते हैं। ये भूल गए हैं कि इनके शासन में उन पर कम अत्याचार नहीं हुए थे।

सक्सेना- पुलिस अधीक्षक हैं। जो पूरे नाटक में कहीं न कहीं नाटक की मुख्य भूमिका में आ ही जाते हैं।

लखनसिंह- दा साहब का विश्वास-पात्र, चुनाव में सरोहा गांव से प्रत्याशी जो कि सुकुल बाबू के मुकाबले खड़ा किया जाता है।

जोरावर- सरोहा का दबंग, दा साहब के इशारों पर काम करने वाला गुंडा, इसी के द्वारा दलित बस्ती में आगजनी तथा बिसू की हत्या करवाई जाती है । इस नाटक में उपन्यास के लगभग सभी पात्रों को उकेरा गया है तथा भीड़ जुटाने के लिए नए पात्रों को भी स्थान दिया गया है। यह नाटक 11 दृश्यों में विभाजित है।

हिंदी रंगमंच के सन्दर्भ में एक बात जो साफ़-साफ़ दिखाई पड़ती है वो यह कि वह ज़्यादातर समकालीन सवालों और चुनौतियों से आंख चुराने में ही अपनी भलाई देखता है। "नाटक यदि समकालीन सवालों को उठता भी है तो उसकी पृष्ठभूमि या पात्र अमूमन इतिहास के पन्नों से निकलके सामने आते हैं और आम बोल-चाल की भाषा के बजाय हिंदी की पंडिताई भाषा और परिवेश से सराबोर होते हैं। नकली एतिहासिकता का चोला धारण किए और दादा की बात पोते से करने वाले ऐसे नाटक आधुनिक नाटक कहे जाते हैं और समकालीन भारतीय हिंदी रंगमंच और

रंगकर्मी समकालीन सवालों और चरित्रों का सीधा-सीधा साक्षात्कार करने से परहेज़ करते हैं। यह सवाल एकबार आधुनिक भारतीय नाटक पढानेवाले से पूछा तो टका सा जवाब मिला कि नाटक एक कला है, कोई अखबार की कतरन नहीं कि घटना हुई नहीं कि उसे मंच पर प्रस्तुत कर दिया जाय।"[473] इस जवाब से संतुष्ट होना संभव नहीं। यह निश्चित रूप से सवाल का सही जवाब नहीं है। यदि होता तो विश्व के प्रसिद्द नोबेल पुरस्कार विजेता नाटककार दारियो फ़ो यह न कहते- "एक रंगमंचीय, एक साहित्यिक, एक कलात्मक अभिव्यक्ति जो अपने समय के लिए नहीं बोलती, उसकी कोई प्रासंगिकता नहीं है।"[474]

हिंदी रंगमंच सदा ही समकालीन सवालों से कतराता रहता है, ऐसा कहना भी निश्चित रूप से एक अतिशयोक्ति ही होगी। यह समस्या ज़्यादातर तथाकथित मुख्यधारा, महानगरीय और अकादमिक रंगमंच वाले स्थानों की है। "कारकों की पड़ताल की जाय तो इसका एक मुख्य कारक जो समझ में आता है वो यह कि वैचारिक शून्यता से सराबोर हिंदी रंगमंच कुछ अपवादों को छोड़कर अमूमन आज भी एक परजीवी के रूप में ही जीवित और सामाजिक सरोकार से लगभग दूर है। वहीं लोग भी यही मानते हैं या उन्हें यह मनवा दिया गया है कि नाटक, फिल्म, संगीत, नृत्य आदि का कार्य मनोरंजन मात्र है। कलावाद का भी एक समृद्ध और स्वयम्भू इतिहास रहा है, तो इस इतिहास के मोह से निकलना भी उतना आसान भी नहीं। समकालीन सवालों से सीधे साक्षात्कार का अर्थ है जलते अंगारों पर हाथ रखना,अपने लिए और अपनों के लिए चुनौतियों और जिम्मेदारियों का दामन थामना। हो सकता है इन सबके लिए रंगकर्मी और समाज तैयार ना हो। किन्तु सभी ऐसे नहीं हैं।"[475] रंगकर्मियों का एक वर्ग रंगमंच को केवल एक कला मात्र नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन का सांस्कृतिक हथियार भी मानता है। यह बात अलग है कि इन रंगकर्मियों की स्थिति भी आज निराशाजनक ही है। फिर भी मंच पर समय-समय पर समकालीन सवाल पूरी कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ प्रकट हुए और यह परम्परा आज भी कमोवेश बनी हुई है। इन अभिव्यक्तियों को रंगकर्मियों, दर्शकों और नाट्य-समीक्षकों का अपार स्नेह भी हासिल हुआ। आज़ादी के जश्न का भोज खत्म हो चुका था। गांधीवाद 'अनुकरणीय कम, पूजनीय ज़्यादा' की उपाधि प्राप्त कर चुका था, साम्यवादी गलियारे या तो कांग्रेस के दरवाज़े पर जाकर खत्म हो जा रहे थे या फिर बारूद के गोदाम में, देश आपातकाल का स्वाद चख रहा था। कई गणमान्य चेहरों से नकाब उतर चुके थे और सम्पूर्ण क्रान्ति के नाम पर एक नए किस्म की अराजकता ने अपना पासा फेंक दिया था। मतलब कि महाभोज की पृष्ठभूमि तैयार थी।

---

[473] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक), पृष्ठ संख्या 121

[474] मन्नू भंडारी : महाभोज, पृष्ठ संख्या 123

[475] सम्पादक : महेश आनंद, कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 149

महाभोज नामक यह उपन्यास नाटक का रूप धरकर बेहद चर्चित, सुदृढ़ और सार्थक हुआ। सरोहा नामक गांव की पृष्ठभूमि और बिसू की हत्या की बिसात पर बिछी इस उपन्यास के नाटक की कथा में वर्णित दा साहब, जमना बहन, जोरावर, बिंदा, रूक्मा, महेश, थानेदार, दत्ता बाबू, सुकुल बाबू, नरोत्तम, सक्सेना, हीरा आदि चरित्र हिंदी रंगमंच के अग्रणी चरित्रों में से एक हैं, जिन्हें अभिनीत करते हुए कोई भी अभिनेता गौरवान्वित महसूस करता है। 'नई रंगचेतना और हिंदी नाटककार' नामक पुस्तक में रंगचिन्तक जयदेव तनेजा लिखते हैं- "समकालीन जीवन और परिवेश को विविध स्तरों पर प्रामाणिक और निर्धारित करनेवाले सत्ता व्यवस्था के ऊपर से भोले एवं मासूम किन्तु भीतर से क्रूर और घिनौने चेहरे को निर्ममता से बेनकाब करने वाला सुप्रसिद्ध कथाकार मन्नू भंडारी का स्थिति प्रधान राजनैतिक उपन्यास महाभोज नाट्य रूपांतरित एवं अभिमंचित होकर अभूतपूर्व चर्चा का विषय बना।"[476] लेखिका मूलतः नाटककार नहीं हैं। नाट्यालेख नाट्य-प्रस्तुति का मूल-आधार है और कोई भी नाट्य रचना दर्शकों के समक्ष मंच पर प्रदर्शित होकर ही अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त होती है। इसलिए नए नाट्यालेख को एक कुशल और मंचीय आकार बनने के लिए निर्देशक, अभिनेता व अन्य लोगों का सार्थक सहयोग एक अनिवार्य शर्त भी बन जाती है। यह सहयोग निश्चित ही मन्नू भंडारी को मिला और परिणामस्वरूप भारतीय नाट्य साहित्य को महाभोज नामक एक अनुपम और निहायत ही ज़रूरी रचना का जन्म हुआ। जिसे देखना, पढ़ना, सुनना केवल रोचक और कलात्मक ही नहीं बल्कि सत्य से साक्षात्कार और एक तकलीफ़देह अनुभूतिभी है। इस अनुभूति के बीज भारतीय व्यवस्था के अंदर ही प्रमुखता से मौजूद हैं और आज तो और भी बेशर्मी की हद तक मुखर हो गए हैं। अभिनेता विनीत कुमार कहते हैं- "अब तो दा साहब नामक चरित्र भारतीय राजनीति में खत्म से ही हो गए हैं, अब जिधर देखिए उधर जोरावर राज कर रहे हैं।"[477] महाभोज का बीज सूत्र 1977 में घटित बिहार के पटना जिले का बेलछी नरसंहार है। इस नरसंहार में दर्जन भर से ज़्यादा लोगों की निर्मम हत्या की गई थी। कुछ लोगों को ज़िंदा तक जला दिया गया था। यह अंग्रेजों से आज़ादी के बाद दूसरा सबसे बड़ा नरसंहार था। यह वही काल था जब इंदिरा गांधी और कांग्रेस ने पराजय झेली थी और बिहार में 1974 के आंदोलन के फलस्वरूप जनता पार्टी की सरकार बनी थी।

लेखिका ने बेलछी की इस घटना की रिपोर्ट किसी अख़बार में पढ़ी और महाभोज नामक उपन्यास के बीज उनके मन में अंकुरित होने लगे। वैसे, बेलछी की इस घटना के कई संस्करण हैं। सम्पूर्ण क्रांति के समर्थक इसे जनता पार्टी की सरकार को बदनाम करने की साजिश के तौर पर

[476] मन्नू भंडारी : महाभोज, पृष्ठ संख्या- 39
[477] मन्नू भंडारी : महाभोज, पृष्ठ संख्या- 78

देखते हैं, तो जानकार बताते हैं कि "यह दरअसल राजनीतिक शह प्राप्त दो आपराधिक गुटों की आपसी रंजिश का नतीज़ा था जिसे एक राजनीतिक स्वार्थ के तहत दलित संहार के रूप में भी प्रचारित किया गया। वहीं यह घटना इंदिरा गांधी की अति-नाटकीय बेलछी यात्रा के लिए भी इतिहास में दर्ज़ है, जहाँ श्रीमती गांधी हाथी पर सवार होकर नरसंहार पीडितों के दुःख दर्द बांटने गई थी। कुल मिलाकर इतना तो कहा जा सकता है कि यह भारत की आजादी के सपनों से मोहभंग, कानून और न्याय व्यवस्था के पतन, सत्ता और व्यवस्था का अपराधीकरण और लोकतंत्र के चौथे खम्भे के शर्मनाक तरीके से चरमराने का काल था।"[478] व्यवस्था क्रूरता और अमानवीयता का एक से एक उदाहरण प्रस्तुत कर रही थी और जनता केवल वोटर मात्र के रूप में परिणित हो जाने को अभिशप्त थी। यही बात मन्नू भंडारी के उपन्यास और नाटक के मूल में है। एक ऐसे समय में महाभोज नामक इस कृति का आना अपने आपमें एक सुखद घटना थी। ब्रेख्त के शब्दों को थोड़ा फेरबदल करके कहा जाय तो यह अंधेरे समय में, अंधेरे के बारे में गीत था। मन्नू भंडारी की यह कृति भारतीय रंगमंच में एक एतिहासिक महत्व की परिघटना है लेकिन दुखद सच यह है कि नाटक में वर्णित स्थितियां-परिस्थितियां सुधरने के बजाय कहने, सुनने, देखने, समझने की तमाम सीमाओं को पार कर शर्मनाक रूप से क्रूर से क्रूरतम रूप धारण कर आज ज़रूरत से ज़्यादा खतरनाक और अराजक हो गई हैं। "यह ऐसा समय है जब देशभक्ति की परिभाषाएँ बदल दी गई हैं। एक से एक आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक घोटालों और नैतिक पतनों पर फ़ाइल के फ़ाइल भरे पड़े हैं। मूर्खता और उदंडता ने हमारी मौन स्वीकृति के फलस्वरूप क्रूरतापूर्वक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया है और मानवता और लोकतंत्र बिसू की लाश के रूप में परिणत होने को अभिशप्त बना दी गई हैं।"[479] ऐसे समय में महाभोज जैसी कृति का महत्व और ज़्यादा भी ज़्यादा बढ़ जाता है। 1967 के बाद से भारतीय राजनीति में तेजी से स्थितियां बदलती है।

इस उपन्यास के नाटक बनने की प्रक्रिया में मन्नू भंडारी कहती हैं कि "रूप में महाभोज न चरित्र-प्रधान उपन्यास है, न समस्या-प्रधान। वैसे कथानकों में आसानी यह होती है कि सारी चीज को समेटकर चरित्र या समस्या के आसपास केन्द्रित कर दिया जाता है। रचना तब चुस्त भी लगती है और नुकीली भी। महाभोज आज के राजनैतिक माहौल को उजागर करने वाला स्थिति-प्रधान उपन्यास है। आज राजनीति को स्वप्नों, आदर्शों और मूल्यों वाला व्यक्ति नहीं चलाता, बल्कि राजनीति खुद अपने चरित्र गढ़ती चलती है, ऐसे चरित्र जो अपने भीतरी निर्णय, विवेक या साहस से नहीं चलते, वरन स्थितियों के दबाव से बनते-बिगड़ते हैं। उनका महत्व इसमें निर्जीव मोहरों से

[478] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 41
[479] मन्नू भंडारी : महाभोज, (नाटक) पृष्ठ संख्या 41

अधिक नहीं। हर प्यादे की लड़ाई फ़र्जी बनने की है और लड़ाई की इस बिसात ने समाज के हर वर्ग को धीरे-धीरे अपने चंगुल में कस लिया है।"[480] व्यापक पृष्ठभूमि और चरित्रों की भीड़ वाले इस कथानक को केवल दो-ढाई घंटे की सीमित अवधि में समेटकर नीटक के रूप में प्रस्तुत करने के लिए उपन्यास को बेहद निर्ममता से काटना, बदलना या नये ढंग से लिखना मेरी मजबूरी थी। "इस प्रयास में मुझे बराबर सहयोग मिला नाटक की निर्देशिका श्रीमती अमाल अलाना और प्रेम मटियानी से उनके साथ निरन्तर विचार- विमर्श करके जो आलेख तैयार किया, रिहर्सल के दौरान उसमें भी अनेक सम्पादन-संशाधन करने पड़े। मंच के लिए आलेख के अंतिम रूप तक आने में अमाल अलाना और प्रेम मटियानी के सक्रिय सहयोग के अतिरिक्त विजय कश्यप और डॉ० शैल कुमारी का योगदान भी उल्लेखनीय है। शायद दुनिया के हर नाटक को काग़ज़ से मंच तक पहुँचने में इसी प्रकार के सहयोगी प्रयासों और सुझावों से गुजरना पड़ता है।"[481] लाश, गिद्ध और महाभोग का प्रतीकात्मक प्रयोग प्रस्तुत नाटक की शैली की विशेषता है। असंगठित और चेतनाशून्य गरीब जनता ही वह लाश है, जिसको भ्रष्ट राजनेता और उनके आश्रम में पलने वाली सामंती गुंडे और रिश्वतखोर सरकारी अधिकारी रूप गिद्ध नोंच-नोंचकर खा जाते हैं और महाभोज का उत्सव मनाते हैं। महाभोग नाटक का लहजा प्रमुख रूप से व्यंग्यात्मक है। अनेक स्थलों पर आवेश शैली का प्रयोग भी हुआ है। लोचन भैया और बिन्दा के कथा-प्रसंगों में इस शैली का प्रयोग भली प्रकार देखा जा सकता है। महाभोग के भाषा प्रयोग में भी व्यंग्य का पुट अधिक है। दा साहब, सुकुल बाबू और दत्ता चरित्र-चित्रण के लिए इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग अधिक हुआ है। प्रस्तुत उपन्यास की भाषा की चित्र - विधायिनी शक्ति भी अद्भुत है। गाँव के थाने का वर्णन, सुकुल बाबू की सभा की तैयारियों के वर्णन तथा पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं के चित्रण में भाषा की इरा क्षगता को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इनमें अभिनेता और उसकी अभिव्यक्ति का रूप निखर कर आया है।

[480] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक) पृष्ठ संख्या 9

[481] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक) पृष्ठ संख्या 10

4.3.4 नाट्य प्रस्तुतियों का विश्लेषण

नाट्य रूप में महाभोज का प्रकाशन सन् 1982 में हुआ था तथा उसी वर्ष इसका पहला मंचन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली के रंगमंडल द्वारा किया गया। नटरंग में 1984 की नाट्य गतिविधियों का परिचय देते हुए महेश आनंद लिखते हैं- "अमाल अल्लाना द्वारा निर्देशित महाभोज को लम्बे चौड़े दृश्यबंध पर खेला गया और देवेन्द्र राज द्वारा परिकल्पित कहानियाँ बिना किसी ताम-झाम के नंगे मंच पर। नाटकीय अनुभव की दृष्टि से देवेन्द्र की कहानियाँ किसी भी यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण लगती थी।"[482] मन्नू भंडारी लिखित महाभोज पहले उपन्यास के रूप में छपा तत्पश्चात नाटक के रूप में आया। यह हिंदी साहित्य की शायद एकमात्र कृति है जो उपन्यास और नाटक दोनों ही रूपों में मंच पर सफलतापूर्वक मंचित हुआ। प्रसिद्ध नाट्य निर्देशक और कहानी का रंगमंच नामक विधा के प्रणेता देवेन्द्र राज अंकुर ने इसे अपने नाट्यदल के साथ उपन्यास के रूप में मंचित किया तो अमाल अल्लाना के निर्देशन में पहली बार इसे नाटक के रूप में खेला गया। तत्पश्चात देश के कई प्रसिद्ध नाट्य निर्देशकों ने भी इसे नाटक के रूप में मंचित किया। लगभग तीस प्रमुख पात्रों और ग्यारह दृश्यों में समाहित इस नाटक को हिंदी प्रदेश में शायद ही ऐसा कोई नाट्य केंद्र हो जहां मंचन न हुआ हो।

इस नाटक की प्रथम प्रस्तुति राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंग-मंडल द्वार (मार्च-अप्रैल, 1982) में हुई। निर्देशन श्रीमती अमाल अलाना मंच -सज्जा श्री निसार अलाना, दा साहब का किरदार मनोहर सिंह ने निभाया। वहीं नाटक में सुकुल बाबू व बिसू (मृत) अनिल कपूर, अप्पा साहब हेमन्त मिश्र ,पांडेजी, वागीश कुमार सिंह, लखन प्रमोद माउथो, जमना बहन सुरेखा सीकरी, सक्सेना, एस. पी. अनंग देसाई सिन्हा, डी. आई. जी. व फ़ोटोग्राफ़र राजू, दत्ता बाबू जी. पी. नामदेव, भवानी प्रेम मटियानी, नरोत्तम व मोहनसिंह रवि झाँकल, रत्ती जी. एस. बेदी, महेश एवं सूत्रधार विजय कश्यप, बिन्दा वसन्त जोसलकर, हीरा रघुवीर यादव, थानेदार युवराज शर्मा, जोरावर राजेश विवेक, काशी विनोद वर्मा, रुक्मा उत्तरा बावरकर, लठैत इक़बाल मेंहदी, जोगेसर साहू अमिताभ श्रीवास्तव, बिसू की माँ व जोरावर की लड़की नूतन सूर्य, श्रीमती सिन्हा उषा बैनर्जी, डी. आई. जी. की पार्टी के मेहमान विनोद वर्मा, निरुपमा वर्मा, रश्मि शर्मा, अनिल कपूर, अमिताभ श्रीवास्तव, रघुवीर यादव, जी. एस. बेदी, डॉली मनुवालिया, आशा देवी और गाँव वाले रवि झांकल, रमेश अथवाल, ओमप्रकाश, भरतसिंह, बालू पाटिल, मास्टर फिलिप, राधेश्याम, नूतन सूर्य, डॉली बहलू वालिया, उषा बैनर्जी, आशादेवी, निरुपमा, प्रेम मटियानी, तेजपाल, प्रमोद राजदान, बच्चनसिंह दिलबरसिंह, बाल- सिंह, अयोध्याप्रसाद, विवमसाद, मुफ खान, राजेन्द्र सिंह

[482] नटरंग : 1984 अशोक वाजपेयी और रश्मि वायपेयी, खंड 22, अंक 89-90, जुलाई दिसम्बर, पृष्ठ संख्या 43

मनोहर पिताले। कलाकारों ने मंचन का मुख्य भार उठाया। इन कलाकारों में से आज कई ऐसे भी कलाकार हैं जिन्हें फ़िल्मी दुनिया ने अपना लिया और कुछ ऐसे भी किरदार हैं जो आज भी रंगमंच पर कार्यरत हैं।

इस नाटक के मंचन के संदर्भ में मन्नू भंडारी का मानना है कि "महाभोज पहले उपन्यास और फिर नाटक के रूप में लिखना मेरे लिए बिलकुल दो भिन्न रचनात्मक अनुभवों से गुजरना रहा है। स्वाभाविक भी है, क्योंकि हर विधा की अपनी अलग जरूरतें होती हैं, अलग शर्तें। उपन्यास लिखते समय उसकी स्थितियों, समस्याओं और पात्रों के साथ ही पाठक का अस्तित्व भी इस तरह घुल-मिल गया था कि अलग से कभी उसका बोध ही नहीं हुआ। लेकिन नाटक को तो दर्शक से ही आरम्भ करना पड़ा, और उसकी निरन्तर उपस्थिति लेखन को कहीं-न-कहीं नियंत्रित और निर्धारित भी करती रही।"[483] उपन्यास के पूरे विस्तार को कसी हुई और प्रभावपूर्ण दृश्य-योजना में बदलना, अपने को अनुपस्थित करके केवल संवादों और क्रियाओं या मुद्राओं के माध्यम से सारे पात्रों और स्थितियों को उजागर करना, सारी प्रस्तुति को सीमित अवधि और रंग-स्थलों में केन्द्रित कर देना-ये और ऐसी ही जाने कितनी अपेक्षाएँ और सीमाएँ थीं जिनसे बँधकर मुझे अपनी बात कहनी थी, कथ्य के प्रभाव को पूरी तरह सुरक्षित रखते हुए। "इस प्रकार नाटक की अपेक्षाओं और अपने मन्तव्य के बीच निरन्तर सन्तुलन-बिन्दु खोजते जाना मेरे उपन्यासकार के लिए निहायत ही नया अनुभव था। निश्चय ही इस प्रक्रिया ने मेरी समझ और दृष्टि को अधिक व्यापक और समृद्ध किया।"[484] जब यह मंचित हो गया तो इस पर नाट्य रूपान्तरणकार की प्रक्रिया भी ध्यातव्य है "और आख़िर महाभोज मंचित हुआ। अगर पत्र-पत्रिकाओं, नाट्य-समीक्षकों और सबसे अधिक दर्शकों की प्रतिक्रियाओं पर विश्वास किया जाये तो यह नाट्य-जगत की एक अभूतपूर्व घटना है। आलेख, निर्देशन, मंच सज्जा, प्रकाश- योजना और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंग-मंडल के सधे और मंजे हुए कलाकारों का अभिनय-सभी बातों का कुछ ऐसा संतुलित तालमेल बैठ गया था कि नाटक के प्रभाव ने एक बार तो दर्शकों को स्तब्ध कर दिया।"[485] कथ्य की प्रासंगिकता को देखते हुए यह विश्वास तो हम सभी को था कि दर्शक सहज ही इसके सहभागी हो जाएँगे, लेकिन नाटक इस हद तक उनको आन्दोलित और उद्वेलित कर देगा, इसकी कल्पना नहीं की थी। वस्तुतः इस सफलता का श्रेय इसकी प्रस्तुति को ही है लेकिन नाटक की यह सफलता आज मेरे लिए एक सीमा भी बन गयी है। "सच पूछिए तो अमाल ने जिस लगन, परिश्रम और व्यक्तिगत लगाव के साथ इसे मंच-रूप दिया, उसके बाद कुछ भी कहना मेरे लिए शायद उचित नहीं था। हाँ, एक असहमति जो

[483] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक) पृष्ठ संख्या 9
[484] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक) पृष्ठ संख्या 10
[485] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक) पृष्ठ संख्या 10

मुझे प्रारम्भ में भी थी, आज भी है। पूरे नाटक में सूत्रधार की कोई संगति और सार्थकता मैं नहीं समझ पायी। अमाल का तर्क था कि नाटक में केन्द्रीय पात्र की अनुपस्थिति में सारी स्थितियों को एक तटस्थ दर्शक की तरह देखकर समेटने के लिए उन्हें सूत्रधार की आवश्यकता महसूस हुई और यह काम उन्होंने मध्यवर्गीय प्रबुद्ध शोध छात्र महेश से लिया, ताकि पूरे नाटक को एक एंगिल दिया जा सके। मेरे विचार से इस प्रकार के केन्द्रीय पात्र - विहीन और स्थिति प्रधान नाटकों में दर्शक स्वयं सीधे स्थितियों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उनका सहभागी हो जाता है और स्वयं ही केन्द्रीय पात्र की भूमिका निभाने लगता है।"[486] इसके अतिरिक्त नाटक की समाप्ति पर सूत्रधार का शब्दहीन संवाद इस बात को तो स्पष्ट कर देता है कि स्थितियाँ अब कहने-सुनने से परे चली गयी हैं, लेकिन इससे उपन्यास में विद्रोह और संघर्ष की जिस निरन्तरता की ओर संकेत है, वह कहीं-न-कहीं धुंधला होकर टूटता-सा लगता है। बेहतर तो यह होता कि महेश किसी प्रकार बिन्दा के संघर्ष को आगे बढ़ाने वाली कड़ी के रूप में उभरकर आता और इस विश्वास की पुष्टि करता कि विद्रोह की आग दबायी तो जा सकती है, पूरी तरह कुचली नहीं जा सकती है।

बिहार की राजधानी और हिंदी रंगमंच का एक प्रमुख केन्द्र पटना में इसका एक मंचन सन 1984 में इप्टा के बैनर तले परवेज़ अख्तर के निर्देशन में भारतीय नृत्य कला मंदिर के मुक्ताकाशी मंच पर हुआ था। जिसका इतिहास आज भी बिहार रंगमंच पन्नों और दर्शकों की स्मृतियों में अंकित है। उस प्रस्तुति में दा साहब की भूमिका निभाने वाले चर्चित रंगमंच और फिल्म अभिनेता विनीत कुमार बताते हैं "वह हिंदी रंगमंच के महानगरीय संस्करण का स्वर्णिम काल था। देश की राजधानी समेत कई अन्य शहरों में रंगमंच अपने जूनून के घोड़े पर सवार हो पूरी रफ़्तार से दौड़ रहा था। पटना के अलग अलग नाट्यदलों के लगभग 80 अभिनेता इस नाटक में कार्यरत थे। भारतीय नृत्य कला मंदिर के मुक्ताकाश मंच पर विशाल सेट लगाया गया था। वैसे इस नाटक के हर चरित्र का अपना एक अलग ही महत्व और सुर है। दा साहेब की भूमिका में यह चरित्र कठोर से कठोरतम बात भी कोमल स्वर में बोलता है, केवल एक स्थान पर इसका स्वर तीव्र या शुद्ध लगता है। इस नाटक के एक साथ कुल पांच या छः मंचन हुए और सबके सब शो हाउसफुल रहे। जैसे पूरा शहर ही नाटक देखने उमड़ पड़ा हो।"[487] इन सब मंचनों में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यास जैसे बड़े कथानक को मंच पर देखना दर्शकों के लिए किसी फिल्म से कम नहीं है। इसके मंचन के बाद दिल्ली, मुंबई, पटना, बनारस, इलाहबाद आदि स्थानों पर भी इसके मंचन हुए हैं। अलग अलग संस्थाओं ने अलग अलग प्रयोग किए हैं।

[486] मन्नू भंडारी : महाभोज (नाटक) पृष्ठ संख्या 11

[487] मन्नू भंडारी : महाभोज, पृष्ठ संख्या 45

4.4 हजारीप्रसाद द्विवेदी और बाणभट्ट की आत्मकथा

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित पहला ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका प्रकाशन 1946 में हुआ था। यह हर्षकालीन सभ्यता एवं उसकी संस्कृति का एक जीता जागता दस्तावेज है। इसमें इतिहास और कल्पना का बहुत ही सुंदर समन्वय दिखाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दोनों एक दूसरे के पूरक हो। इसका संबंध संस्कृत के प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट से है। इसमें सातवीं शताब्दी के हर्ष युग के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति के ऐतिहासिक तत्वों पर प्रकाश डाला गया है। इस कथा में प्रमुख पात्र हैं- बाणभट्ट, भट्टिनी तथा निपुणिका, राज्यश्री, कुमार वर्धन, सुचरिता। यह सभी पात्र कथानक के विकास में अहम भूमिका निभाते हुए जान पड़ते हैं। इसके साथ ही इसमें काल्पनिक पात्र भी हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन कवि बाणभट्ट के जीवन को बहुत ही कलात्मकता से गूँथ कर एक ऐसी कथाभूमि निर्मित की है जो जीवन सत्यों से रसमय साक्षात्कार कराती है। "द्विवेदी जी ने इस उपन्यास की रचना मध्यकालीन इतिहास के एक छोटे से कालखंड को आधार बनाकर की है। इस उपन्यास में सातवीं शताब्दी का इतिहास और समाज का जीवंत चित्रण प्रस्तुत हुआ है।"[488] इस उपन्यास की केंद्रीय समस्या बाणकालीन राजवंशीय इतिहास को प्रस्तुत करने की नहीं है, बल्कि मुख्य समस्या है भट्टिनी की रक्षा करना। जो भट्टिनी नारी की गरिमा, उदारता, समस्त भारतीयता और अपने समाज की आस्था का प्रतीक है। नारी सम्मान की रक्षा का भाव इस उपन्यास का मूल केंद्र है। "हजारी प्रसाद द्विवेदी में कारयित्री प्रतिभा के कारण ही उच्च कोटि के भावयित्री प्रतिभा भी है।"[489] यहां द्विवेदी जी के संबंध में डॉ. हरदयाल का यह कथन बिल्कुल उचित जान पड़ता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ऐतिहासिक उपन्यास के दायित्व को निबाहने में पूर्णता समर्थ है।"[490] कथाकार जिस समय यह उपन्यास लिख रहे थे उस समय उपनिवेशवाद से भारत को हर तरह से मुक्त करने की कोशिश की जा रही थी। द्विवेदी जी द्वारा उपन्यास के भारतीय रूप की तलाश उपनिवेशवाद से मुक्ति की एक कोशिश ही है। उपन्यास के नाम से ही ज्ञात है कि वह बाणभट्ट की आत्मकथा है पर वास्तव में बाणभट्ट की कथा नहीं है, उसके समय की आत्मकथा है। बाणभट्ट आत्मरति प्रधान पात्रों की तरह अपने में डूबकर केवल अपने समय के तथ्यों की या अपनी आंतरिक दुनिया की कहानी नहीं कहता है। वह तो अपने समय की और उसके माध्यम से शोषक समाज से संघर्ष करते अभिशप्त लोगों की कहानी कहता है हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने

[488] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा का नाट्य रूपान्तरण, एक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 12

[489] डॉ. नगेन्द्र/ डॉ हरदयाल : हिंदी साहित्य का इतिहास पृष्ठ संख्या 359

[490] डॉ. नगेन्द्र/ डॉ हरदयाल : हिंदी साहित्य का इतिहास पृष्ठ संख्या 360

उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा की ऐतिहासिकता के बारे में लिखा है कि "इतिहास की दृष्टि से छोटी-मोटी असंगतियां चाहे निकल आए पर अधिकांश में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री से कथा की सामग्री का विरोध नहीं है। इस उपन्यास में पात्रों के माध्यम से भी ऐतिहासिकता को जाना और समझा जा सकता है, जैसे- कृष्णवर्धन, ग्रह वर्मा, राज्यश्री, महाराजा हर्षवर्धन, धावक जैसे कुछ ऐसे पात्र हैं, जिन्हें इतिहास के क्षेत्र में जाना जाता है। इस उपन्यास का नायक भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति है।"[491] इस उपन्यास में सभी स्थान ऐतिहासिक है पर घटनाएं काल्पनिक हैं। नाटक में दर्शाए गए संवाद और उपन्यास को लिखने के लिए लेखक को स्वयं बाणभट्ट बनना पड़ा है। इसमें लेखक को बेजोड़ सफलता मिली है।

यहां द्विवेदी जी ने इतिहास से प्राप्त हर्षकालीन स्थूल आंकड़ों को आधार न बना कर तत्कालीन साहित्य में चित्रित सत्यों को आधार बनाया है। इन्हीं सामग्री को मिलाकर द्विवेदी जी ने एक सुंदर कहानी प्रस्तुत की है। इसी विषय में बच्चन सिंह का कहना है कि "पूर्व कालीन उत्तरभारत का इससे ज्यादा प्रामाणिक इतिहास दूसरा नहीं है।"[492] यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा हुआ ऐतिहासिक रोमांच है। इसमें नारी को वर्ण विषय बनाया गया है। तत्कालीन आर्यावर्त की प्रभुतावादी सामंती व्यवस्था में नारी की स्थिति भोग्या से अधिक और कुछ भी नहीं थी। उसे एक वस्तु के रूप में ही देखा जाता था। निपुणिका पर समाज के अनैतिक संबंधों का आरोप लगा और भट्टिनी देवी होकर भी अंत:पुर में आबद्ध है। वहीं सुचरिता गृहस्थ जीवन का त्याग कर वैराग्य धारण करना चाहती है।

इस ऐतिहासिक उपन्यास को लिखने का उद्देश्य द्विवेदी जी का सिर्फ बाणभट्ट के जीवन का विवरण देना नहीं था बल्कि बाणकालीन भारत, गुप्त काल, कलात्मक और धार्मिक इतिहास से लोगों को रूबरू कराना भी था। "द्वितीय उच्छवास में महावराह की मूर्ति का परिचय देने के बहाने द्विवेदी जी ने मध्यकालीन मूर्तिकला का विवेचन किया है तो सातवें उच्छवास में चित्रकला, नृत्यकला, शिल्पकला, स्थापत्य कला का वर्णन हुआ है। आठवें उच्छवास में काव्य-विमर्श को देखा जा सकता है। इतिहास की दृष्टि से सामंतों, राजाओं के अंत:पुरों का वर्णन भी है।"[493] आगे मध्यकालीन धर्म-साधना पर भी इस उपन्यास में प्रकाश डाला गया है। ब्राम्हण और बौद्ध धर्म का विवेचन भी हुआ है तथा वैष्णव,तांत्रिक, यथास्थान शैव, वाममार्ग आदि जन समूहों की साधना पद्धतियों और उनके मध्य संघर्षों का परिचय भी हमें बखूबी देखने को मिलता है। एक कथानक को

[491] हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या 12

[492] बच्चन सिंह- हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृष्ठ संख्या 253

[493] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा का नाट्य रूपान्तरण, एक अध्ययन पृष्ठ संख्या 16

विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करना, सुनना या देखना यह भी मानव समूह की एक विशेषता रही है। "यही नहीं बल्कि कलाओं की विभिन्न शैलियों ने पौराणिक कथाओं को अपनाया है, जैसे पौराणिक कथाओं पर आधारित शिल्प, चित्र, स्थापत्य आदि भी दिखाई देते हैं। इस तरह से एक कथानक को विभिन्न विधाओं में प्रस्तुत करने और देखने सुनने की प्रवृत्ती भी मनुष्य की आदिम प्रवृत्ती है।"[494] कहानी, नाटक या अन्य प्रस्तुतीपरक कथाओं के संदर्भ में देखे तो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आदिमकाल से लेकर यह कला एक साथ ही निर्माण हुई है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध नाट्यकर्मी देवेंद्रराज अंकुर का यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। "सीधे-सीधे देखें तो प्रदर्शनकारी कलाओं की जो पहली शुरुआत है, वह कहानी सुनने से ही हुई होगी कि एक व्यक्ति बैठकर सुना रहा है- चाहे पढ़ते हुए या बिना पढ़ते हुए और बाकी सारे सुनने वाले उस कहानी का जो वस्तुजगत है, उसे अपनी कल्पना के स्तर पर अनुभूत कर रहें हैं। फिर एक अलग विकास कि जब एक पाठक छपी हुई कहानी को स्वयं पढ़ रहा है, तब भी पढ़ते वक्त उसमें एक पूरा दृश्यजगत वह अनुभव कर रहा है।"[495] इस उपन्यास की सबसे खास बात इसकी संस्कृतनिष्ठ भाषा है। कथानक में, पात्रों में या संवादों में नाट्यलेखक को जो स्वतंत्रता होती है वह मूल कथानक को नाटक के माध्यम से सफलता से अभिव्यक्त करने तक की आज़ादी है। जैसे उसके कथानक में उसकी कथा को घटाना या बढ़ाना हो, मूल कथानक को क्षति भी न पहुँचे तथा इतना उसमें जोड़ना आदि। नाट्यरूपांतरण करने वाला लेखक चित्रित पात्रों को भी घटा अथवा बढ़ा सकता है यहाँ तक कि मूल संवेदना को बिना ठेस पहुंचाए संवादों की भी रचना कर सकता है लेकिन उसका भी उद्देश्य रंगमंच पर कथानक को ले जाना ही होता है। रंगमंच की सीमाओं को भी ध्यान में रख कर मंचन किया जा सकता है।

बाणभट्ट की आत्मकथा के सृजन के पीछे रचनकार का उद्देश्य अतीत-वैभव की भव्यता का चित्र प्रस्तुत करना नहीं था और न ही ऐतिहासिक घटनाओं एवं तिथियों को ब्योरेवार प्रस्तुत करना था। "इस रचना का उद्देश्य था ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन युगीन जीवन के आंतरिक यथार्थ को उद्घाटित करना। इसलिए ऐतिहासिक तथ्य और सांस्कृतिक तत्वों का आधार लेकर तत्कालीन युग-सत्य की खोज की गयी है। द्विवेदी जी ने एक युग-विशेष की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं की छानबीन कर समकालीन संदर्भो में उनकी संगति बिठायी है।"[496] इसके द्वारा मानवीय मूल्यों की चिंता, मानवता की स्थापना, नारी-स्वतंत्रता, जातिविहीन समाज की स्थापना के द्वारा स्वाधीन भारत की कल्पना को साकार करने का

[494] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा का नाट्य रूपान्तरण, एक अध्ययन पृष्ठ संख्या 19

[495] देवेन्द्र राज अंकुर : कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 52

[496] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा का नाट्य रूपान्तरण, एक अध्ययन पृष्ठ संख्या 29

प्रयास किया गया है। अत: यह उपन्यास जितना ऐतिहासिक है उतना समसामयिक भी। यह लेखक की गहरी सूझ-बूझ, यथार्थवादी दृष्टिकोण और सर्जनात्मक विशिष्टता का ही प्रमाण है कि अतीतकालीन समस्याएँ अपने समय के संदर्भ में जितनी सार्थक है, आज के संदर्भ में उतनी ही संगत भी। अपने समय की स्थितियों के प्रति सजगता और कलात्मक चेतना के कारण द्विवेदी जी समय के अंतर को सहजता से दूर करते हैं। "ऐतिहासिक कथ्य को कल्पना का आधार देकर मानवीय संवेदनाओं, जटील संबंधों को, सच्चे प्रेम और चिंताओं को वास्तविक धरातल से जोड़ देते हैं। इससे उपन्यास में जितनी गहराई, व्यापकता है उतनी ही विश्वसनीयता भी शामिल है। महाराज हषर्वर्धन के राज्यकाल में जो विदेशी आक्रमण हुए तथा उनके परिणामस्वरूप जनता को जो असहनीय कष्ट और अमानवीय यातनाएँ भोगनी पड़ी इसका चित्रण योग्य बिम्ब योजना के माध्यम से किया गया है।"[497] इस भयावह स्थिति से देश को उबारने के लिए ही उपन्यासकार द्विवेदीजी ऐतिहासिक दृष्टि व्यापक, मानवीय धरातल से उठती है, वे ऐतिहासिक बोध की सार्थकता को मानवीय उपयोगिता में मानते हैं। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में इतिहास की वैज्ञानिक दृष्टि को कैसे उपयोग में लाया जा सकता है यह पहली बार 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के द्वारा स्पष्ट हो जाता है। इतिहास के विकास और पतन में जनसाधारण की भूमिका का महत्व जन संघर्ष और विकास की कहानी व्यक्ति के स्थान पर समूह का महत्व और जनसामान्य की सोच का क्या प्रभाव होता यह पहली बार द्विवेदीजी की इतिहास दृष्टि में परिलक्षित हुआ है।

[497] डॉ. जयदेव तनेजा : हिंदी रंगकर्म, दशा और दिशा, पृष्ठ संख्या 74

4.4.1 कथानक के स्तर पर

किसी भी विधा को दूसरी विधा में परिवर्तन करने के कोई विशेष नियम नहीं हैं। कथा साहित्य से सम्बंधित विधाओं के केंद्र में कथानक मूल होता है। "साधारणत: किसी कहानी या उपन्यास में चित्रित किया जाने वाला घटना क्रम कथानक होता है। उपन्यासकार अपनी शैली से उन घटनाओं में बहुत सी रोचकता भर देता है। ऐसा करने के लिए वह संवादों का प्रयोग करता है यही नहीं कभी-कभी उपन्यासकार अपनी संवाद और वर्णन शैली से सामान्य घटना को विशिष्ट बना देते हैं। पात्र की मनोदशा का विश्लेषण करते है, जब यही दृश्य मंच पर मंचित किए जाते हैं तब उस स्थिति में नाटककार इन घटनाओं को अभिनेता के माध्यम से मंच पर ले जाता है।"[498] नाट्यरुपांतरण के संदर्भ में डॉ. जयदेव तनेजा कहते है कि "उपन्यास में आए वर्णन, विवरण और विश्लेषणों के लंबे-लंबे अंशों को रुपांतरकार एवं निर्देशक नेपथ्य उद्घोषणा, सूत्रधार की अवधारणा अथवा किसी नए या विशिष्ट पात्र के स्थूल माध्यम से प्रस्तुत करें या प्रतीक अथवा अन्य किसी सूक्ष्म संकेत साधन से व्यक्त करें- यह उसकी मौलिक प्रतिभा दृष्टी, सूझ-बूझ और समझ पर निर्भर करता है।"[499] नाटक में भी कथानक होता है और वहाँ पर भी कथानक की वही व्याख्या है। वहाँ पर भी नाटककार को घटनाओं को क्रम से रखना पड़ता है। घटनाओं की कालक्रम टूट गया तो कथानक टूट जाता है। नाट्य लेखक सब कुछ संवादों के माध्यम से कहता है। जहाँ उसे घटनाएँ जोड़नी है वहाँ सूत्रधार या गीत का प्रयोग वह करता है इस से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ उपन्यास में कथानक और उपन्यास लेखक की शैली महत्वपूर्ण आधारतत्व है वहीं नाटक में नाट्यलेखक की संवाद लेखन कुशलता और कथानक ये मुख्य आधार तत्व है।

बाणभट्ट की आत्मकथा हिंदी के श्रेठ उपन्यासों की में से एक है। उपन्यास का नाट्यरुपांतरण प्रसिद्द नाट्यकर्मी एवं नाट्यलेखक अमिताभ श्रीवास्तव ने किया है। इस नाटक का मंचन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में हुआ है। कथानक किसी भी कथात्मक शैली का आधार होता है, इसीलिए उसमें परिवर्तन बहुत सोचने के बाद संभव हो पाता है। बाणभट्ट की आत्मकथा उपन्यास का आरंभ आत्मनिवेदन से होता है। नाटक की भी शुरुआत आत्मनिवेदन से ही हुई है। "उपन्यास बीस उच्छवासों में लिखा गया हैं, नाटक दस दृश्यों में लिखा गया है। सारे दृश्य एक ही अंक में लिखे गए है। नाटक के पहले दृश्य का कथाक्रम नाटककार ने बिल्कुल वही रखा है, जो उपन्यास में है।"[500] नाटक में तीन उच्छवासों तक का कथानक अभिव्यक्त किया गया है। तीसरे उच्छवास के

---

[498] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 29

[499] डॉ. जयदेव तनेजा : समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 167

[500] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 30

घटनाक्रम में थोड़ा परिवर्तन किया है। तृतीय उच्छवास में निपुणिका और बाण बड़ी तैयारी से छोटे राजकूल की ओर जाते है। "बाण स्त्री वेश धारण करता है। निपुणिका और बाण छोटे राजकुल के अंत:पुर की ओर निकलते है। नाटक में यहीं पर घोषणा दिखाई होती है कि छोटे महाराज ने घोषणा की है कि जो परिचारिका नई बहू को प्रमद-वन उत्सव में ले जाएगी, उसे वह अपना रत्नहार उपहार स्वरुप देंगे।"[501] जब कि उपन्यास में अंत:पुर में जाने के और भट्टिनी से मिलने के बाद यह घोषणा होती है। इस क्रम परिवर्तन से नाटक के कथानक में कोई फर्क नहीं पड़ता और मूल उपन्यास में जो कथानक दिया गया है, उसे भी कोई क्षति नहीं पहुंचती। नाटककार नाटक में प्रभाव निर्माण करने के लिए यह घटनाओं का परिवर्तन करते है। बाणभट्ट जब स्त्री वेश में अन्त:पुर में प्रवेश करता है तब भट्टिनी के गरिमामय सौंदर्य का वर्णन द्विवेदी जी कुछ इस तरह से करते है। "...शरदकालीन मेघपुंज में आन्तरित चन्द्रकला हो। उसकी धवलकान्ति दर्शक के नयन मार्ग से हृदय में प्रविष्ट होकर समस्त कलुष को ध्वलित कर देती थी मानो स्वर्मन्दाकिनी की धवल धारा समस्त कलुष कालिमा का क्षालन कर रही हो।"[502] नाटककार ने इसी वर्णन को 'अत्यंत रुपवती युवती बैठी पूजा कर रही है' इतना संवाद के माध्यम से कहा है। जबकि उपन्यास में इसका चित्रण लम्बे लम्बे पैराग्राफ में दिया हुआ है।

नाटक के दूसरे दृश्य और उपन्यास के चतुर्थ उच्छवास में निपुणिका अपनी स्वामिनी को छिपाने के लिए एक चंडी मन्दिर का जीर्ण गृह ढूंढती है। रूपांतरणकर्ता ने बाणभट्ट (सूत्रधार) के माध्यम से उस जीर्ण गृह के आंगन में दीवारों पर लाल रंग से चित्रित विभिन्न प्रकार के चिह्न होने का संवाद लिखा दिया और स्पष्ट किया है "कि उस घर में किस समय भैरव-भैरवी साधना किया करते होंगे उनका बड़ा ही व्यंग्यपूर्व परिचय एक वृद्ध ब्राह्मण के माध्यम से हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दिया है। इसका विस्तृत उल्लेख उपन्यास में है लेकिन नाटक से नदारद है। सुगतभद्र कुमार कृष्णवर्धन को निर्देश देते हैं कि इस समस्या का सही समाधान खोजें।"[503] उपन्यास में वे कुमार को चन्द्रदिधिती को बचाकर राजा तुवरमिलिन्द से मित्रता स्थापित करने की भी सलाह देते है। नाटक में वे राजकुमारी को गौतम बुद्ध तथा महावराह की मूर्तियाँ उपहार देते है, जो उपन्यास में इस स्थान पर न होकर आगे है। समय बचाने के लिए नाटककार ने यह परिवर्तन किया हो। कथानक में इस तरह के परिवर्तन से उपन्यास की मूल संवेदना को कोई हानि नहीं हुई है।

---

[501] अमिताभ श्रीवास्तव- : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 146

[502] हजारीप्रसाद द्विवेदी- बाणभट्ट की आत्मकथा पृष्ठ संख्या 37

[503] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 31

यहाँ एक और बात ध्यातव्य है कि रूपांतरणकर्ता ने इन कथा को और प्रभावी दिखने के लिए दो बाणभट्टों जैसे पात्रों का प्रयोग नाटक में किया है। एक बाणभट्ट अभिनय करता है और दूसरा सूत्रधार बन कर दर्शकों को आगे आने वाले दृश्यों की जानकारी देता है। "बाणभट्ट नाटक में सूत्रधार की तरह उस चण्डी मंदिर के जीर्ण गृह का परिचय देता है। वहीं उपन्यास में बाण उसका विस्तार से निरिक्षण तथा मनुष्य के मोह ग्रस्त होने की भी चर्चा करता है।"[504] यह संकेत और अधिक स्पष्ट हो जाता है, जब बाणभट्ट बाबा से पूछता है, 'क्या ऐसा होने वाला है?' अघोर भैरव के अनुसार शास्त्र धोखा देते है। भीतर के सत्य को दबाने को कहते है। बाबा बाणभट्ट को उपदेश देते है कि किसी से भी न डरना। "किसी से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।"[505] उपन्यास में इस स्थान पर तांत्रिक साधना भी दिखाई है, जो नाटक में लाना असंभव है। तंत्र विधा का नाट्य शास्त्रों में निषेध है जिस कारण इसका मंचन मंच पर संभव नहीं हुआ। उपन्यास में दिखाए तांत्रिक आचार को देखते-देखते बाणभट्ट निर्जीव सा होकर लुढ़क जाता है। जब उसकी चेतना लौट आती है तो महामाया उसे अपने गोद में लेकर बैठी हुई दिखाई देती है। समयाभाव और रंगमंचीय मर्यादाओं के कारण नाट्य रुपांतरकार को यह अंश नाटक में से छोड़ना पड़ा है। "उपन्यास के नवम उच्छवास में यह चर्चा होती है। जहाँ छोटे राजकूल को प्रश्रय देना वह राजा हर्षवर्धन की कूटनीति मानता है। वह बाण को उसके पराक्रम का इतिहास बताकर आश्वस्त करना चाहता है। सूत्रधार बाणभट्ट के माध्यम से यह वर्णन नाटक में नाटककार ने बड़े प्रभावी ढंग से किया है। भट्टिनी का नदी में कूद पड़ना सुत्रधार बाणभट्ट के माध्यम से समझता है।"[506] उपन्यास में यह वर्णन विस्तार से है। उपन्यास के दशम उच्छवास का कोई भी अंश नाटक में स्थान नहीं पा सका है। नाटक में यह संकेत संक्षेप में सुत्रधार बाणभट्ट करता है। इस दृश्य को मंचित करना रंगमंच के संसाधनों के साथ थोड़ा जटिल कार्य रहा यही कारण है कि सूत्रधार को इसका वर्णन करना पड़ा।

उपन्यास के एकादश उच्छवास में जिसमें भट्टिनी और महामाया की नारी के अस्तित्व को लेकर चर्चा है, इस उच्छवास और दृश्य में सम्मोहन से कलांत भट्ट और निपुणिका के स्वास्थ्य सुधार के संकेत और भवूशर्मा के पत्र का वर्णन है। "बाणभट्ट जैसे ही सम्मोहन से संभल रहा है, वह यह पाता है कि भट्टिनी उसके लिए रो रही है। उपन्यास में यह चित्रण बड़ा ही सरस है। स्थानाभाव के कारण नाटक में यह मंचित नहीं हो पाया है। नाटक के कथानक में महामाया और भट्ट के बीच उनका स्वास्थ्य संबंधी संवाद होता है। उपन्यास में यह घटना बाद में है जब कि भट्टिनी और

[504] अमिताभ श्रीवास्तव- बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग), पृष्ठ संख्या 153

[505] अमिताभ श्रीवास्तव- बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग), पृष्ठ संख्या 162

[506] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 39

महामाया का संवाद पहले है।"[507] यहाँ दृश्य और कथा में थोड़ा बहुत आगे पीछे किया गया है किन्तु इससे कथानक में अधिक परिवर्तन नहीं आता है। उपन्यास के द्वादश उच्छवास की कथा संकेत मात्र से ही नाटक में स्थान पा सकी है। इस उच्छवास में भट्टिनी के मन की कई परतें खुलती हुई दिखाई देती है। "इस उच्छवास की सबसे बड़ी बात है कि बाणभट्ट जो स्वयं अपना परिचय उपन्यास के आरंभ में एक आवारा के रुप में देता है, यहाँ वह अपने को कहीं बंधा हुआ पाता है। वह अपने आप को पराधीन महसूस करता है। वह महसूस करता है कि वह भट्टिनी और निपुणिका की रक्षा के लिए आया था, पर अब वह परम आश्रित हो गया है।"[508] उपन्यास और नाटक में अंतर देखा गया है। सुचरिता इस कथानक का एक बहुत ही महत्वपूर्ण उपकथानक है।

बाण के काशी में कथावाचक होने के समय एक वृद्धा और उसकी बहू का जिक्र कर छोड़ दिया। फिर वही कथानक अघोर भैरव और विरतिवज्र के प्रसंग को लेकर फिर छेडा, उस वृद्धा का जिक्र किया और छोड़ दिया। "उपन्यास के त्रयोदश उच्छवास में बाणभट्ट राजा हर्षवर्धन के दरबार में पहुँचता है। उपन्यास में बाणभट्ट के दरबार में जाने, वहाँ चर्चा करने तथा उसके घोर अपमान का विस्तार से वर्णन है। नाटक में बाण के अपमान को लेकर ही सातवें दृश्य का आरंभ होता है। बाण-2, बाण-1 से पूछता है कि क्या महाराज हर्षवर्धन ने उसका सम्मान किया।"[509] वास्तव में बाणभट्ट को राजा हर्षदेव ने 'परम लम्पट व्यक्ति' कह कर घोर अपमान किया। बाणभट्ट उपन्यास में तो अपने अस्तित्व का कुछ स्पष्टीकरण देता है, नाटक में वह बाण-2 से कहता भी है कि "अपने प्राणों की कोई परवाह नहीं थी लेकिन फिर भी ऐसा उत्तर नहीं दे सका, जो महाराजाधिराज को यह अनुभव करा देता कि महाराज होने मात्र से उन्हें किसी के विषय में अनर्गल विचार रखने का अधिकार नहीं हो जाता है।"[510] सुचरिता की इस कथा को नाटक में स्थान नहीं मिला है। बाणभट्ट जब राजसभा में था तब तक का कथानक नाटक में आया है। उपन्यास के कथानक में सुचरिता की कथा एक महत्वपूर्ण कथा है। नाटक के सातवें दृश्य तक यह कथानक अभिव्यक्त हुआ है। कुमार कृष्णवर्धन के घर जाकर बाण को इन सारी बातों का पता चलता है कि कुमार क्या चाहते है। नाटक में अमिताभ जी ने यह दृश्य बडे कौशल से चित्रित किया है। "नाटक में कुमार कृष्णवर्धन बाण से राजनीति के सर्प से भी अधिक कुटिल, असिधारा से भी अधिक दुर्गम होने की जो बात करते है, वह उपन्यास में बहुत पहले का दृश्य है। बाण तब स्वयं को कवि बताकर राजनीति, कूटनीति से

---

[507] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 162

[508] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 45

[509] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 49

[510] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 179

कुछ भी लेना देना न होने की बात करता है, तो कुमार स्पष्ट करते है कि राजनीति से सबको लेना देना होता है।"[511] कुमार द्वारा बाण को जो पत्र दिए गए उसे करने में फिर एक बार झूठ का आश्रय लेने की स्वीकृती देते है। इस सब कुछ का कारण है। कारण यही कि उस काल के आर्यावर्त में भट्टिनी राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण साधन बनते जा रही है। कुमार इस का कारण स्पष्ट ही बता देते है कि "भेडियों से भी हिंसक और चींटियो से भी अधिक हूण दस्यु सीमा पर फिर एकत्रित हो रहे है। केवल हमारा कान्यकुब्ज का साम्राज्य ही आज इस विनाश से आर्यावर्त को बचा सकता है। परंतु एक बार यदि गिरिवर्त्म लाँघकर मैदान में आ गए फिर उन्हें रोकना असम्भव हो जाएगा। इस विषम संकट से मुक्ति की एकमात्र आशा है, भट्टिनी के पिता-तुवरमिलिन्द कुमार कृष्णवर्धन इसी समस्या को लेकर चिंतित है और इसी लिए बाणभट्ट की मदत चाहते है।"[512] बाणभट्ट भट्टिनी का अभिभावक है भट्टिनी के पिता देवपुत्र तुवरमिलिन्द हतोत्साहित होकर बैठे हैं, उनका मन राज काज में नहीं लगता क्योंकि उनकी पुत्री चन्द्रदिधिती अर्थात भट्टिनी का अपहरण हुआ है। कुमार चाहते है कि बाण भट्टिनी की स्थाण्वीश्वर के महाराजा से नाराजी दूर करें। भट्टिनी आकर स्थाण्वीश्वर का आतिथ्य ग्रहण करें और तुवरमिलिन्द को यह संदेशा भिजवा दिया जाए ताकि दस्युओं के विरुद्ध लडने के तैयारी वे करें। "कुमार बाण को यह अधिकार देते है कि वह जैसे भी हों भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर लाए, उसकी जो भी ईच्छा हो सम्राट के प्रतिनिधी के रुप में उसे स्वीकारें, बाणभट्ट जब राजसभा में था तब तक का कथानक नाटक में आया है। बाणभट्ट जब राजसभा से बाहर आता है, तब उपन्यास में सुचरिता की कथा आरंभ होती है। जैसे कि उपर कहा गया है कि सुचरिता की कथा को नाटक में स्थान नहीं मिल पाया है। उपन्यास के कथानक में सुचरिता की कथा एक महत्त्वपूर्ण कथा है।"[513] सीमा पर एकत्र होने वाले दस्युओं से लड़ने के लिए कान्यकुब्ज का साम्राज्य प्रयासरत हैं।

नाटक का दृश्य आठ और उपन्यास का पंचदश उच्छवास एक ही स्थान से शुरु होता है। रूपांतरणकर्ता ने कथानक को नाटक में भी बड़ी खूबी से मंचित करवाया है। भट्टिनी को आधार बनाकर ही बाण ने अपने स्वार्थ का त्याग किया है। उसके हाथ में भट्टिनी होने के कारण ही वह हर्षवर्धन की सभा का सभापण्डित नियुक्त किया गया। "बाणभट्ट कुटनीति न जानने वाला एक सामान्य सरल कवि ही बना रहता है। इसी कारण से वह उसके सामने आए प्रस्ताव स्वीकार करता है। नाटक में नाटककार ने भी उसी कुशलता से बाण के इस व्यक्तित्व को आगे बढ़ाया है और

[511] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 49

[512] हजारी प्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या 134

[513] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 49

कथानक को उपन्यास की पुख्ता जमीन पर खड़ा किया है। उपन्यास का सप्तदश उच्छवास, अष्टादश, उन्नीसवाँ उच्छवास और बीसवाँ उच्छवास भी नाटक के नौंवे दृश्य में ही समेटा गया है।"[514] दसवें दृश्य में रूपांतरणकर्ता ने रत्नावली नाटक का ही संक्षेप में सार मंचन किया है। उपन्यास में नाटक के मंचन का वर्णन है। रुपांतरकार ने यह वर्णन न कर प्रत्यक्ष मंचन किया है। उपन्यास में कुछ ऐसे वर्णन हैं जिनका मंचन रंगमंच की सीमाओं में रह कर नही हो सकता उसे मंचित न कर के उसे संवाद के माध्यम से दिखाया गया है। "साथ ही कुछ ऐसे दृश्य भी है जिनका कथानक उपन्यास में थोड़े से हिस्से में लेकिन उनमें रंगमंचीयता का भाव अधिक होने से उसे मंचित किया गया है। उपन्यास के सप्तदश उच्छवास के आरंभ में बाणभट्ट भटिटनी के और उसके बीच हुई चर्चा पर विचार कर रहा है। बाणभट्ट और निपुणिका जब भद्रेश्वर दुर्ग वापिस आते है तो भट्टिनी बाण को कुमार कृष्णवर्धन का पत्र देती है।"[515] ये सब वर्णन नाटक के नौवें दृश्य के आरंभ में बाण-2 के संवाद से यह स्पष्ट कर दिया गया है।

अष्टादश उच्छवास के आरंभ में यह स्पष्ट किया गया है कि भट्टिनी स्थाणीश्वर से लगभग एक कोस की दूरी पर आकर स्थित हुई। कुमार कृष्णवर्धन उन्हें मिलने के लिए आते है। उपन्यास में यह घटना बीसवें उच्छवास में है। कुमार कृष्णवर्धन के साथ महाराज हर्षवर्धन के नाटक रत्नावली का विषय भी चर्चित होता है। "उपन्यास में भैरवियों के अपभ्रंश में गाने का उल्लेख है लेकिन गीत के बजाए गीत का अर्थ दिया है। कुल मिलाकर यह गान प्रखर राष्ट्रभक्ति अभिव्यक्त करने वाला है। नाटक के रुपांतरकार ने भी इस स्थान पर एक गीत दिया है। उनके द्वारा दिया गया गीत अपने आप में अर्थपूर्ण होने पर भी उपन्यास के उस अर्थ से बिल्कुल भी मेल नहीं खाता है।"[516] नाटक की प्रस्तुति को प्रभावशाली बनाने के लिए इस तरह का प्रयोग किया गया है। उपन्यास के बीसवें उच्छवास में महाराज द्वारा लिखित रत्नावली नाटिका का मंचन कर के महाराज हर्षदेव को दिखाना तय होता है। "उडुपति भट्ट और वसुभूति का शास्त्रार्थ कराया जिसमें उडुपति भट्ट विजयी हुए और शहर में डौंडी पिटवाई गयी जिसमें महाराज की हिंदू धर्म के प्रति श्रद्धा जाहिर की गयी। इस दृश्य को सूत्रधार के और कुछ दृश्य के संयोजन से मंचित किया गया।"[517] भट्टिनी बड़े उल्लास से रत्नावली नाटिका के मंचन में रुचि दिखाने लगी। उपन्यास में यह वर्णन किया गया है कि रत्नावली नाटक का मंचन करते समय निपुणिका ने अपने आपको खोल दिया। निपुणिका ने इस की तैयारी में ही कहा

[514] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 58
[515] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 182
[516] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाण भट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 61
[517] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 181

था, "भट्ट, तुम नहीं देखते कि वासवदत्ता ने किस प्रकार दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले प्रेम को एकसूत्र कर दिया है। प्रेम एक ओर अविभाज्य है। उसे केवल इर्ष्या और असूया ही विभाजित कर के छोटा कर देते है।"[518] नाटक में रत्नावली नाटक का चतुर्थ अंक ही मंच पर लाया है। इसी तरह उपन्यास में कई ऐसे दृश्य साथ चलते हैं जिनका उसी स्थान पर मंचन नही किया गया लेकिन मंचन के दौरान उनका आगे-पीछे कर के दृश्य योजना से दिखाया गया है। कथानक में इस तरह के परिवर्तन हो जाते हैं। किसी कहानी को अगर रंगमंच या फिल्म में रुपांतरित करना हो तो रुपांतरकार को उस कथानक में बहुत कुछ जोड़ना पड़ता है। उसी तरह किसी सशक्त कथानक वाले उपन्यास को नाटक में या उपन्यास में रुपांतरित करना हो तो बहुत कुछ छोड़ना भी पड़ा। उपन्यास के नाटय रुपांतरण में बहुत कुछ छोड़ना पड़ा है बावजूद नाटक का कथानक उपन्यास के कथानक में बिल्कुल क्षति नहीं पहुंचाता, कथानक में परिवर्तन मंच के अनुरूप रहती है। बाणभट्ट की आत्मकथा उपन्यास में अनेक जगहों पर विवरणात्मक, वर्णात्मक तथा नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया है।

[518] हजारी प्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या 282

4.4.2 संवाद के स्तर पर

बाणभट्ट संस्कृत के कवि थे। अतः इसमें संस्कृतनिष्ठ, काव्यात्मक एवं अलंकृत भाषा का प्रयोग है। दार्शनिक विवेचन एवं प्रकृति निरूपण में भी भाषा प्रायः संस्कृतनिष्ठ शब्दावली से युक्त है। लंबी वाक्य रचना, लंबे पदबंध, अलंकृत भाषा, संस्कृतनिष्ठ क्लिष्ट शब्दावली उपन्यास में व्याप्त है। "इस प्रकार हम अन्तः कह सकते है कि बाणभट्ट की आत्मकथा हर्षकालीन सभ्यता एवं संस्कृति का जीवंत दस्तावेज है। बाणभट्ट की आत्मकथा अपनी समस्त औपन्यासिक संरचना और भंगिमा में कथा कृति होते हुए भी महाकाव्यत्व की गरिमा से पूर्ण है। सारांश के रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि बाणभट्ट की आत्मकथा का कथा संसार पाठक को बाणभट्ट की आत्मकथा के रूप में ही उपलब्ध होता है, यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें उपन्यासकार का इतिहासबोध, प्रेम दर्शन और प्रेमानुभूति इतिहास, कल्पित कथाओं और कल्पना के योग से निर्मित एक मुकम्मल, सुगठित और मार्मिक प्रसंगों से भरी कथा के रूप में अभिव्यक्त हुई है।"[519] इस कथासंसार को विश्वसनीय बनाने के लिए, जो उपन्यास की एक अनिवार्य शर्त है, 'आत्मकथा' का शिल्प अपनाया गया है और उस शिल्प की दरारों को भरने के लिए आत्मकथा के भीतर आत्मकथा, मुख्य पात्र के अन्त:करण और मस्तिष्क में प्रवेश, मुख्य पात्र से अन्य पात्रोंके संवाद तथा विभिन्न पात्रों से प्राप्त सूचनाओं आदि की सहायता ली गयी है। "कथासाहित्य में कथानक, पात्र, संवाद, देशकाल, भाषा और शैली, तथा उद्देश्य इस विधा के महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इनमें संवाद अस्थिर तत्त्व है। कभी पात्र भी अस्थिर तत्त्व हो सकता है, जैसे किसी उपन्यास में मानवी पात्र नहीं हो सकता। लेकिन अस्थिर होने के बावजूद ये ही दो तत्त्व ऐसे है जो कथानक को और मजबूती प्रधान करते हैं। ये ही दो तत्त्व ऐसे है जो कथानक प्रभावी ढंग से पाठकों तक पहुंचाते हैं। ये ही दो तत्त्व ऐसे है जो कभी कभी कथानक पर हावी हो जाते है। पाठकों को कभी कभी कथानक से ज्यादा संवाद या पात्र ध्यान में रहते हैं। इसलिए कथानक के बाद ये दो ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण कथातत्त्व होते हैं।"[520] कथा के बिखरे हुए सूत्रों को जोड़ने में भी कथाकार ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। इस प्रकार उपन्यास में आत्मकथा की प्रविधिमात्र अपनायी गयी है, यह किसी की 'आत्मकथा नहीं है, और यदि किसी की आत्मकथा का कोई अंश उपन्यास में है,तो वह स्वयं उपन्यासकार ही है। बाणभट्ट की आत्मकथा प्रेम और साहसिक अभियान युक्त होने पर भी अपने पारिभाषिक अर्थ में रोमांस नहीं है। यह एक उपन्यास है जिसमें लेखक की संवेदना, चिन्तन, जीवन का अनुभव, यथार्थ के प्रति आग्रह और मूल्यबोध प्रमुख स्थान रखता है। इन तथ्यों के बावजूद 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में

[519] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 64
[520] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 68

रोमानियत का अभाव अवश्य मिलता है। रोमांस के तत्वों के समावेश के कारण इस उपन्यास में रमणीयता की वृद्धि हुई है। अत: कहा जा सकता है कि उपन्यास होते हुए भी यह नाटक रोमानी तत्वों से भरपूर एक विशिष्ट उपन्यास है। इसमें इतिहास और कल्पना का बहुत सर्जनात्मक मिश्रण किया गया है। इस नाटक में संवादों की योजना भी अत्यन्त कलात्मक रूप में की गयी है। इन वार्तालापों में बाणभट्ट के साथ कोई दूसरा पात्र शामिल होता है। इन संवादों की भाषा अत्यन्त सहज, विदग्धतापूर्ण, संवादरत पात्रों के मनोभावों की व्यंजक, संकेतपूर्ण और कौतूहलोत्पादक है। ये वार्तालाप केवल पात्रों की मनोदशाओं को ही व्यक्त नहीं करते वरन। कथा को आगे बढ़ाने में भी योग देते हैं।

"पुजारी!'
'पुजारी? पर तू तो पुजारी से डरी हुई थी निउनिया!
पुजारी जैसे मूर्ख रसिकों से डरती, तो निउनिया आज से छ: वर्ष पहले ही मर गयी होती भट्ट!'
'पर तू प्रत्यूष काल में डरी हुई जरूर थी।'
सो तो थी ही। '
तो तू किससे डरी थी भला?'
'तुमसे !'
'मुझसे?'
'हाँ भट्ट, तुमसे!
'तो मुझसे क्यों डरी थी, निउनिया!"[521]

"क्या बताऊँ, भट्ट! मेरे जैसी स्त्री तुम्हारे जैसे पुरुष से क्यों डरती है, यह बात अगर आज तक तुम्हारी समझ में नहीं आयी तो अब नहीं आएगी।"[522] इस संवाद का सौन्दर्य अपने आप में अनूठा है। बाणभट्ट से संवाद करती निपुणिका की भाषा में सर्वत्र एक लीला और चुहल का भाव दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि वह बाणभट्ट से प्रेम भी करती है और उसके प्रति श्रद्धा भी रखती है। छह वर्षों के घोर प्रायश्चित्त से उसके प्रेम में एक ऐसी स्थिरता आ गयी है, जो डिगने वाली नहीं। नाटक के अधिकतर संवादों में नायक समान रूप से विद्यमान रहता है पर अन्य पात्र बदलते रहते हैं। आत्मकथा की प्रविधि में कही गयी कथा में यही स्वाभाविक भी है। "फिर भी बाणभट्ट की

[521] हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा पृष्ठ संख्या 63
[522] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 65

भाषा में एकरसता नहीं है। उसकी भाषा उसकी मन:स्थितियों के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। जहाँ वह भट्टिनी से बात करता होता है, उसकी भाषा में श्रद्धा, कृतज्ञता और विह्वलता का आवेग होता है। निपुणिका से बात करते समय उसकी मन:स्थिति अभिभावक और वरिष्ठ सखा की होती है। पर जहाँ उसे किसी ऐसे व्यक्ति से बात करनी होती है, जो भट्टिनी का समुचित समादर नहीं करता, वहाँ उसकी भाषा में अद्भुत ओज, आत्मविश्वास, आत्मगौरव, भयहीनता, स्पष्टवादिता और उत्तेजना का भाव आ जाता है।"[523] एक ऐसा ही प्रसंग बाणभट्ट और कुमार कृष्णवर्धन के वार्तालाप का है। इस संवाद का एक ओजदृप्त अंश है कुमार, साम्राज्य गर्व में अन्धे न बनो। स्थाण्वीश्वर ने राजलक्ष्मी का अपमान किया है। "वह न भिखारी होता है न सान्धिविग्रहिक। वह धर्म का व्यवस्थापक होता है। मैंने जो कुछ किया है, उससे न मैं लज्जित हूँ, न मेरा ब्राह्मणत्व कलुषित हुआ है। मैं देवपुत्र तुवरमिलिन्द की मर्यादा का पूर्ण जानकार हूँ और निर्भय भाव से फिर कहता हूँ कि स्थाण्वीश्वर के राजवंश ने अपने को पूज्य-पूजन के अयोग्य सिद्ध किया है।"[524] इस तरह के संवाद कथा और नाटक दोनों ही में लिखे गए हैं कारण स्पष्ट है कि नाट्य रूपान्तरण में उपन्यास की संवाद शैली का भरपूर प्रयोग किया है।

बाणभट्ट और वृद्ध ब्राह्मण, बाणभट्ट और भट्टिनी, बाणभट्ट और सामनेर, बाणभट्ट और अवधूत अघोर भैरव आदि के वार्तालापों में भी पात्रों के मानसिक भावों की ऐसी सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है। "जहाँ वृद्ध ब्राह्मण की भाषा में काशीवासियों का स्वाभिमान और लीला भाव है, वहाँ भट्टिनी की भाषा में आभिजात्य के साथ-साथ स्त्री सुलभ सौकुमार्य, संकोच और शालीनता है। भट्टिनी के मनोभावों के अंकन में बाणभट्ट के माध्यम से द्विवेदी जी ने अपने अद्भुत भाषा सामर्थ्य का परिचय दिया है। अघोर भैरव की वाणी में साधना की परिपक्वता, सन्त का सात्विक स्वभाव, अक्खड़ता और चुहल का भाव बड़े मनोरम रूप में अभिव्यक्त हुआ है।"[525] उपन्यास में कुछ संवाद ऐसे भी हैं जिनमें बाणभट्ट स्वयं तो शामिल नहीं है, पर ये संवाद उसके सामने होते हैं या वह उन्हें सोने का बहाना बना कर सुन रहा होता है। जो संवाद उसके सामने होते हैं, वे प्राय: छोटे होते हैं, पर उनका चुटीलापन और व्यंग्य मन को मोहे बिना नहीं रहता। एक प्रसंग में बाणभट्ट छद्मवेश में निपुणिका के साथ 'छोटे राजकुल' के अन्त:पुर में जा रहा है। उसके सामने निपुणिका और एक मदमत्त दासी के बीच जो वार्तालाप होता है, वह द्रष्टव्य है "निपुणिका को अवसर मिल गया। बोली उसे न छेड़ मित्तिया, गाँव से नयी-नयी आयी है, अभी यहाँ की रीति नीति नहीं जानती।' मित्तिया

[523] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 69

[524] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 71

[525] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 189

जोर से हँस पड़ी। दो दिन में सीख जाओगी लली, न जाने कितनी आँखों पर नाचती फिरोगी! इस संवाद में 'लली' शब्द का प्रयोग कितना लीलापूर्ण है, इसे कोई सहृदय ही समझ सकता है।"[526] एक अक्षर वाले शब्द 'ना' में कितनी शक्ति भरी जा सकती है इसका उदाहरण है एक प्रसंग में भट्टिनी द्वारा उच्चरित यह शब्द। प्रसंग है, बाणभट्ट और निपुणिका के सम्मोहन-ग्रस्त होकर अस्वस्थ हो जाने पर महामाया द्वारा उनके उपचार के बाद अपने आश्रम जाने का। इस बीच भट्टिनी ने भैरवी महामाया को माँ के रूप में मोहबद्ध कर लिया है। महामाया इस मोह का त्याग कर अपने गुरु के पास जाना चाहती हैं। वे भट्टिनी से कहती हैं "बिलकुल चिन्ता मत कर बिटिया, आज भट्ट की नाड़ियाँ स्वस्थ हैं, कलाएँ उबुद्ध हैं, द्वार रुद्ध हैं अभी इसकी आँखें खुली जाती हैं। निपुणिका में अभी देर है। घबराती नहीं है न! छि: ऐसा भी व्याकुल हुआ जाता है। भट्टिनी ने केवल रुद्ध कंठ से कहा ना, महामाया पुन: कहती हैं- आज तो मुझे जाना होगा बेटी, अक्षय तृतीया में तो अब अधिक देर नहीं है। यहाँ तुझे कोई भय नहीं है। लोरिकदेव बड़ा धार्मिक सामन्त है। तुझे कोई कष्ट नहीं होगा। क्या कहती है, जाऊँ न?' भट्टिनी ने दृढ़ता के साथ संक्षेप में उत्तर दिया ना!"[527] इस प्रसंग में दो बार 'ना' का प्रयोग हुआ है। पहले प्रयोग में आश्वस्ति का, विश्वास का भाव व्यक्त हुआ है, तो दूसरे में विश्वास, अधिकार, प्रेम, विवशता, अस्वीकार, हठ और शिशुता का जो मिलाजुला भाव है, उसे कोई सहृदय ही समझ सकता है। इसके बाद भट्टिनी के यह कहने पर कि "मैं तप में विघ्न पैदा कर रही हूँ, माता?"[528] महामाया स्नेह के स्वर में कहती हैं- 'ना रे, ना ! यह तीन अक्षरों का अस्वीकार भी भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से संवेदनपूर्ण है।

जो पात्र या संवाद के कथानक पर हावी होने या पाठकों के ध्यान में रहने की चर्चा हुई है, वह उपन्यास या कहानी से ज्यादा नाटक में होता है। नाटक में अभिनेयता या रंगमंच महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वो ही नाटक का प्राण है। नाटक में अभिनय महत्त्वपूर्ण है। "पात्र अपने शारिरिक भंगिमाओं से अभिनय करता है, लेकिन अगर संवाद ना हो तो रसग्रहण में निश्चित ही बड़ी बाधा निर्माण होती है। संवाद के बिना रस ग्रहण की गति में कमी आती है। पहले तो सहृदय को अपने मन या भाव के बजाए वह नाट्यव्यापार समझने के लिए बुद्धी का ही प्रयोग करना पड़ता है। फिर रसग्रहण व्यापार आरंभ होता है। इस से संवाद के न होने का महत्त्व परिलक्षित होता है। वहीं नाटक में अगर संवाद हो तो रसग्रहण व्यापार बहुत गति से होता हुआ पाठकों में वह सब कुछ संप्रेषित एवं संचरित करता

[526] हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या- 71

[527] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 189

[528] हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या- 124

है जो नाट्य लेखक ने सोचा था।"[529] संवाद के होने का एक और महत्त्व यह भी है कि संवाद होनेवाले नाटकों की तुलना में मूक अभिनय होने वाले या संवाद न होने वाले नाटक बहुत कम प्रसिद्ध हो सके हैं। उपन्यास से नाटक में लिए गए यथावत संवाद में बड़े संवाद है, उसी तरह छोटे छोटे संवाद भी है। विस्तृत कथन भी संवाद के माध्यम से यथावत लिए गए है। उपन्यास के छोटे छोटे संवादों को उपन्यास से किस तरह यथावत लिया गया है-

"भट्टिनी क्या कहते हो भट्ट! ये सुगतभद्र वही तो नहीं जो तक्षशिला की ओर धर्मप्रचार करने गए थे, और नालंदा के आचार्य शीलभद्र के गुरुभाई है?
बाणभट्ट 2 : मैं नहीं जानता देवी। मैंने तो इतना ही सुना है कि कोई सुगतभद्र नाम के भिक्षु पास के विहार में रहते हैं।
भट्टिनी : पता लगा लो भट्ट । यदि वे वही सुगतभद्र है, तो मेरा भाग्य आज प्रसन्न है। वे मेरे पिता के समान हैं, उन्हें मैं सन्देश भेजूँगी।
बाणभट्ट 2 : भद्रे, मैं अभी जाकर पता करता हूँ। और यदि वे वही हैं, तो क्या सन्देश दूँ उन्हें?
भट्टिनी : कह देना कि देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या आपको प्रणाम कहती हैं, और यदि प्रसाद हो तो दर्शन पाना चाहती हैं।
बाणभट्ट 2 : देवी, आप तत्रभवान, विषम-समर-विजयी, वाल्हिक विमर्दन, प्रत्यंत बाडव देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या हैं?"[530]

इन्हीं संवादों में नाटकों में भी ऐसे ही लिखा गया है, उपर्युक्त संवाद उपन्यास में तथा नाटक में एक जैसे संवाद है। ये छोटे संवाद है। सिर्फ इसमें परिवर्तन इतना है कि "मूल उपन्यास में जहाँ बाण मात्र एक है वहाँ नाटक में दो बाणभट्ट है और उसमें दूसरा बाणभट्ट यहाँ पर उपस्थित है। छोटे संवादों की तरह बड़े संवाद भी उपन्यास से यथावत लिए गए है, जैसे भट्टिनी का यह संवाद' जिसमें भट्टिनी का बाण प्रति आकर्षण तथा प्रेमभाव स्पष्ट दिखाई देता है।"[531]

नाटक में कई ऐसे स्थान भी हैं जहाँ पर नाट्य रुपांतरकार को भी संवादों का निर्माण करना पड़ा है इस कथा को नाटक में परिवर्तित करते समय नाटककार के सामने मुख्य समस्या काल की ही थी। यह उपन्यास जितना विस्तृत है, उतना समय मंचन के लिए संभव नहीं है और नाटक को नहीं दिया जा सकता है। इसलिए उन्हें दो बाणभट्ट की निर्मिती करनी पड़ी। इसमें से एक तो उपन्यास

[529] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 65
[530] हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या- 49
[531] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 151

का लिया हुआ पात्र है और दूसरा सूत्रधार का काम करता है। उस के मुख से मूल घटनाओं के विषय में संक्षेप में ही प्रस्तुत करते हुए दिखाया है। कुछ संवाद बाण द्वारा स्थितियाँ और घटनाओं के संक्षिप्त वर्णन है। जैसे "भद्रेश्वर दुर्ग से बाणभट्ट के स्थाण्वीश्वर जाने की घटना को लेकर रुपांतरकार ने चार पाँच पृष्ठों के वर्णन को दस पंक्तियों के संवाद में बड़ी सफलता से अभिव्यक्त किया है।"[532] छोटे छोटे संवाद का यह उदाहरण जो पूरी तरह घटनाओं के अनुसार रुपांतरकार द्वारा निर्माण किया गया है।

"बाण 2 : क्या हुआ भट्ट ? कर दिया महाराज हर्षवर्धन ने तुम्हारा सम्मान ?
बाण 1 : पूछो मत बाण, उन्होंने जब मुझे लंपट कहा तो मानो पूरा तन-बदन अग्नि सा तप्त हो गया। भरी सभा में अपमानित किया गया और किसी ने आपत्ति भी नहीं उठाई।
बाण 2 : होता है भट्ट, होता है। राजसभा में आए हो तो राजनीति की कुटिल चालों का सामना तो करना ही पड़ेगा! क्या सोचने लग गए?
बाण 1 : अब हजार-हजार उत्तर सूझ रहे है, लेकिन उस समय मारे क्रोध के मेरी बुद्धी ही जड़ हो गई थी।"[533]

उपर्युक्त संवाद रुपांतरकार के सर्जन क्षमता का, तथा लेखकीय प्रतिभा का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें पात्र की निर्मिती भी है और उसके अनुसार संवादों की निर्मिती भी है। उपन्यास के मूल संवादों के साथ साथ ऐसे संवादों ने नाटक को एक गति और सुगठितता प्रदान की है। मात्र एक जगह पर ऐसे संवादों में एक समस्या निर्माण हुई है। कुमार कृष्णवर्धन बाणभट्ट से एक संवाद में कहते है, "भेडियों से भी हिंसक और चीटिंयों से भी अधिक संगठित हूण दस्यु सीमा पर फिर एकत्रित हो रहे हैं। ' यहाँ पर नाट्यरूपांतरकार ने हूण अपनी ओर से जोड दिया है, जब कि उपन्यास में वे दस्यु हूण है, या शक है, या अन्य इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। एक जगह पर उपन्यासकार ने फूटनोट का प्रयोग संवाद के लिए किया है।"[534] इस तरह से नाट्यरुपांतरकार ने संवाद निर्माण में नाट्य रूपान्तरण को और भी प्रभावी बना दिया।

उपन्यास और नाटक के संवादों में विभिन्नता है। यह तो स्पष्ट है कि जब कोई विधा का दूसरी विधा में परिवर्तन होगा तो उसके कथानक, संवाद, पात्रों आदि में बदलाव होगा लेकिन यह बदला हुआ रूप उसके साथ न्याय करता है अथवा उसकी मूल संवेदना को हानि पहुंचाता है यह

[532] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 90
[533] हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या- 20
[534] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 90

उसके मंचन के बाद ही दिखता है। कथा को आगे बढ़ाने के लिए संवादों की आवश्यकता होती है चाहे वह उपन्यास कहानी अथवा नाटक हो। इस नाट्य रूपान्तरण में सबसे अच्छी बात और उसकी विशेषता यही है की संवादों में ज्यादा परिवर्तन नहीं किया गया है क्योंकि इस कथा के संवाद स्वयं ही संप्रेषित हुए हैं। "यानी उस उपन्यास में उतनी क्षमता थी कि वे संवाद ही नाटक में आसानी से आकर नाटक में भी बड़े सटिक बैठे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात कि एक कलाकार की जो प्रामाणिकता होती है, उसका पूरा निर्वहन नाट्यरुपांतरकार अमिताभ श्रीवास्तव जी ने किया है। उपन्यास के संवादों की क्षमता को पहचानकर उन्होंने संवादों को नाटक में जगह दी। जहाँ आवश्यकता हो वहाँ पर स्थितियों के अनुसार नये संवादों का निर्माण भी उतनी ही समर्थता से उन्होंने किया है।"[535] नाटक के संवाद घटनाओं और पात्रों के अनुकूल है। कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि यह संवाद उस नाटक में नहीं आना चाहिए था, या इस संवाद से नाटक के कथानक में बाधा निर्माण होती है। सहज सुंदर संवाद इस नाटक की विशेषता बन गयी है। नाट्यरुपांतरकार ने यह सफल कोशिश की है कि जहाँ भी संस्कृत प्रधान शब्द उपन्यास में आए हैं वे नाटक के संवाद में ना रहें। नाट्यरुपांतर में रुपांतर की यह भी एक विशेषता दिखाई देती है। कि उन्होंने घटनाओं के विश्लेषण विस्तार को भी अच्छे संवाद बनाया है। फूटनोट को भी संवाद बनाया जा सकता है, यह भी अमिताभ जी ने दिखाया है, जो उनके नाटकीय कौशल को दर्शाता है। यह कथा बहुत ही विस्तृत रूप में लिखी गई है इस कारण इसके कुछ संवादों और विवरणों को सूत्रधार के माध्यम से दिखाया गया है लेकिन इस रूपान्तरण में संवादों के साथ ज्यादा छेड़छाड़ नहीं की गई है जिस कारण इसकी संप्रेषणीयता में कोई कमी नहीं आई है।

[535] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 91

4.4.3 अभिनेता और अभिव्यंजना के स्तर पर

कोई भी नाटक मंच पर जाने से पहले निर्देशक के मस्तिष्क में मंचित होने लगता है। वह सभी दृश्यों को मन में मंचन की दृष्टि से सोचता है। मंच पर प्रयोग होने वाले सभी उपकरणों पर उसका ध्यान जाता है- प्रकाश व्यवस्था, संगीत-गायन, रूप सज्जा, मंच पर प्रयोग होने वाली सामग्री इत्यादि। इन सब में सबसे प्रमुख अभिनय और अभिनेता का चयन है। अभिनेता के होने से बाकि अन्य वस्तुएं गौण रूप से नज़र आती है जबकि उन्हीं गौण चीजों के होने से अभिनय की अभिव्यक्ति और निखर कर आती है। इस नाटक में भी बहुत से पात्र हैं जिनमें से कुछ को मंच पर स्थान मिला है तो किसी को केवल संवादों के माध्यम से मंच पर उपस्थित किया गया है। इस तरह उपन्यास में जहाँ एक ही बाणभट्ट है तो नाटक में दो बाणभट्ट आ जाते है। एक सूत्रधार की भूमिका तथा दूसरा पूर्णतः नायक का रूप लिए हुए है। नाटक में निपुणिका, भट्टिनी, कुमार, अघोरभैरव, लोरिकदेव, सुभतभद्र, महामाया आदि उपन्यास में भी हैं। वहीं दूसरी ओर सुचरिता, धावक, विरतिवज्र, अघोरघंट, वसुभूति, चंडमंडना, चारुस्मिता, चंडी मंदिर का पुजारी आदि पात्र नाटक में नहीं लाया गया है। परिचारिका, युवा सैनिक, सभापति, शराबी, राजकर्मचारी भद्रपुरुष आदि जो गौण पात्र है, वे भी नाटक में बारी बारी से आते हैं। उपन्यास में रत्नावली नाटक खेलने का उल्लेख है कि जब वासवदत्ता, सागरिका, विदूषक, राजा उदयन, यौगन्धरायण आदि पात्र मंच पर उपस्थित होते है। विधापरिवर्तन में पात्रों के संदर्भ में यह परिवर्तन दिखाए गए हैं।

बाणभट्ट उपन्यास और नाटक का मुख्य पात्र है। बाणभट्ट नाटक में शुरुआत से अंत तक है। उपन्यास में वह अपने बारे में परिचयात्मक कथन देता है, मंच में होने वाली घटनाओं का वर्णन करता है, भट्टिनी के साथ निपुणिका के साथ क्रियाकलापों में व्यस्त है, उनके साथ तथा अन्य पात्रों के साथ उसके संवाद है, और सबसे अधिक स्थितियों और स्थानों का बड़ा ही काव्यात्मक वर्णन करता है। बाणभट्ट उपन्यास में एक ही है। नाटक में रुपांतरकार ने दो बाणभट्टों की संकल्पना की है। यह अभिनेता और उसके अभिनय का ही प्रभाव है कि एक ही पात्र के दो रूप होने पर भी मूल कथा को कोई हानि नहीं हुई।

इस संदर्भ में नाट्यरुपांतरकार ने बताया कि "नाटक में एक पात्र के जाने और दूसरे के आने में बड़ा समय व्यतित होता है। बाणभट्ट के साथ ऐसा होने की संभावना थी। इसलिए एक ही बाणभट्ट तो संभव नहीं था, फिर एक सुत्रधार बाणभट्ट और मुख्य बाणभट्ट ऐसा करने का विकल्प

था लेकिन समय बचाने के लिए दो बाणभट्ट का निर्माण किया है।"[536] नाटककार ने यह किया है लेकिन इस से बाणभट्ट के मूल चरित्रपर और नाटक के पात्र में वैसे कुछ बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं दिखाई देता है। नाटक के एक संवाद में कहता है कि "मेरा असली नाम दक्ष भट्ट है। घर से भाग कर बरसों मारा-मारा फिरा, इस भटकन में मैंने कौन-सा कर्म नहीं किया। कभी नट बना, कभी पुतलियों का नाच दिखाया, कभी नाट्य मंडली बनायी और कभी पुराण-वाचक बनकर जनपदों को धोखा दिया। आवारा अवश्य था मैं, पर लंपट कदापि नहीं। सो घूमता-घामता एक बार स्थाण्वीश्वर अर्थात थानेसर नगर में पहुँच गया।"[537] इन पंक्तियों के बोलने से नायक का परिचय मिल जाता है कि उसने जीवन में क्या-क्या किया है। उसका नाट्य अभिनेता यह रुप बार-बार झलकता है।

नाटक की मुख्य पात्र निपुणिका है ,नाटक हो अथवा कथा दोनों ही में वह सबसे अधिक सक्रिय है। वह स्वाभिमानी नारी पात्र है उसे अन्याय, अत्याचार से नफरत है। वह अपने जीवन में इन सभी बातों के विरुद्ध वह लड़ने आई है। वह एक धनिक व्यक्ति की विधवा होने के बाद दुःख और आँसुओं भरी जिन्दगी में रहने के बजाए वहाँ से भाग निकलती है। उसे यह भी लगता है कि उसके इस कार्य से समाज पर इसका क्या प्रभाव होगा लेकिन बाद में वह यह सब सोचना छोड़ देती है। "अपनी जिंदगी परिपूर्णता से जीना कोई अपराध नहीं होता। निपुणिका वही करती है। बाणभट्ट की नाट्यमण्डली में वह काम करती है और उसके प्रति आकर्षित होती है। जब बाण उसे नकारता है, तो वह वहाँ से भी भाग जाती है। वह किसी पर बोझ नहीं बनना चाहती, किसी पर कोई चीज जबरदस्ती लादना नहीं चाहतीहै। निपुणिका के अभिनय की पूरे उपन्यास में बाणभट्ट बार बार तारिफ करता है।"[538] नाटक में दिखाए गए उसके चरित्र से स्पष्ट है कि निपुणिका एक पूर्ण स्त्री का प्रतीक है जो पूर्ण पुरुष के गुणों को सही तरीके से पहचानती है। वह कभी भी किसी भी स्थिति में बाण का अपमान सहन नहीं करती है और न ही वह कभी बाण को अपमानित करती है। उपन्यास में कई बार पूर्व स्मृती के आधार से यह भी कहा गया है कि "नाटक मण्डली के दौरान भी वह बाण की कई समस्याओं का समाधान बड़ी सहजता से करती थी।"[539] प्रस्तुत कथानक में कोई काम जानबुझ कर करने का हिम्मत निपुणिका में है। नाटक में घटित घटनाओं की चालिका है। भट्टिनी को बाहर निकालने का निर्णय करती है। इसमें बाण की सहायता लेती है। बाण उसके कहे अनुसार ही सब कुछ करता है। वह किसी राजनीतिक हित से उसे नहीं बचाती बल्कि एक स्त्री के विरुद्ध होने

[536] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 67
[537] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 68
[538] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 70
[539] हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या- 19

वाले अत्याचार के विरुद्ध उसे बचाने के लिए संघर्ष में कूद पड़ती है। भट्टिनी को छोटे राजकुल से बाहर निकालने के बाद उसके सम्मान के प्रति बड़ी सजग है। प्रस्तुत नाटक में भट्टिनी और निपुणिका का अलग ही रिश्ता है। निपुणिका, भट्टिनी की परिचारिका है लेकिन दोनों बहुत करीबी रिश्तों में बंध जाती है। दोनों पात्र बहनों के जैसे एक दूसरे का ख्याल रखते हैं भट्टिनी के हर सुख की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेती है। भट्टिनी राजकुमारी होने के बावजूद निपुणिका की सेवा करती है। निपुणिका वैसे तो अनपढ़ है क्योंकि बाण के साथ चर्चा में वह स्वीकार करती है कि "उसे संस्कृत भाषा नहीं आती, फिर भी धर्म और राजनीति की अच्छी समझ निपुणिका रखती है। बाणभट्ट पर जब सम्मोहन का हमला होता है, उसमें स्वयं भी अपने जान की बाजी लगाकर सम्मोहित हो जाती है और बाणभट्ट को बचाती है। स्पष्ट है वह भी बाणभट्ट की तरह ही धर्म कर्म के बने बनाये मार्ग पर नहीं चलती थी।"[540] नाट्य रुपांतरकार अमिताभ श्रीवास्तव इस महत्त्व को नाटक में पूर्णतः बनाये रखा है। उपन्यास में जिस तरह वह एक मुख्य पात्र है वही नाटक में भी मुख्य पात्र है।

भट्टिनी नाटक की केन्द्रीय पात्र है। भट्टिनी के माध्यम से द्विवेदी जी ने अपना धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक चिंतन अभिव्यक्त किया है। "उनके स्त्रीवादी चिंतन का भी आधार भट्टिनी ही है। स्त्री भारतीय समाज का सबसे अधिक शोषित और प्रताडित हिस्सा है। कोई भी स्त्री शोषण और प्रताड़नाओं से उस समय दूर नहीं थी, फिर भले ही वह राजा की बेटी क्यों ना हो, उसका अपहरण होता है और उसे एक राजघराने में ही बंदी बनाया जाता है। वैसे तो गरिबों की कन्याओं का अपहरण और राजा की सेवा में उन्हें लगाना आम बात थी लेकिन यही जब राजघरानों के साथ होता है, तो बड़ी समस्या माना जाता है। अपहरणकर्ता किसी स्त्री का अपहरण करते है, लेकिन उसे वे बेचने के लिए ही या भेंट के रुप में देने के लिए ही प्रयुक्त करते थे यह इतिहास है। भट्टिनी के साथ भी यही होता है।"[541] कथानक में यह तो स्पष्ट नहीं है कि वह बेची गयी या भेंट दी गई। तात्कालिन राजकर्ताओं ने यह काम एक व्यवसाय के जैसा विकसित होने दिया था और मात्र विकसित ही नहीं होने दिया बल्कि वे ही उस के प्रमुख ग्राहक भी थे। स्त्रीयों को भगाने, खरिदने, बेचने के घृणित व्यवसाय की शिकार भट्टिनी है, लेकिन उसमें उस का क्या दोष। वह तो बड़ी निष्पाप कन्या है। उसका शांत सुंदर मुख उपन्यास में नारी सौंदर्य के वर्णन का विभाव है। भट्टिनी इस घृणित व्यवसाय की शिकार है। कथानक में वह राजकुमारी है इसलिए समस्या की गहराई अधिक प्रभावी ढंग से व्यक्त होती है। उपन्यास में भट्टिनी के इस महत्त्व को नाट्यरुपांतरकार ने बड़ी सफलता से केंद्र में रखा है। "एक राजा की बेटी होने के कारण राजनीति के आवश्यक गुण उसमें है। पूरे नाटक में वह

[540] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 153

[541] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 73

शांति, संयम और कूटनीति का भी परिचय देती है। उसकी कूटनीति का सब से बड़ा प्रमाण है स्थाण्वीश्वर के राजवंश की मदद न लेना। उस पर अन्याय तो मौखरी वंश के एक सामंत के कारण हुआ था लेकिन उसकी जायज जिम्मेवारी वह स्थाण्वीश्वर के राजवंश पर ही रखती है क्यों कि यही राजवंश है जिसके कारण अन्यायीयों को आश्रय मिला था। भट्टिनी बाण के साथ गंगा नदी पार करते हुए अपनी पहचान छुपाकर तो रखती ही है, सामंत लोरिकदेव के दुर्ग में भी अपनी पहचान छुपाकर रहती है। राजा हर्षवर्धन की ओर से लोरिक देव को मनाने का प्रस्ताव उसे जब मिलता है तो उसमें वह दखलंदाजी नहीं करती। बाणभट्ट से कुछ बातें छुपाना भी उसकी कूटनीति का ही प्रमाण है। जैसे कंचुकी वाभ्रव्य की सुरक्षा की बात वह बाण के द्वारा न करके सौगत सुगतभद्र के माध्यम से करती है।"[542] नाट्यरुपांतरकार भट्टिनी के इस व्यक्तित्व को सफलता से नाटक में ले आए है।

महामाया भी इस नाटक की मुख्य पात्र है। महामाया स्त्री विद्रोह का प्रत्यक्ष स्वर के रूप में है। वह स्वयं एक प्रताड़ित स्त्री है और खिलौने की तरह प्रयुक्त हुई है। नाटक के कुटिल लोग महाराजा को फँसाने के लिए महामाया की शादी राजा से करवा देते है। नाटक में यह कथानक नहीं आ पाया है, उपन्यास में महामाया के कार्य कारण भाव समझ में आने से उस पात्र का आलोक अधिक स्पष्ट होता है। नाटक में भैरवी बनकर रह जाती है। उपन्यास में वह अपने विचार, सुझबुझ और विद्रोह से विशेष गरिमा प्राप्त करती है। "उपन्यास और नाटक में भी महामाया का प्रवेश भट्टिनी को छुड़ाकर एक मंदिर के जीर्णगृह में रात बिताने के बाद बाण जब वह स्थान लोभवश फिर से देखने जाता है तब होता है। भैरवी के रुप का वर्णन बड़ा ही डरावना है।"[543] नाटककार ने भी यह रुप उसी तरह रखा है। पहले पहल तो भैरवी का प्रवेश और वर्तन ही विसंगत तथा अन्यायी लगता है। वह जिस तरह बाण से वर्तन करती है और अमंगल के डर से डराती है वह भी ज्यादती लगती है। लेकिन अवधूत अघोरभैरव के उपदेश तथा अघोरपंथी साधना के बाद बाणभट्ट जब महामाया के गोद में अपना सर रखा पाता है, तो उसे अपनी माँ की याद आती है। बाण कहता है "माता आज मैं कृतार्थ हुआ, जो मैं आनन्द भैरवी का अमृतायमान स्नेह स्पर्श पा रहा हूँ। माता मेरा अपराध क्षमा हो।"[544] महामाया का रुप यहाँ पर थोड़ा स्नेह शीतल लगता है। उपन्यास में महामाया और बाण के बीच आगे स्त्री तत्त्व और पुरुष तत्त्व में भी चर्चा होती है। महामाया के दार्शनिकता का रुख पुरुष और स्त्री के मिलन में है। वह न केवल शरीर का बल्कि मन का मिलन है। उसी से दोनों सार्थक होते है, यह विचार महामाया अभिव्यक्त करती है। वह स्त्री और पुरुष के सत्य को परस्पर विरोधी के रुप

[542] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 75
[543] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 76
[544] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 155

में नहीं देखती, पुरक के रुप में देखती है। महामाया के यह विचार भट्टिनी से मिलने के बाद और अधिक खुलकर व्यक्त होते है।

नाटक में सुगतभद्र पात्र भी कई जगह समान रूप से जहाँ दिखाई देते हैं, भट्टिनी को छुड़ावाने के बाद बाणभट्ट को एक सुगतभद्र नाम के बौद्ध भिक्षु का पता चलना और भट्टिनी का बाण को उनके पास जाने के लिए कहना। बाण और उनकी चर्चा में सुगतभद्र बड़े संयम, शांति और उदात्तता का परिचय देते हैं। यहाँ इस पात्र का परिचय भी नाटक में बहुत अनूठे ढंग से हुआ है। नाट्य रूपान्तरण ने कथानक में अभिनेता के चयन में बहुत ही बारीकी से काम लिया है। वे सुगतभद्र ही है जो कुमार कृष्णवर्धन को बुलाकर इस सारी स्थिति को ज्ञात कराते हैं। भट्टिनी के सम्मान का उचित स्थान रखने का आदेश देते है।

चन्द्रदीधिति नामक पात्र कथानक को एक नई दिशा देती है, साथ ही वह देश और धर्म की रक्षा में राजा या सेना से अधिक महत्त्वपूर्ण भुमिका प्रबुद्ध जन ही निभाती है, यह भी स्पष्ट करा देती है। नाटक में उनके व्यक्तित्व की ये विशेषताएँ बड़े प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त हुई हैं।

कुमार कृष्णवर्धन स्वामिभक्त है। उपन्यास में वे राजा हर्षवर्धन के भाई के रुप में चित्रित किए गए है। वे अपने भाई तथा राजा के मान, सम्मान, श्रेष्ठता, राज्य सुरक्षा तथा विस्तार का निरंतर ध्यान रखते हैं। भारतीय समाज व्यवस्था झूठ को आश्रय देने के लिए ही बनी है यह उनका निरिक्षण है। उस कारण से समाज हीत के लिए झूठ बोलना अनुचित नहीं है, ऐसा उनका कथन है। वे कहते हैं, "मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसको ठीक-ठीक समझ रहे हो न, भट्ट? लोक कल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता हो, वही सत्य है।"[545] भट्टिनी की संदर्भ में हुई घटना में वे भट्टिनी, सुगतभद्र तथा हर्षवर्धन की ईच्छा तथा हीत का ध्यान रखते हैं। भट्टिनी के ईच्छानुसार कुछ करने से राज्य का हीत होता है, यह जैसे ही उन्हें ध्यान में आता है, तो उस के लिए वे सब कुछ करने के लिए तैयार होते हैं। "वे समाज व्यवस्था के अच्छे जानकार है। कुमार वास्तव में बहुत कुछ विरोधों की महासंधी करने में प्रयासरत है। वे धर्म और राजनीति, दुश्मन और पडोसी, के संधि में लगे हुए हैं। बाणभट्ट जब भट्टिनी के आदेशानुसार सौगत सुगतभद्र की ओर जाता है। तो वे सबसे पहले कुमार को ही बुलाते हैं।"[546] कुमार ही भट्टिनी, निपुणिका और बाण के निकलने की व्यवस्था करते हैं। एक जिम्मेदार व्यक्ति को गुणग्राही होना चाहिए।

[545] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ 79

[546] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 80

हजारीप्रसाद द्विवेदी भी अपने समय की नारी की इस दयनीय स्थिति से क्षुब्ध थे। अतः इस उपन्यास में उन्होंने "भट्टिनी, निपुणिका महामाया और सुचरिता द्वारा नारी की महिमा, उसकी शक्ति, उसकी तेजस्विता तथा उसके हृदय की कोमलता एवं चरित्र की उदात्तता उजागर किया है। बाणभट्ट के रूप में वह नारी-शरीर को देवता का मन्दिर मानते हैं। बाणभट्ट का निउनिया तथा भट्टिनी के प्रति व्यवहार, आचरण इसी विचार पर टिका है कि नारी का शरीर देवता का मन्दिर है, स्त्री भाग्या या काम-पूर्ति का साधन मात्र नहीं है तथा महामाया के शब्दों में उसे शक्ति-स्वरूपा तथा उत्सर्गमयी बताते हैं।"[547]

लोरिकदेव भद्रेश्वर दुर्ग का आभिर सामन्त है। वह एक सफल योद्धा है और कूटनीति से उसका कोई परिचय नहीं है। उसके अपने कथन के अनुसार घोड़े की पीठ पर विश्राम किया है। उपन्यास में लोरिकदेव का प्रवेश दो तीन बार है, जबकि नाटक में लोरिकदेव का प्रवेश एक बार ही है। लोरिकदेव प्रखर देशभक्त है और संवेदनशील है। नाटक में सफलता से लाया गया है। उपन्यास का नाटक में रुपांतरण करते हुए कुछ परिवर्तन होना सहज है। हर विधा के अनुसार रचनाकार उसमें कुछ परिवर्तन करता है। यह परिवर्तन कथानक, संवाद, पात्र यहाँ तक की उद्देश्यों में भी होते हैं। भाषा और शैली तथा देशकाल में भी परिवर्तन देखे जा सकते है। यह परिवर्तन जितने कम किए जाएँगे और जितनी सफलता से उद्देश्य संप्रेषित किया जाएगा वह परिवर्तन उतना सफल होगा।

उपन्यास के पात्रों के संदर्भ में डॉ. बेचन जी ने लिखा है "द्विवेदी जी मूल रुप में आलोचक है, जिनकी दृष्टि भारतीय संस्कृति एवं आधुनिक मान-मूल्यों पर भी रही है। इसीलिए इन उपन्यासों में भी उनकी वह तटस्थ यथार्थ दृष्टि उपन्यास को शुष्क इतिहास और बेजान पात्र न देकर जीवन्त मानव देती है।"[548] नाट्यरुपांतरकार ने इस उपन्यास के प्रमुख पात्रों को नाटक में लाया है, कुछ पात्रों को छोड़ भी दिया है। उपन्यास के कथानक से नाटक में यह पात्र विलुप्त हो गए है।

अघोरघंट और चंडमंडना ये दो पात्र भी छूटे पात्रों में है। "ये बाणभट्ट को सम्मोहित करते है। अघोरपंथी क्रिया का पालन करने वाले ये पात्र वैसे मंचन पर लाना भी बिभत्स क्रिया है। सुचरिता और विरतिवज्र ये दो महत्त्वपूर्ण पात्र छूटे पात्रों में है। उनका कथानक बाण के साथ चलने वाला एक गौण कथानक है लेकिन कथानक की कडियाँ जोडनेवाला एक महत्त्वपूर्ण कथानक है। सुचरिता भक्तिमती है। वह भक्ति में लगी निपुणिका की सखी है जो काफि बदनाम है।"[549] उपन्यासकार,

[547] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 171

[548] त्रिभुवन सिंह : ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाण भट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या 7

[549] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 81

भट्टिनी, निपुणिका और सुचरिता तथा आगे चारुस्मिता में भक्ति का एक सूत्र निर्माण करते हैं। उपन्यास के नाटक से छूटे पात्रों में पहला महत्त्वपूर्ण पात्र है चंडी मंदिर का पूजारी। यह मूर्ख व्यक्ति है। भट्टिनी को बचाने के बाद बाणभट्ट का सबसे पहला मुकाबला इसी से होता है। यह पात्र उन व्यक्तियों का प्रतिक है जो अपने विशेष उद्देश्य सफल करने के लिए धर्म की आड़ लेते है। उसके उद्देश्यों में धन और नारी प्राप्ति मुख्य उद्देश्य है। इस नाटक में अभिनेता और उनकी अभिव्यक्ति अपने चरम पर है, जहाँ पात्रों की रचना करनी है वहां रचना की गई है तथा जहाँ कुछ पात्रों के संवादों को काट-छांट भी किया गया है। नए पात्रों की सृजन और उपन्यास में दिए हुए पात्रों को मंचन के अनुसार प्रयोग किया गया है।

4.4.4 नाट्य प्रस्तुतियों का विश्लेषण

"किसी से ना डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।"[550] एम.के. रैना ने संभवतः इसी उक्ति को अपनी प्रस्तुति का भी प्रवेश द्वारा बनाया है लेकिन इस द्वार पर जो संदेश अंकित है वह है कि सभी में एक ही रागात्मक हृदय की उपस्थिति होनी चाहिये। प्रस्तुति इसी संदेश को रेखांकित करती है। बाणभट्ट की आत्मकथा को हिन्दी उपन्यास परंपरा में जटील उपन्यासों की कोटि में रखा जाता है। साथ ही यह उन उपन्यासों में से एक है जो अपने भीतर अर्थ की अनेक संभावनायें दबाये हुए हैं, जो आलोचकों से, पाठकों से एक विशेष योग्यता की उम्मीद करता है. एम.के. रैना निर्देशित प्रस्तुति भी एक विशेष दर्शकीय योग्यता की मांग करती है।

नाटक के संवाद हर अभिनेता एक अनावश्यक उत्तेजना में अभिव्यक्त करता है। बिना किसी गंभीरता के वह संवाद बोले गए। निपुणिका हो या बाण बड़े उत्तेजित आवाज में अपने अपने संवाद बोलते है। कुछ स्थानों पर मूल नाटक में न आने वाले संवाद भी आ गए है। जैसे बाणभट्ट के स्त्री वेश के प्रवेश में "मित्तिया-आय हाय"[551] यह संवाद एक स्त्री पात्र बोलती है। यह मूल नाट्य संहिता में कहीं भी नहीं है। आवाज के उतार चढ़ाव से संवादों का प्रभाव निर्माण होता है, ऐसा प्रतीत हुआ, सब कुछ बहुत जल्दबाजी में हो रहा है। अतिअभिनेयता का भी दोष अभिनेताओं में होता है। वहीं सौगत सुगतभद्र के साथ बोले गए संवाद में देवपुत्र के संदर्भ में बड़े सुंदर हैं। सौगत सुगतभद्र उपन्यास में वृद्ध पात्र है। मंचन में युवा है और उसके संवाद भी एक युवक जैसे हैं। अभिनेता अभिनय एक ही शैली में अभिनय कर रहे है। इससे तात्पर्य यही नहीं की सब कुछ बुरा ही है। होलिकोत्सव का दृश्य बड़ा ही प्रभावी है। शिविकाओं में बैठने का दृश्य बड़ा सुंदर है। वहाँ बाणभट्ट और निपुणिका का नृत्य बड़ा अनावश्यक है लेकिन भट्टिनी का लजाने का अभिनय बेहद सुंदर है। नाव जाने का दृश्य भी बड़ा ही मनमोहक है। अघोरभौरव का हास्य बड़ा ही विकट हास्य है। यहाँ पर भी नाटक में वर्णित अघोरभैरव की तुलना में पात्र युवा दिखाई देता है। अगले दृश्य में बाणभट्ट का विग्रहवर्मा पर शस्त्र लेकर जाना दिखाया गया है जो नाट्य संहिता में नहीं है। नाट्य रुपांतरकार ने नाटक में जो रत्नावली की कथा जोड़ दी है उस का भी अभिनय अच्छा हुआ है। "मौन मन कुछ बोल रहा है, बन्द बाजा खोल रहा है' यह गीत नाट्य कृति में एक अनोखा रंग भर देता है।"[552] भले ही उपन्यास के पूरे दृश्य नाटक में नहीं दिखाए गए लेकिन नाटक में बहुत सारे दृश्यों का अच्छे से संयोजन हुआ है। उस आधार पर हम यह कह सकते है कि बाणभट्ट की

[550] हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या- 21

[551] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 182

[552] डॉ. गोविन्द बुरसे : बाणभट्ट की आत्मकथा नाट्य रूपान्तरण एक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 91

आत्मकथा का यह नाट्यरुपांतरण सफल हुआ है। विधा परिवर्तन की यह कोशिश निश्चित ही एक सफल कोशिश है और विधा परिवर्तन के लिए एक दिशा देने वाली साबित होती है। कुल मिलाकर नाट्य अभिनय इस तरह से हुआ है।

प्रस्तुति की परिकल्पना बेहतर ढंग से की गई है। उपन्यास के चुनिंदा प्रसंगो का रेखिय ढंग से छोटा-छोटा विभाजन कर दृश्य योजना की गई है। अवांतर प्रसंगो को हटाकर मुख्य कथा को केन्द्र में रखा गया है। इससे नाटक थोड़ा सा सरल हो जाता है लेकिन उपन्यास में वर्णित बहुत से सारे द्वंद्व छूट जाते हैं। इस प्रक्रिया में प्रस्तुति के सभी दृश्य अलग अलग ढंग से दर्शकों पर अपना प्रभाव छोडते हैं। कुछ दृश्य जहां उम्दा बन पड़े हैं जैसे अघोर भैरव वाला एक ही दृश्य अभिभूत कर देता है वहीं निउनिया और बाण के प्रथम भेंट वाला दृश्य ही कमजोर पड़ जाता है। केन्द्रीय चरित्र दो पात्रों में बांट दिया गया है एक पात्र जिस समय कथावाचन कर रहा होता है दूसरा एक्शन। इससे नाटक की इकाई भंग नहीं होती और दोनों अभिनेता (अम्बरीष सक्सेना और पुंज प्रकाश) कुशलता से अपनी भूमिका निभाते हैं। वैसे एक दृश्य को छोड़ कर कभी भी यह विभाजन पात्र के भीतर इतना नहीं उतरता। इसी तकनीक का इस्तेमाल कर नीलम मान सिंह अपने पात्रों के दोनों स्तरों का दर्शन करा देती हैं लेकिन इस नाटक में चूँकि बाणभट्ट का बाह्य द्वंद्व ही इतना अधिक है कि उसे स्वंय अवकाश नहीं कि वह अपने भीतर इतना उतर पाए। वैसे वह अपने बारे में बता चुका है कि वह सामान्य मनुष्यों की तरह उचित और अनुचित के विवेक से अपना रास्ता नहीं चुनता बल्कि अपने विवेक से उचित अनुचित को तय करता है। "वह स्त्री शरीर को देव मंदिर समझता है और इसके उद्धार के लिये कोई भी प्रयत्न कर सकता है।"[553] प्रस्तुति में ध्वनि और प्रकाश प्रस्तुति को रोचक बनाते हैं और इसके फ़लक को बढा देते हैं जो उपन्यास की सरंचना के साथ न्याय करना है लेकिन मंच के बीच में रखी गोलक जैसी आकृति जो स्पेस का अधिक हिस्सा घेरे हुए है उसकी उपयोगिता समझना कठिन है।

कुछ अभिनेता छोटी भूमिकाओं में सटीक अभिनय किया है। सुकुमार टुडु एक ही दृश्य में अघोर भैरव और उसके वाक्य को स्थापित करते हैं। "इसी तरह कुमार कृष्णवर्धन की भूमिका में सुनील और लोरिक की भूमिका में अनुप त्रिवेदी प्रभावित करते हैं लेकिन निउनिया के महत्त्वपूर्ण किरदार को अनामिका ने जिस लाऊड तरिके से निभाया है वह खटकता है और रस बाधा उत्पन्न करता है। पहले ही दृश्य में उन्होंने महत्त्वपूर्ण संवादों का गला घोंट दिया है। मंच पर रंगो का चुनाव बहुत ही आकर्षक है। मंच के आगे पानी का ताल और उस पर पड़ रहा प्रकास एवं गगनिका पर

[553] अमिताभ श्रीवास्तव : बाणभट्ट की आत्मकथा (नाटक रस प्रसंग) पृष्ठ संख्या 184

उखड़े पेड़ का चित्र प्रभावी है। कुछ उत्सवधर्मी दृश्य भी आकर्षक है जो टोटल थियेटर के नज़दीक नाटक को ले जाते है। प्रस्तुति कि एक खास बात है कि वह दर्शक को शामिल करता है।"[554] प्रस्तुति की शुरुआत दर्शकों के पीछे से गाते नाचते हुए जनों के आगमन से होती है और अंत में भी यहीं जन मंच से दर्शकों से होते हुए प्रेक्षागृह के बाहर निकल जाते हैं। बाणभट्ट की आत्मकथा में निहीत अंतर्पाठियता और भाषा को बिना उबाउ हुए संभाल देना भी सराहनीय है। प्रस्तुति इस बात को रेखांकित करता है कि पहले भारतीय समाज में व्याप्त अनेकता को दूर करना जरूरी है। प्रत्यंत दस्युओं के भय से एक होने से अच्छा है कि समाज अपने अंतर्विरोधों को त्याग कर सहज रूप से एक हो. साथ ही नारी तत्त्व, सत्य, भगवान और भक्त इत्यादि कई विचारों को प्रस्तुति ध्यान में रखती है। उपन्यास का फ़लक इतना विस्तृत है कि प्रस्तुति में सबको समेट पाना सहज नहीं। इसके बावजूद इसका नाट्य रूपान्तरण और इसका मंचन सराहनीय है।

[554] अलाव : संपादक - राजकुमार कृषक, अंक 42, मई अगस्त 2014, पृष्ठ संख्या 49

अध्याय 5

हिंदी रंगमंच के विकास में कथा साहित्य का योगदान

5.1 हिंदी रंगमंच के नए आयाम

भारतीय रंगमंच के इतिहास में कथावाचन, कथागायन और आख्यान की मौखिक परम्परा अतिप्राचीन है। युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप इन कथाओं ने लिखित कविता एवं कहानी का रूप लिया और इन्हें लिपिबद्ध किया जाने लगा। कथाकार कहानी का सृजन पाठकों और श्रोताओं के लिए करता है। कहानी के आधुनिक लिखित एवं प्रकाशित साहित्य-रूप को पाठक और श्रोता की सीमा लाँघकर सीधे दर्शकों तक लाने का प्रयास कहानी के रंगमंच द्वारा किया जा रहा है। पूस की रात, शतरंज के खिलाड़ी, गुल्ली डंडा, बड़े भाई साहब, कफन, सवा सेर गेहूं, एक स्त्री एक पुरुष, माता- विमाता, अकेली आदि कहानियां तथा निर्मला, रंगभूमि, संस्कार, डार से बिछुड़ी, अपना मोर्चा, अनारो, अपने अपने अजनबी, कसप आदि उपन्यासों के नाट्य रूपान्तरण से हिंदी रंगमंच में एक नयी ऊर्जा का संचार हुआ है। ऐसी सैकड़ों अनुदित रचनाएँ हैं जिनके के मंचन से रंगमंच की दृष्टि और भी व्यापक हुई है।

हिन्दी रंगमंच पर संगीत, नृत्य, चित्रकला, कविता, कथा-साहित्य आदि को लेकर विभिन्न प्रयोग हो रहे हैं और इन विधाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को रंगमचीय निकष पर कसते हुए इनमें अभिनय, रंग-भाषण आदि के नए रूप और उनकी मर्यादाओं को रेखांकित करने के प्रयास हो रहे हैं। "वर्तमान दौर में जिस तीव्र गति से विज्ञान और तकनीक दुनिया को बदल रहे है उससे आज का मनुष्य धीरे-धीरे मशीनों एवं तकनीक पर आश्रित होता जा रहा है। नई तकनीक अभी पूरी तरह से नई भी नहीं रह पाती तब तक उसका अपडेट वर्जन आ जाता है। हम इसी दौर में जी रहे हैं जहाँ नया, नया न होकर एक झटके में पुराना हो जाता है।"[555] तकनीक से लेकर साहित्य में नित नए प्रयोग हो रहे हैं जिनका सीधा प्रभाव पाठक और समाज पर पड़ता है। "विज्ञान और तकनीक के इस दौर में साहित्य को ही नहीं बल्कि रंगमंच को भी प्रभावित किया है। रंगमंच का मुख्य सार नाटक की प्रस्तुति में होता है तथा नाटक का मुख्य सार उसके आलेख में लिखे हुए शब्दों में नहीं अपितु मंच पर घटित कार्य-कलाप या कार्य व्यापार में होता है अर्थात नाटक के मंचन में होता है।"[556] समाज जितना अधिक प्रयोगशील होगा वह समाज उतना जल्दी विकसित होगा। प्रयोग एक क्रिया

[555] राम सागर त्रिपाठी : भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 45

[556] डॉ. नगेन्द्र : आधुनिक हिंदी नाटक, पृष्ठ संख्या 111

है और साथ ही विकास का आधार भी है। परम्परा और प्रयोग के द्वद से विकास के नए द्वार खुलते है। साहित्य के क्षेत्र में भी हर युग में प्रयोग हुए है, प्रत्येक रचनाकार कुछ नया देने के लिए प्रयोग करता है। साहित्य के नए आयामों का परिचय देता है।

इस दौर में अब हर क्षेत्र में कुछ नया करने की लालसा कई प्रकार के प्रयोग करने के लिए हमारे मन मस्तिष्क को प्रोत्साहित करती है। आज हम नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में प्रयोग शब्द को एक दूसरे अर्थ में लेते हैं और वह यह कि जब भी रंगमंच में कोई नया तत्व, युक्ति या शैली दिखाई पड़ती है, हम उसे प्रयोग की संज्ञा दे देते हैं। भरतमुनि ने जिन अर्थों में प्रयोग शब्द का उल्लेख किया है वह यह है कि "वह आज से कहीं ज्यादा व्यापक और गहराई लिए हुए हैं। उनके अनुसार हर प्रदर्शन इसलिए प्रयोग है क्योंकि इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि हम जो नाट्य विभिन्न तरह के प्रयोगों से प्रस्तुत करने जा रहे हैं उसका मंचन उस दिन विशेष में सफल ही होगा अर्थात वह मंचन सही मायनों में अधिक से अधिक एक प्रयोग ही कहा जा सकता है जिसकी सफलता- असफलता एक साथ कई चीजों पर निर्भर करती है जिनमें आलेख का चयन, अभिनेताओं की तैयारी, मंच-सज्जा, रंगदीपन, वेशभूषा, रूप-राज्जा, मंच-उपकरण और अभिनेता के साथ इन सब चीजों का ठीक-ठीक सयोजन और अन्ततः दर्शक की प्रतिक्रिया।"[557] सत्ता और पूंजीवादी व्यवस्था के आगे मनुष्य का व्यक्तित्व छोटा हो गया है। आज जीवन की परिभाषाएँ बदल रही है मनुष्य के मस्तिष्क में बसी हुई पुरानी मान्यताएं, धर्म एवं भगवान के प्रति नैतिक धारणाओं के पैमानों में बहुत गहरा और आमूल-चूल परिवर्तन आया है। वर्तमान समय में तीव्र गति से करवट ले रही राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के कारण अब साहित्य, सिनेमा तथा रंगमंच में नए भाव बोध का अनुकरण हो रहा है तथा नए दृष्टिकोण एवं नए आयाम स्थापित करने की कोशिश हो रही है। हिंदी रंगमंच केवल हिंदी भाषा में लिखे नाटकों का मंच नहीं वरन किसी भी अन्य भाषा से अनुदित या रूपांतरित होकर हिंदी में मंचित होने वाले नाटक भी हिंदी रंगमंच का ही हिस्सा है। वर्तमान हिंदी रंगमंच में आज विसंगतियों, तनाव, उलझन, शोषण, मानवीय विडम्बनाएं एवं विकृतियाँ सब मिलकर नए रंगमंच का आधार तैयार कर रहे है। इस विषय में नाट्य आलोचक डॉ. सुरेश वशिष्ठ की मान्यता है कि "आज का नाटककार मंच की अधिक से अधिक क्रियाशीलता, सजीवता, स्वभाविकता और दर्शक से अपनी निकटता में विश्वास करता है। इतनी निकटता में कि नाटक उसे अपने बीच में से उत्पन्न होती परिस्थिति जान पड़े।"[558] आज का समय अर्थ प्रधान का समय है आज अर्थ अर्थात धन को इस काल का सबसे बड़ा हथियार माने जाना लगा है। बदलते मानवीय

[557] देवेन्द्र राज अंकुर : दूसरे नाट्यशास्त्र की खोज, पृष्ठ संख्या 49

[558] गिरीश रस्तोगी : नटरंग, नाटक में नवीनता की मांग, पृष्ठ संख्या 10-11

एवं जीवन मूल्य के विषय में नाट्य चिन्तक गोविन्द चातक का मानना है कि "स्वतंत्रता से पूर्व जीवन की एक दिशा थी, एक सुनियोजित लक्ष्य था और उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सेवा, संकल्प, त्याग और बलिदान के वांछित आदर्श थे। स्वतंत्रता आई तो प्राप्ति के साथ ही उससे सम्बन्धित आदर्श भी आंखों के रस्ते तिरोहित हो गए। उनके विरोहित होते ही सबकी त्यागी, तपस्वियों य अवसरवादियों की नजरे अपने स्वार्थ पर केन्द्रित हो गई। इस से कई विसंगतियां पैदा हुई जिनमें बेकारी, भुखमरी, सामाजिक अन्याय, असमानता, काला बाजारी, तस्करी, शोषण कुल मिलाकर भौतिकवादी दृष्टि से सामाजिक विसंगतियों के बीच इतनी प्रभावशाली भूमिका निमाई कि सारे परिवेश और जीवन मूल्य टूटते दिखाई देने लगे है।"[559] बदलते जीवन मूल्य हमारी संस्कृति और सभ्यता दोनों को ही प्रभावित कर रहे है। अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के स्तर पर किए जाने वाले नए प्रयोगों की प्रक्रिया ही प्रयोगवादिता कहलाती है। प्रयोगवादिता में नए प्रयोगों के नाम से प्रयोगों का सदुपयोग एवं दुरुपयोग दोनों हो सकते हैं। नाटक और रंगमंच में प्रयोग कभी-कभी दर्शकों को चौकाने के लिए किए जाते है तो कभी कभी नई प्रस्तुति को पुरानी प्रस्तुती से बिल्कुल अलग दिखाने के लिए, अधिकतर यह नाटक के निर्देशक के ऊपर निर्भर करता है कि वो प्रस्तुति में किस प्रकार और किस तरह के प्रयोग करना चाहता है।

हिंदी रंगमंच का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसमें नाटक और नुक्कड़ नाटक हैं और साथ ही कहानी के मंच भी मौजूद हैं। रंगमंच पर कहानी की प्रस्तुत ऐसे आलेखों का मंचन है जो मंच के लिए लिखे ही नहीं गए। ये ऐसे नाट्य प्रयोग हैं जिनके लिए न तो स्वयं का कोई व्याकरण है और न ही कोई पद्धतिशास्त्र। इनकी प्रस्तुतियाँ निर्देशक और अभिनेता के विवेक तथा कौशल पर पूर्णतः निर्धारित होती हैं। इसमें दर्शकों का ध्यान अभिनेता पर केन्द्रित होता है अतः अभिनेता का दायित्व और भी बढ़ जाता है। अभिनेता का काम चुनौतीपूर्ण होने के साथ-साथ रोमांचक भी होता है। "कहानी की मंचीय प्रस्तुति, अभिनेता के अभिनय कौशल, सम्प्रेषण सामर्थ्य और अभ्यास पर निर्भर करती है। वह अपने अभिनय से प्रस्तुति को सजीव अथवा निर्जीव बना सकता है। इन रंगमंचीय प्रयोगों में मंच-सज्जा का अभाव होता है अतः इसकी पूर्ति करने हेतु अभिनेता को कभी कटा-छँटा वृक्ष बनना पड़ता है, कभी खम्भा, कभी चौराहा, तो कभी-कभी कुर्सी और मेज भी बनना पड़ता है।"[560] सूत्रधार, टिप्पणीकार, चरित्र और वर्णनकर्ता के साथ-साथ यह अभिनेता मंचीय उपकरण भी होता है और कभी-कभार ध्वनि प्रभाव देने वाला यन्त्र भी। वर्णनात्मक कहानी में अभिनेता को वर्णन को जीवन्त बनाना होता है ताकि दर्शकों का ध्यान लगा रहे। इस हेतु उसे

[559] डॉ. सुरेश वशिष्ठ : हिंदी नाटक और रंगमंच पर ब्रेख्त का प्रभाव, पृष्ठ संख्या 37-38

[560] देवेन्द्र राज अंकुर : कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 32

बहुत से अभ्यासों, जैसे- सम्भाषण, अभिव्यक्ति, अन्तर्निहित पाठ और विराम आदि से गुजरना पड़ता है। ऐसी प्रस्तुतियों में उसकी एकमात्र सम्पत्ति उसका शरीर और वाणी ही होती है। तात्पर्य यह कि कहानी की मंचीय प्रस्तुति में अभिनेता स्वयं अपने को निचोड़ने की अनुभव-प्रक्रिया से गुजरता है। यदि अभिनेता इन मर्यादाओं के आगे या पीछे जाता है तो कविता अथवा कहानी की रंगमंचीय सीमाएँ टूट जाती हैं। यह उल्लेखनीय है कि "कहानी में कोई भी सार्थक कथा-प्रयोग अपने में नाटकीय हो सकता है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह मंचन के लिए भी उपयुक्त ही होगा। इनके मंचन में दृश्य और श्रव्य दोनों ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं। मंच के आलोक में दोनों एक-दूसरे को प्रकट करते हैं। इसी के साथ मंचन में भाषा के साथ भी न्याय करना पड़ता है। रंगमंच का दर्शक पाठक की तरह, अभिनेता के मुख से उच्चरित शब्दों को मात्र सुनता ही नहीं देखता और पढ़ता भी है।"[561] यह अभिनेता के माध्यम से शब्दों को देखता है और उनमें छिपी सूक्ष्म संवेदनाओं के कम्पन का अनुभव करता है। अतः यह आवश्यक है कि कविता या कहानी के मंच का अभिनेता शब्दों की शक्ति और उनकी सामर्थ्य का जानकर हो।

हिंदी रंगमंच ने परम्परा के उन तत्वों को ग्रहण किया हुआ है जो जीवंत है तथा जो प्रयोगशील प्रवृति के साथ प्रतिमान स्थापित कर सकते है रंगमंच वैसे भी एक सामूहिक कला है जो समाज की रीतियों पर आधारित होती है और यह रीतियाँ समयनुसार बदलती रहती है। प्रयोग की परम्परा में इक्कीसवीं सदी का हिंदी रंगमंच प्रयोगवादिता का साक्षी है। रंगमंच के हर क्षेत्र और पक्ष में लगातार प्रयोग किए जा रहे। प्रयोग की यह परम्परा केवल हिंदी रंगमंच ही बल्कि विश्व के प्रत्येक देश के प्रत्येक रंगमंच में निश्चित गति से आगे बढ़ रही है। "प्रयोग के अनेक स्तरों से गुजर कर हिंदी नाटक के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। कथ्य और शिल्प दोनों में बदलाव आया है और मंचन ही अब नाटक का लक्ष्य बन गया अब नाटक के लिए न स्थूल कथ्य चाहिए न काव्यात्मक भावुकता। अब नाटक यथार्थ की भूमि पर विचरने वाला आम आदमी है जिसे अपनी भाषा में अपनी बात पूरी इमानदारी से कहनी है।"[562] आधुनिक हिंदी रंगमंच में मंचित होने वाले नाटक, कथ्य, भाषा, सम्वाद, दृश्य-विन्यास, प्रकाश-संयोजन के साथ रंगमंच से दर्शकों को जोड़ने की प्रक्रिया में भी प्रयोगों का प्रयोग किया जा रहा है तथा आज रंगमंच में नाटक के प्रत्येक स्तर से रंग संस्कारों के प्रयोग का रंगकर्मियों का स्वाभाव बन गया है। अगर हम हिंदी रंगमंच की बात भारत के सबसे हिंदी भाषी राज्यों राजस्थान, मध्यप्रदेश उत्तर प्रदेश, बिहार के रंगमंच के उत्तर आधार पर करे

[561] कपिला वात्स्यायन : पारंपरिक भारतीय रंगमंच, पृष्ठ संख्या 147

[562] डॉ. चन्द्र : सर्जना के तेवर, पृष्ठ संख्या 29

तो हिंदी रंगमच की स्थिति बहुत ही अफसोसजनक जनक है। इतने बड़े राज्यों में रंगमंच के नाम पर तो रंग करने के लिए मंच नहीं है रिहर्सल करने के लिए स्थान नहीं मिल पाता है। "दिल्ली के मंडी हाउस इलाके में नाटकों के लिए उपयुक्त सभागारों का एक दिन का किराया ही बीस से पचास हज़ार के बीच पड़ता है। टिकटों की कीमत ऊँची रखने और सारे टिकट बिकने पर भी वह वसूल कर पाना यहां के रंगकर्मियों के लिए टेढ़ी खीर होता है। इसके अलावा रिहर्सल की जगहों का भी संकट होता है। इसलिए आवश्यक हो जाता है की प्रस्तुतियों के लिए नए-नए मंच तैयार किए जाए।"[563] अतः कई निर्देशक ऐसे नाटकों का चयन करने लगे जिनके प्रदर्शन के लिए किसी खास तरह की रंगशाला की आवश्यकता न हो बल्कि किसी भी स्थान पर प्रस्तुति की जा सके। पिछले कुछ सालों में नाटक घरो में ड्राइंग रूम, सोसाइटी के हॉल, अपार्टमेंट कंपाउंड में तथा घरों की छतों पर भी प्रस्तुतियां की गई हैं। रंगमंच, आज तक सबसे तात्कालिक तरीका साबित हुआ है जिसमें एक इंसान दूसरे के साथ अपने भाव साझा कर सकता था लेकिन यह तब ही संभव है जब कोई दर्शक भी हो। सूचना के इस समय में भी बहुत से उत्साही रंगकर्मी है जो नए दर्शकों को लाने के लिए विभिन्न प्रयासों को आजमाते रहते हैं। इस दौर में रंगमंच बड़े दबाव में है जहाँ मोबाइल फोन और टीवी इसके लिए हमेशा नई तरह की चुनौतियाँ लेकर आता है।

कहानी किसी घटना या स्थिति का किया गया वर्णन है जिसमें वह वर्तमान में अतीत की सूचना बनती है। अतः कहानी मूलतः पाठ्य-साहित्य की सोचाओं में आती है। पुस्तक के पृष्ठों में समाई कहानी को पढ़ने-सुनने के संकीर्णत से निकालकर उसे सीधे दर्शकों के सामने लाना और प्रस्तुति के माध्यम से समूहपन का अनुभव बनाना ही कहानी का रंगमंच है। "इस नवीन नाट्य प्रयोग में कहानी सामूहिक अनुभव में ढलती है जिसमें दर्शक भी साझा करते हैं। इन प्रयोगों में कहानी के ये नये रूप कथावाचकों, चारणों, किस्सागो, बतालिकों आदि से भिन्न हो जाते हैं क्योंकि इनमें नयी संवेदना के साथ दर्शक या पाठक से संवाद स्थापित करने का प्रयास निहित है। कहानी के रंगमंचीय प्रयोग रचनाकार, अभिनेता और दर्शक के बीच एक नवीन सम्पर्क सूत्र स्थापित करते हैं।"[564] यह सोचना भ्रामक होगा कि नाटकीयता केवल नाटक विद्या की सम्पत्ति है। यथार्थतः कला की हर विधा अलग-अलग ढंग से नाटकीय होती है। यह इसलिए क्योंकि यह अलग-अलग रूपों में दुनिया से अपने को जोड़ती है और जीवन के अन्तर्विरोधों की प्रतीति करवाते हुए उच्चतम जीवन-लक्ष्यों की ओर अग्रसर करती है। दृश्यकाव्य एक ऐसा कला-रूप है जिसमें नाट्य प्रस्तुति और साहित्य दोनों का वजन बराबर होता है। आज हमें भारत भर में

[563] राम सागर त्रिपाठी : भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 81

[564] देवेन्द्र राज अंकुर : कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 45

पारम्परिक अथवा लोकनाट्यों के जो शताधिक रूप उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें से अधिकांश इसी नाट्य परम्परा से विकसित हुए हैं। कहानी के रंगमंचीय तार भी कहाँ न कहीं उत्ती परम्परा से जुड़ते हैं किन्तु ये उसके सम्पूर्ण समकालीन रूपान्तरण है।

कहानी के रंगमंच के दर्शकों को कहानी पढ़ने और देखने का अनुभव एक साथ होता है। कहानी की रंगमंचीय प्रस्तुति भी अभिनय की प्रचलित पद्धति से भिन्न होती है। "रंगमंचीय कहानी का नाटक के किसी अभिनेता की तरह न तो आद्योपान्त एक भूमिका का निर्वाह करता है और न ही नाट्य आलेख से मिलने वाली सहायताओं-दृश्यबन्ध, रंगोपकरण, वेशभूषा, रूपसज्जा, पार्श्वसंगीत, ध्वनिप्रवाह आदि का उपयोग कर सकता है। यहाँ कहानी और रंगमंच के मध्यवर्ती अन्तर को देखते हुए, जो है उससे अधिक की माँग की जाती है।"[565] इस प्रयत्न में कहानी के रंगमंच का अभिनेता, कहानी-सत्य का अनुभव करते हुए उस दृश्यभाषा को चुनता है जिसमें वह लेखक, निर्देशक और स्वयं की कहानी एक साथ दिखाता- सुनाता है। इस तरह कहानी कार की कहानी और अभिनेता द्वारा अभिनीत पात्र एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं। सम्पूर्ण प्रक्रिया में कहानीकार, अभिनेता और दर्शक, तीनों के 'स्व' एक-दूसरे में घुल-मिलकर साझा अनुभव बन जाते हैं।

कहानी के रंगमंचीय प्रयोगों में ध्वनि का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। "अभिनेयता क्रम में अभिनेता बार-बार शब्दों के पास वापस आता हुआ उन ध्वनियों को भी रेखांकित करता है जो अनुभव के सत्य का साक्षात्कार करने में मंचन का अनिवार्य अंग होती हैं। इसीलिए कहानी में निहित सूचनाओं को वर्तमान में लाने के मंचीय प्रयास में वर्णनकर्ता और वाचक भी आता है।"[566] वास्तव में, इन मंचीय प्रस्तुतियों में संवाद, वर्णन और मौन की ध्वनियाँ परस्पर इस तरह जुड़ी रहती हैं कि का अर्थ दूसरी के बिना खुल ही नहीं पाता। इस क्रम से गुजरते हुए अभिनेता मंचीय प्रस्तुति को उसके उच्चतम सम्भावना बिन्दु पर ले जाता है। कहानी में निहित सूक्ष्मतम ध्वनियाँ मंच पर दृश्य में रूपावित होती हैं। यही रूप नाटक से अलग हटकर एक नवीन कला-रचना और कलात्मक अनुभव बनकर सामने आता है। इन उल्लेखनीय तथ्यों के प्रकाश में कहानी की रंगमंचीय सीमाओं का निर्धारण किया जा सकता है।

कहानी के रंगमंच, मंचीय साहित्य की नयी शैली हैं। इनके रंगमंच में कहानी की प्रस्तुति इस तरह की जानी चाहिए कि उनका मूल रूप विकृत न हो और उनमें बिना जोड़-तोड़ किए दर्शकों को नाटक का रसास्वादन हो सके। "नाटकीय प्रस्तुति में कहानी का क्रमविन्यास भी परिवर्तित नहीं

[565] डॉ. विश्वनाथ मिश्र : भारतीय नाट्यशास्त्र और आज का रंगमंच, पृष्ठ संख्या 25
[566] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक, दृष्टि और शिल्प, पृष्ठ संख्या 67

किया जाना चाहिए। कहानी पढ़ते समय पाठक की कल्पना कहानी को दृश्यों में बदलती रहती है किन्तु रंगमंच पर दिखाई जाने वाली कहानी में दोनों प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। यहाँ पाठक मात्र श्रोता नहीं, दर्शक भी बन जाता है। कविता या कहानी के वर्णन वाले स्थल, उन्हें मंच पर प्रस्तुत करने वाले अभिनेता से जुड़ जाते हैं। कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब मंचीय भूमिका का निर्वाह अभिनेता वर्णनात्मक भाग का वाचन भी साथ-साथ करता है।"[567] यही नहीं कथ्य के अनुसार मैं, आप, तुम, वह आदि की भूमिकाओं से होते हुए उसे कई बार अनेक पात्रों के लिए वाचन भी करना पड़ता है। कहानी के रंगमंच में वृत्तान्त कथन को हटाया अथवा निकाला नहीं जा सकता, उसे यथावत रखा जाता है। कहानी के रंगमंचीय प्रयोग अपने आप में स्वतन्त्र विधा है और नाटक विधा से हटकर है। इसकी प्रस्तुतियों का स्वरूप अभिनव है अतः इनका कोई रंगमंचीय व्याकरण अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। नाटक के नियम-कायदे इन पर लागू नहीं होते और न ही नाट्यशास्त्र की सीमाओं में इन्हें जकड़ा जा सकता है। कविता को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के निमित्त कोई नाट्यालेख तैयार नहीं किया जाता। इन प्रस्तुतियों में समस्त अभिनय अभिनेता ही करता है अतः अलग से सूत्रधार या वाचक की व्यवस्था नहीं की जाती किन्तु आवश्यकतानुरूप एकाधिक वाचक का नियोजन किया भी जा सकता है।

कहानी के रंगमंच के निर्देशक से यह अपेक्षा रहती है कि उसमें कथ्य के प्रति गहरी सूझ-बूझ हो। परिपाटी के अभाव में उसे अपने समस्त कार्य स्व-विवेक से करने होते हैं क्योंकि नाटक का निर्देशक जहाँ नाट्य व्याकरण की ठोस भूमि पर खड़ा होता है कहानी का निर्देशन निराधार होता है। "नाटक में अभिनेता प्रारम्भ से उसके अभिनयान्त तक एक ही भूमिका को निभाता है किन्तु कहानी के रंगमंच का अभिनेता अनेक भूमिकाओं का निर्वहन करने के साथ-साथ अन्य अनेक भूमिकाएँ भी निभाता है। उसे कहानी के कथन में अपनी ओर से कुछ जोड़ने अथवा उसके किसी अंश को हटाने की अनुमति भी नहीं है।"[568] अभिनेता के लिए यह भी चुनौती है कि वह कहानी में छिपी नाट्य क्रियाओं को तलाशे और वृत्तान्त कथन के साथ कल्पनाशील संयोजन करते हुए उनका अभिनय करे।

कहानी की रंगमंचीय मर्यादाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि ये रंगमंचीय प्रयोग नाटक के विकल्प या स्थानापन्न नहीं हैं और न ही नाटकीय स्वाद-परिवर्तन के साधन। रंगमंच पर प्रस्तुत कहानी में संवादों, विवरणों, व्याख्याओं आदि को अंग-चालन तथा भाव-भंगिमा द्वारा

[567] डॉ. धीरेन्द्र शुक्ल सं : हिंदी नाट्य परिदृश्य, पृष्ठ संख्या 145
[568] डॉ . मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 23

प्रस्तुत किए जाते हैं जिसके कारण इनकी प्रस्तुति दर्शकों के लिए रुचिकर हो जाती है। "रंगमंचीय विस्तार के लिए कहानी का आलेख अच्छा होना चाहिए उसमें गहरी संवेदना और दर्शकों के मनो-मस्तिष्क को झकझोरने की सामर्थ्य होनी चाहिए। निर्देशक को चाहिए कि वह इन आलेखों को छोड़े जिनमें नाट्य के मूल तत्त्व उपस्थित हों और जिनका मंचन सहज हो। चुनौती तो यह है कि वह उन आलेखों को मंचित करे जिनमें कहांनी की मूलभूत विशेषताओं के साथ अभिनेता भी हो।"[569] इनमें एक ऐसा कथा नायक हो जो नाट्य तकनीकों का प्रयोग करते हुए आलेख के सभी चरित्रों के साथ उसे मंच पर प्रस्तुत कर सके। आधुनिक सन्दर्भ में हम देखते हैं कि पाठकों को रुचि अनुरूप कहानी नहीं मिलती अतः इन विधाओं को रंगमंच पर लाकर इनके प्रति पाठकों दर्शकों का ध्यान आकृष्ट कर साहित्य क्षितिज को विस्तार दिया जा सकता है।

साहित्य अपने समय का साक्ष्य होता है। कहानी, कविता, नाटक इत्यादि समय से संवाद करती है और रंगमंच हमेशा समकालीन ही होता है- "नाटक भले प्राचीन व आधुनिक होते हो...क्योंकि चाहे हम कालिदास खेलें, चाहे शेक्सपियर, वे मंच पर पहुंचते ही आज के हो जाते हैं। और यदि ऐसा नहीं होता, तो वह और कुछ भने हो, रंगमंच नहीं हो सकता। क्योंकि सच्चा रंगकर्म तो किसी वर्तमान से ही संचालित होगा, जिसे करने वाला अपने समकालीन समाज को चाहे शाकुन्तल में देखे या जूलियस सीज़र में। इसीलिए शकुन्तला का तेथर व फ्लेवर कभी एक पतिव्रता के समर्पण का रहा, तो कभी मानिनी नायिका का कभी आश्रम की समाजसेविका का, तो कभी बहुपत्नीत्व से असहयोग का तो कभी सामन्तवादी वृत्ति के खिलाफ विद्रोह का... और यह सब अपने समय और रंगकर्मी की क्षमता के मुताबिक समकालीन होता है।"[570] इसी उत्सव में आज कोई चाहे, तो शकुन्तला को आज के स्त्री-विमर्श का प्रतिनिधि भी बना सकता है, जो कि वह है ही और यही करके रंगमंच अपने सृजन में समकालीन होता है, जबकि किसी और विधा को इसके लिए आलोचना पर निर्भर होना पड़ता है जैसे किसी कबीर को आचार्य द्विवेदी का इन्तज़ार करना पड़ता है और यह सब मंचन काल के प्रचलित रंग-प्रयोगों के बल पर ही होता है। फिर रंग-प्रयोग भी समकालीन होते हैं। यदि आजकल यथार्थवादी नाट्य-प्रयोग का चलन है, तो शाकुन्तल यथार्थवादी हो जायेगा। कभी वह पारसी शैली में खेला गया। कभी लोक-शैली में साधा गया। यानी अपने समय में प्रचलित नाट्यप्रयोग में ढाल लिया जाता है- समकालीन बना दिया जाता है। यानी विषय व प्रस्तुति दोनों ही स्तर पर कर्म समकालीन ही होता है- समकालीन के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता और इसीलिए समकालीन तो होता ही है रंगमच, रंगमंच की समकालीनता भी

[569] डॉ. मिथलेश गुप्ता : समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में, पृष्ठ संख्या 36

[570] डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक, दृष्टि और शिल्प, पृष्ठ संख्या 51

होती है...। और वह नाट्यविधा तक ही सीमित नहीं है, 'कादम्बरी' व 'दशकुमारचरितसार' भी रंगमंच पर आकर समकालीन हो जाते हैं। गरज ये कि रंगमंच की प्रवृत्तिगत समकालीनता वह कारगर आयाम है, जो इसे समकालीनता के सिवाय भी समकालीन बनाता है। इस समकालीनता की प्रवृत्ति के साथ आज के रंग-परिदृश्य पर नज़र डालें, तो आज रंगकर्म की गतिविधियाँ इतनी ज्यादा और इतनी विविध हो रही हैं कि सबका उल्लेख भर कर पाना तक आसान नहीं एक आलेख में तो अकल्पनीय। लेकिन इतने सारे काम के बावजूद आन्दोलन जैसा कुछ नहीं दिखायी दे रहा। इसे हम स्वस्थ स्थिति भी कह सकते हैं कि बिना अफरा-तफरी सब कुछ हो रहा है और एक तटस्थता या जड़ता भी कह सकते हैं कि सब लोग अपनी-अपनी मुक्ति के लिए, अपना-अपना हित साधने में लगे हैं।

5.2 विधा और रूपान्तरण का अतः सम्बन्ध

विधा और रूपान्तरण का सम्बन्ध लोक नाटकों से शुरू होता है। प्राचीन समय में किसी भी कथा अथवा कहानी को मानचित किया जाता था तो उसमें संवाद भरे जाते थे। वहीं भारत में नाटक की एक प्राचीन परम्परा है। संस्कृत नाटकों में इसके विविधा रूप मिलते है। भारत में लोकनाट्य की परम्परा प्राचीन समय से ही प्रचलित रहे हैं। लोकनाट्य के दो रूप प्रचलित रहे हैं। "एक लौकिक तथा दूसरा धार्मिक लोकनाट्य प्रायः कथा गायन से शुरू होता है। इस प्रकार इस नाटक का मूल आधार गीत और संगीत ही है। लोकनाटकों में लयात्मकता होती है। संगीत एवं नृत्य की प्रधानता होती है। इसका व्यापक प्रभाव दर्शक समूह पर पड़ता है।"[571] मध्यकाल में भारत में प्रत्येक प्रदेशों में अलग-अलग प्रकार के लोकनाट्य विकसित हुए। अपने समय और स्थान की विविध घटनाएँ इसके कथा के केन्द्र में हैं। चरित्रों के कथ्य भी इन्हीं घटनाओं प आधारित हैं। "भारत में महाराष्ट्र का तमाशा, गुजरात की भवई, राजस्थान का ख्याल, उत्तर प्रदेश का रामलीला और रासलीला, स्वाँग, नौटंकी आन्ध्र प्रदेश की कुचीपुड़ी मद्रास का पागल वेशम अपने-अपने परिवेश की विशेषताओं के साथ प्रचलित है।"[572] इस प्रकार भारत में विविध प्रकार के लोकनाट्य प्रचलित हैं।

लोक नाट्य वे नाट्य है जो भारतीय मिथक के आधार पर प्रदर्शित किये जाते हैं। इसमें सामान्य जनता से कथानक लिये जाते हैं। लोकनाट्यों के कथानक प्रचलित होते हैं। शिष्ट और लोककलाओं की धारा निरन्तर प्रवाहित होते रहे हैं। भारत में लोक नाटकों की परम्परा संस्कृत नाटकों की परम्परा से भी पुरानी है। लोक नाटकों में जनता के भावों की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। "इसमें लोक से अधिक जुड़ाव रहता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने खोज कर यह सिद्ध कर दिया है कि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र की रचना से भी प्राचीन है लोक नाट्य की परम्परा मध्यकाल में संस्कृत नाटकों से प्रभावित हुई। इस तरह इसमें विविधता के दर्शन होते हैं।"[573] भारत में रंगमंच को जीवित रखने में लोक नाट्य परम्परा की महत्वपूर्ण भूमिका है। लोक नाट्यों में जनसमूह की संवादों के माध्यम से किसी कथावृत्त में प्रस्तुत किया जाता है। इसमें गीत नृत्य व संगीत महत्वपूर्ण है। लोक नाट्यों में प्राचीन ऐतिहासिक और लोकवार्ता की प्रधानता होती है। यहाँ काल्पनिक प्रेमकथाओं, को भी अपने विषय के रूप में लाते हैं। इनका रूप प्रायः लौकिक ही रहता है। इसका कथानक प्रायः ढीला होता है। प्रारम्भ में इसमें गति कम होती है परन्तु उत्तरार्द्ध में वह तीव्र गति से आगे बढ़ता है। "इसमें घटनाओं का समावेश तीव्र गति से होता है। इसमें घटनाओं के शिल्प विधान

[571] डॉ. ब्रजवल्लभ त्रिपाठी : भरत और उनका नाट्यशास्त्र, पृष्ठ संख्या 42

[572] संगीता गुन्देज़ा : नाट्य दर्शन, पृष्ठ संख्या 02

[573] डॉ. ब्रजवल्लभ त्रिपाठी : भरत और उनका नाट्यशास्त्र, पृष्ठ संख्या 53

के स्थान पर जीवन की झाकियाँ सिलसिलेवार ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। लोक नाट्यों में विषय की विविधता होती है।"[574] इसमें पौराणिक एवं धार्मिक विषय को उठाया जाता है। कथानक के चमत्कार के कारण लोक रंगमंच के दर्शक कौतुहल से भर जाते हैं।

लोक नाट्यों में सामाजिक और आर्थिक स्थितियों से भी विषय ग्रहण किये जाते हैं। इसमें प्रेम और शौर्य की गाथाएँ भी समाहित किये जाते हैं। इसमें लोक जीवन का सहज प्रवाह मिलता है। इससे जन जीवन निरन्तर संचित रहता है। "कुछ भिन्न प्रकार के नाट्य शैलियों के दर्शन होते हैं। लोकधर्मी नाटक शास्त्रीय नाटकों से अलग होते हैं। इसमें नाट्य नियमों को ढूँढ़ना व्यर्थ है लोक कवि जिस कथा को प्रस्तुत करता है। रचना में घटना को बिन्दुवार तरीके से प्रस्तुत की जाती है। ग्रामीण परिवेश उभरकर सामने आ जाता है। वीरों का शौर्य, प्रेम प्रसंग, धार्मिक तपस्या, आडम्बर, पतिव्रता की विपत्ति, समाज की कुरीतियाँ आदि कथावस्तु के केन्द्र में होते हैं। सभ्यता की त्रुटियों को भी कथावस्तु का केन्द्र बनाया जाता है।"[575] लोक नाटकों में पात्रों की सहजता महत्वपूर्ण होती है। उनका समाज में प्रभाव होता है। जनता को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। "समाज की प्रवृत्तियों को एक रूप प्रदान किया जाता है। इसका प्रस्तुति का एक चिर परिचित अन्दाज होता है। आदर्श पति-पत्नी, दुर्गुणी व्यक्ति, परस्त्रीगामी पुरुष की कथा, परपुरुष, स्त्रियाँ, बुढ़ा, सौत, सदाचारी साधु, त्रिया चरित्र, देवर-भाभी के रिश्तों पर आधारित नन्द भौजाई के झगड़ों से संबन्धित, सौतिया डाह, जीजा-साली के मधुर प्रेम प्रसंगों का सवांगपूर्ण तरीके से कथानक की प्रस्तुति की जाती है।"[576]

भारतीय नाट्य परम्परा में लोकनाट्य के विविध रूप विकसित होते रहे हैं। ये लोकनाट्य जीवन्त हैं। इन नाटकों में आंतरिक एकात्मकता है। इनमें कई रूप समानार्थी हैं। देश के विभिन्न भागों में मनोरंजन के साधन के रूप में लोकनाट्य प्रचलित हैं। ये लम्बे समय से जनता का मनोरंजन करते रहे हैं। भाषा एवं भाव में लोक रूप विद्यमान हैं। "इन लोकनाट्यों का मूल स्त्रोत लोकजीवन हैं। इनकी जड़े प्राचीन समय से भारत में विद्यमान हैं। इन लोक नाट्य रूपों के अधिकांश रूप संस्कृत नाट्य परम्परा से ही विकसित हुए है।"[577] भारतीय संस्कृति के मूल में परम्पराएँ, गीत पर्व, त्योहार हैं। यही कारण है कि संस्कृत नाट्य परम्पराओं की अधिकांश विशेषताएँ लोकनाट्यों में विद्यमान हैं। इसमें जीवन्त नाटकीय तत्व विद्यमान है। इसका व्यापक प्रभाव समाज में होता है। अधिकांश दर्शक अपने परिवेश से परिचित होते हैं। इनमें एक तरह का लगाव होता है। पात्रों के

[574] डॉ. रघुवर दयाल वार्ष्णेय : भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 121
[575] डॉ. मिथलेश गुप्ता : समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में, पृष्ठ संख्या 42
[576] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 23
[577] डॉ. रघुवर दयाल वार्ष्णेय : भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 121

गुणों के आधार पर वे द्रवीभूत होते हैं। अगर कोई सज्जन पात्र पराजित होता है तो दुखी होते हैं। अगर कोई दुष्ट पात्र पराजित होता है तो दर्शक ताली बजाते हैं। दर्शकों की भावनाएँ नाट्य रूपों में देखने को मिलते हैं। लोक नाट्य की परम्परा अब विलुप्त होती जा रही है। अभी भी कुछ नाटकीय तत्व जीवित हैं जिनका उपयोग हिन्दी के नाटककारों ने किया है।

नाटकों में सूत्रधार की महत्ती भूमिका होती है। सूत्रधार अपने कार्य में निपुण होता है। वह निरन्तर स्पष्ट करते चलता है। प्रत्येक पात्र का परिचय देता है, उसके गुणों को बताता है। उसका परिचय हाव-भाव तथा मुद्राओं द्वारा संकेत में बताया जाता है। नाटक में कई कड़ियों को लगातार जोड़ा जाता है। सूत्रधार कभी स्वयं किसी भूमिका में आता है कभी कला मंच पर निर्देश देता है। लोक रंगमंच का एक रूढ़ पात्र विदूषक होता है। "रासलीला का मनुसुखा, भवाई का रंगली तमाशा कर सोगड़िया विदूषक है। विदूषक हास्य की सृष्टि करता है। दोहा रटा नाट्य का विदूषक अहासोगु बढ़ा हुआ पेट, लम्बी मूँछे हाथ में छड़ी लेकर रंगमंच पर आता है।"[578] पात्रों का चयन उनकी वेशभूषा सभी कुछ लोक के अनुरूप रखी जाती है। अभिनेता अपने कुशल अभिनय के द्वारा जनता पर उत्कृष्ट प्रभाव डालता है। पात्रों का अभिनय लोक की परम्परा के अनुरूप ही होता है। कथाकार अपनी कला में काफी प्रवीण होते हैं। मँझे हुए कलाकार अभिनय में सजीवता लाने का प्रयास करते हैं वे अपनी तरफ से कुछ जोड़ते हुए चले जाते हैं। इसमें भावनाओं का प्रदर्शन स्वाभाविक अनुभव द्वारा होता है। संवाद काफी प्रभावी होते हैं। इसमें जीवन्तता बनी रहती है। अभिनय में आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक रूपों का ध्यान रखा जाता है। "आंगिक अभिनय में अंगों का प्रदर्शन किया जाता है वाचिक अभिनय में स्वरों का उतार-चढ़ाव होता है। पात्र कुछ बोलते हुए प्रतीत होते हैं। आहार्य में वेशभूषा का ध्यान रखा जाता है। सात्विक अभिनय में पात्र के कथन द्वारा देह में प्रतिक्रिया होती है।"[579] भाषा अत्यन्त ग्रामीण और क्षेत्रीय होती है। पात्रों के साथ उस भाषा के संवाद जीवन्त हो जाते हैं। लोकनाटकों में एक ही व्यक्ति कभी पुरुष तो कभी स्त्री की भूमिका निभा सकता है। इसका नायक उच्च कुल का न होकर सामान्य ग्रामीण व्यक्ति भी हो सकता है, जैसे माली का बेटा, सूरदास अंधी दुल्हन, धोखेबाज राजा का बेटा, निर्दयी जमींदार आदि इस लोक नाटकों के पात्र हो सकते हैं।

समसामयिक युग के नाटककारों ने कथ्य को लेकर प्रयोग किये हैं। किसी ने अपने कथ्य को रामलीला, रासलीला, नौटंकी शैली में प्रस्तुत किया है तो किसी ने साँग, विदेशिया, फड़ शैली

[578] दीनानाथ साहनी : समकालीन रंगमंच, पृष्ठ संख्या 57

[579] डॉ . मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 23

में प्रस्तुत किया है। यही नहीं किसी ने मिथ से, किसी ने लोककथा से, तो किसी ने सीधे यथार्थ से कथ्य का चयन कर अपने उद्देश्य को अभिव्यक्ति में कथ्य को भिन्न-भिन्न अंकों, दृश्यों, अध्यायों में विभक्त किया है। हम यहाँ पर इन्हीं बातों का अध्ययन कर उसे व्यक्त करने की कोशिश कर रहे हैं। नाटक का प्रधान और प्रमुख तत्त्व कथानक है। यही रचना का मूल ढाँचा या आधार होता है। "सामान्यतः कथा, इतिवृत्त और कथावस्तु को समानवाची शब्द मानकर इनका प्रयोग नाटक के इस मूल आधार कथानक के लिए किया जाता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इनमें स्वरूपगत थोड़ा-बहुत अन्तर दिख पड़ता है। काल क्रमानुरूप व्यवस्थित घटनाओं का कथन है।"[580] "इतिवृत्त में तथ्यों का कथन मात्र होता है और इसमें रसार्द्रता का अभाव रहता है"[581] परन्तु किसी भी घटनाचक्र में अपेक्षित परिवर्तन करते हुए और उसमें मनः कल्पना से उद्भूत घटनाओं का समावेश कर नया अनुक्रम बनाना कथावस्तु कहलाता है। कथावस्तु अर्थात् विषय-वस्तु का संगठन नाटकों का एक अनिवार्य गुण है, वस्तु संगठन विभिन्न घटनाओं स्थितियों या विभिन्न क्रियाओं के मेल से निर्मित होता है। नाटक की घटनाओं का परस्पर कार्य कारण का सम्बन्ध होना आवश्यक है। किसी नाट्यकार के लिए यह आवश्यक है कि वह कथानक को इस प्रकार संगठित करे कि सभी विषय किसी न किसी तरह जोड़ दिये गये हो ऐसा करने से नाटक के कथानक में संगठन एवं कसाव आता है, जिससे रोचकता भी आती है। वैसे तो भारतेन्दु और प्रसाद युग में ही नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ चुका था। लेकिन स्वातन्त्र्योत्तर नाटक साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। जिससे कथानक चरित्र और नाट्यानुभूति में अनेक मौलिक परिवर्तन हुए और कथ्य, रंगशिल्प एवं चरित्र सृष्टि के स्तर पर कई प्रयोग हुए हैं। स्वातन्त्र्योत्तर नाटक साहित्य में कथ्य एवं शिल्प को लेकर नाटककारों की प्रयोगशील दृष्टि विशेष रूप से अपनी मिट्टी पर पड़ी है, जहाँ इन्होंने अनेक नवीन सम्भावनाएँ दिखाई पड़ी हैं। इस सन्दर्भ में शैलजा भारद्वाज का कहना है- "हिन्दी नाट्य साहित्य नयी दिशा, नये प्रयोगों सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि अपनी मिट्टी से जुड़ने की प्रक्रिया की तरफ बढ़ने लगा। नाटककारों ने जहाँ लोकनाटकों में प्रचलित कथाओं को साहित्यिक नाटकों में प्रश्रय दिया, वहाँ शिल्प के माध्यम से आधुनिक जीवन की संवेदनाओं को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया।"[582] वैसे तो हिन्दी नाटक और रंगमंच अनेक प्रयोगों से गुजरा है और गुजर रहा है। लेकिन अपनी परम्परा से जुड़ने की प्रक्रिया इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। आज के नाटककार अपनी परम् लोक नाट्य शैली से प्रेरणा ग्रहण कर नये-नये प्रयोग कर रहे हैं। अतः रंगमंच अपनी सत्ता स्थापि की दिशा में अग्रसर है। "कोई भी नाटककार बेशक ऐतिहासिक, पौराणिक या लोककथ्य

[580] बच्चन सिंह : हिंदी नाटक, पृष्ठ संख्या 56

[581] सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा शास्त्र, पृष्ठ संख्या 823

[582] शैलजा भारद्वाज : स्वातंत्र्योत्तर नाटक साहित्य में लोकतत्व, पृष्ठ संख्या 183

को कथानक का आधार बनाये लेकिन वह उसे समकालीन सन्दर्भ से जोड़ने की कोशिश करता है और इस कोशिश में वह कथ्य और शिल्प को लेकर नये-नये प्रयोग करता है।"[583] कुछ नाटककार पौराणिक कथा की बजाय सीधे-सीधे वर्तमान में व्याप्त राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समस्या को विसंगति को कथानक का आधार बिन्दु चुनता है।

नाटककारों ने अपने-अपने ढंग से कथ्य को किसी ने दृश्यों में, किसी ने अंकों में, किसी ने अध्यायों में विभक्त किया है। यही नहीं किसी ने तो अंकों को भारती को तरह नामों से भी अभिहीत किया है। इन्होंने नाटक के मंचन की समय-सीमा को ध्यान में रखकर ही नाटकों में सीमित दृश्यों की योजना की है, क्योंकि जल्दी-जल्दी से दृश्य परिवर्तन में भी कथ्य की सम्प्रेषणीयता पर प्रभाव पड़ने का खतरा बना रहता है। "दृश्य-बन्ध को लेकर सभी ने परिकल्पना आधुनिक रंगमंच के लिए प्रायोगिक तो सिद्ध होती है पर दुरूह नहीं। इन्होंने आधुनिक रंगमंच के साधनों की सीमाओं को ध्यान में रखकर ही निर्देशक को नाटक का पुनर्जन्मदाता मानते हुए उसे नाटक के दृश्य-विधान में उचित फेरबदल करने के लिए स्वतन्त्र ही रखा है। नाटककारों ने नाटक के मंचीय पक्ष को ध्यान में रखकर नाट्य रचना की है। इन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से मानव के करीब आने की भरसक कोशिश की है।"[584] इन्होंने नाटक में तत्त्व की अनिवार्यता स्वीकार भी की है। भाषा और संवाद की दृष्टि से भी इन्होंने कथ्य की सम्प्रेषणीयता की ओर ध्यान रखा है। इन्होंने नाटकों में गीत-संगीत का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है। इस अध्याय में नाटक की रंगमंचीयता को परखने की कोशिश की गई है। नाटक तब तक नाटक नहीं कहला सकता जब तक वह रंगमंच पर सफलता से न खेला जा सके, क्योंकि नाटक साहित्य एवं रंगमंच दोनों एक साथ हैं।

अभिनेयता और मंचीयता नाटक के ऐसे तत्त्व हैं जिनके बगैर नाटक को दृश्यत्व नहीं मिल सकता और न ही वह जीवन्त कला कहला सकता है। अभिनेयता का सीधा सम्बन्ध अभिनेता की अभिनय कला से है। जबकि मंचीयता का सम्बन्ध रंगमंच की सम्पूर्ण साज-सज्जा से है। अभिनय में केवल अभिनेता का अभिनय आता है जिसके मूल में रूपायित सम्पूर्ण भाव, विचार, पात्र, स्थिति, घटना और वातावरण होता है। प्रसिद्ध रंग समीक्षक नेमिचन्द्र जैन का मत है- "नाटक में भाव, विचार, पात्र, स्थिति और वातावरण ऐसा होना आवश्यक है कि वह मूर्त और रूपायित हो सके।"[585] स्पष्ट ही है कि अभिनयमूलकता ही उसे अनिवार्यतः एक सामूहिक और जीवन्त रूप प्रदान करती है। "वही अनुभूति यथार्थ नाट्यात्मक अनुभूति है जो दृश्य हो सके, जो अभिनेताओं द्वारा रूपायित और मूर्त करके व्यक्त की जा सके। अभिनयोपयुक्तता की यह अनिवार्य आवश्यकता

[583] दीनानाथ साहनी : समकालीन रंगमंच, पृष्ठ संख्या 71

[584] सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा शास्त्र, पृष्ठ संख्या 828

[585] नेमिचंद्र जैन : रंग दर्शन, पृष्ठ संख्या 37

है कि अभिनेता नाटक के विभिन्न पात्रों को आत्मसंगत और परिस्फुट पायें, जिनके साथ वे अपने भावतन्त्र को एकाकार कर सके; उनमें न तो स्फीति हो और न ऐसी अस्पष्टता कि उन्हें विश्वसनीय रूप न दिया जा सके; वे ऐसे बनावटी न हों कि अभिनेता उनके रूप में स्वयं को झूठा अनुभव करने लगे; समस्त नाट्य-व्यापार में उनकी इतनी सार्थकता हो कि वे रंगमंच पर फालतू न अनुभव करें आदि।"[586] अतः समस्त नाट्य क्रिया व्यापार अभिनय मूल होना चाहिए।

कथाकार अथवा किसी नाटककार की नाट्यलेखन-संबंधी अभिव्यक्तियों में सूक्ष्म रूप से ऐसा अन्तर्सम्बंध है जो प्रायः प्रत्येक रचना-कर्म को काव्य की कोटि में नाटक, विभिन्न रूप में कथा-साहित्य को नहीं देख पाता लेकिन विचार को व्यक्त करने में अलग-अलग विधाओं की क्रिया अलग-अलग भाव- रुख अख्तियार करती है। कविता में, आन्तरिक व्यंजनाओं को बिम्बों के जरिए पकड़ने की एक अलग तरह की रचनात्मक प्रक्रिया है, कथाकार बहुत देर तक या उसी रूप में एक कहानी को ढूँढ़ सकता है। नाटक की रचना-प्रक्रिया और उसका भावन संश्लिष्ट है। नाट्यलेखन के लिए समय की पर्याप्तता भी दर्ज किया करें और उसमें धैर्य भी। यद्यपि रंगकर्मियों को मालूम है कि हिन्दी में रंग-कर्म के भावन की लंबी सुदीर्घ परंपरा नहीं है। दूसरे भी कारण हैं कि लिखित पठित नाटक के लिए रंगमंच या नाटक के भावन की संभावना कमतर है। थियेटर हॉल, रंगमंडल से नाटककार की अनुपस्थिति, आर्थिक-आलस्य भी उल्लेखनीय भूमिका निभाती है।

दुनिया की हर भाषा में गल्प के मुकाबले नाटक कम लिखे गए कहानी और कविता की तुलना में नाटक लिखना कठिन है। कहानी के साथ हम बहते चले जाते हैं, पर यह छूट नाटककार को नहीं है। उसे शब्दों के चयन से लेकर प्रवाह तक सजग रहना पड़ता है। "नाटक-विधा की अपनी सीमाएँ भी हैं। बताया जाता है कि हर नाटक मंचन के लिए लिखा जाता है और हिन्दी समाज में मंचन गतिविधियाँ अधिक नहीं हैं इसलिए नाटक कम लिखे जाते हैं । सन् 1953 में धर्मवीर भारती का नाटक 'अंधा युग' छपा किन्तु 6 साल बाद जब इसका मंचन हुआ तब यह नाटक प्रतिष्ठित हो सका। 1958 में मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' आया। यह हिन्दी का पहला ऐसा नाटक था जिसे बड़े पैमाने पर स्वीकृति मिली।"[587] नाटक एक ऐसी विधा है। जो अपने मूल स्वभाव में ही मंचित होने के लिए लिखी जाती है। वही नाटक सफल होगा जिसका मंचन हो भले ही वह श्रेष्ठ हो या नहीं। हिन्दी भाषी क्षेत्र बहुत बड़ा है किन्तु इस क्षेत्र में नियमित रंगमंडलियों का अभाव है। नाटकों के मंचन के अवसर और संसाधन नहीं के बराबर हैं।

[586] नेमिचंद्र जैन : रंग दर्शन, पृष्ठ संख्या 38

[587] प्रतिभा अग्रवाल : मोहन राकेश, पृष्ठ संख्या 42

दुनिया में नाट्यसाहित्य वहीं समृद्ध हुआ है जहाँ मंचन के अवसर हैं और जहाँ समुदाय, सरकार और व्यवसायी मंचन के लिए संसाधन उपलब्ध कराते हैं। यह सच नहीं है कि नाटक आज के जटिल सामाजिक यथार्थ को पूरी तरह उभारने में सक्षम नहीं हैं। हाँ, यह सत्य जरूर है कि ऐसे नाटक कम लिखे गये हैं। "हिन्दी रंग-परंपरा विविधतापूर्ण, गहरी और सौंदर्यपूरक है। रंगकर्म में यह चेतना मौजूद है कि परंपरा की ओर जाना चाहिए। आज भी हम जितने नाटक देखते हैं, वे अंग्रेजी या दूसरी भारतीय भाषाओं के रूपान्तर होते हैं, जो हिन्दी नाटककारों की कमतर क्षमता की मलिन प्रतिछाया है।"[588] यह कहना शायद अनुचित न होगा कि इस बदतर स्थिति के लिए अधिकतर हिन्दी नाटककारों का अति मूर्खतापूर्ण, औसत दर्जे का और फूहड़ निर्माण जिम्मेवार है।

यह वह समय था जब देश के अधिकतर शीर्ष नाटककार (जो हिन्दी में नहीं बल्कि दूसरी भाषाओं में लिखते थे) के नाटकों का हिन्दी में मंचन होने पर उन्हें राष्ट्रीय स्वीकार्यता मिली थी, इन नाटककारों की सूची बहुत बड़ी है पर कुछ प्रमुख नामों में बादल सरकार, विजय तेन्दुलकर, गिरीश कर्नाड, आदि शामिल हैं। इसी दौरान इन नाटककारों से प्रभावित होकर कई गंभीर हिन्दी रंगमंच समूहों की शुरूआत हुई, इनमें दिल्ली का अभियान और दिशान्तर और कलकत्ता की अनामिका प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने इब्राहिम अलकाजी के निर्देशन में हिन्दी दर्शकों के बीच रंगमंच को लोकप्रिय बनाने में अहम भूमिका निभाई। दूसरी ओर निर्देशक को हमेशा एक ऐसे आलेख की तलाश रहती है जो उसे भीतर से झकझोर कर रख दे, जिसका कथ्य स्वयं उसके लिए और अपने समय के लिए प्रासंगिक हो और जिसे कम से कम साधनों और सुविधाओं के साथ मंचित किया जा सके। यदि उसे किसी ताजा आलेख में यह सारी चीजें उपलब्ध नहीं होतीं तो उसे बार-बार पहले से लिखे, चर्चित, मंचित और स्थापित नाटकों की ओर लौटना पड़ता है। "कोई भी नाटककार यह मानने को तैयार नहीं है कि उसका आलेख कथ्य की दृष्टि से भले ही उत्तेजक हो लेकिन जरूरी नहीं कि मंचन के लिए भी उतना ही सही साबित हो सके।"[589] दरअसल, मंचन के लिए जो चीज ज्यादा जरूरी है, वह है नाटक का शिल्प और संरचना और इस तरफ ज्यादातर नाटककार ध्यान नहीं देते। वे मान लेते हैं कि अपने कथ्य को संवादों में रखने मात्र से नाटक की बुनावट तैयार हो जाएगी। लेकिन नाटक इतने भर से बनता नहीं। नाटक के शब्दों में संवादों के रूप में निर्देशक को अधिक-से-अधिक दृश्यता और चाक्षुषता की दरकार रहती है क्योंकि नाटक पढ़ने का नहीं सुनने और देखने का माध्यम है, यहाँ तक कि भी देखने के माध्यम से ही संपन्न होता है।

---

[588] सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा शास्त्र, पृष्ठ संख्या 523

[589] शैलजा भारद्वाज : स्वातंत्र्योत्तर नाटक साहित्य में लोकतत्व, पृष्ठ संख्या 183

5.3 विधा का रंगमंचीय ढांचा

हिंदी रंगमंच पर विभिन्न नाट्य शैलियों की रचनाओं की प्रस्तुतियाँ भी प्रयोग एक दिशा है। लोकनाट्य के विभिन्न स्वरूपों, रूढ़ियों तथा लोकमंच के तत्त्वों का रंग शैली के रूप में उपयोग कर रचना शैली की एकरसता तथा ऊब तोड़ने के साथ ही रंगमंचीय प्रदर्शन में भी आकर्षण उत्पन्न करने की कोशिशें हुई और नाट्यरचना को रंगमंच के दृश्य धरातल पर दर्शकों के एक व्यापक वर्ग से जोड़ने का प्रयास हुआ। सिंहासन खाली है, बकरी, दूर का आकाश, एक सत्य हरिश्चन्द्र, तमाशा जैसे नाटकों में लोकशैली की स्वीकृति है। नाटक की रचना-प्रक्रिया पर ब्रेख्त की 'महाकाव्यात्मक नाट्य शैली' और सैमुअल वैकेट की 'असंगत रंग शैली' का प्रभाव भी पड़ा है। तीन अपाहिज, लोटन, रोशनी एक नदी है, घोआस, नो मैन्स लैंड, अमृत पुत्र, सन्तोला, एक दूनी एक आदि असंगत नाट्यशैली की रचनाएँ हैं। जिनका रंग विधान परम्परागत रंग सन्दर्भों से अलग है।

'गीति नाट्य' अथवा 'काव्य नाटक' की रंगशैली में भी 'अन्धायुग' के सूखा सरोवर, एक प्रश्न मृत्यु, मानुष अमानुष, अग्निलीक, एक कंठ विषपायी जैसे नाम जुड़ते हैं। जिनका रचना-विधान रंगमंच की प्रचलित पद्धतियों और रूढ़ियों को तोड़कर निर्मित हुआ है। सुन्दर रस, एक मशीन जवानी की, एक था गधा आदि प्रहसन शैली की रचनाएँ भी हिन्दी रंगमंच पर प्रस्तुत हुई हैं। इस प्रकार, "नयी रंग दृष्टि का प्रभाव और शैलीगत रंग प्रयोगों से नाट्यरचना के शिल्प की आन्तरिक बुनावट सुदृढ़ हुई है। जिससे यथार्थवादी दृश्यबन्ध की जड़ता और पारसी रंगमंच की चमक क्षीण पड़ गयी है।"[590] हिन्दी रंगमंच पर लचीले शैली-शिल्प वाले नाटकों ने रंगमंच की परिकल्पना के नये आयाम प्रस्तुत कर नयी दृष्टियाँ और नयी रंग सम्भावनाएँ विकसित की हैं। "रंगदृष्टि से सम्पन्न निर्देशकों ने भी विभिन्न रंगशैलियों और रंगयुक्तियों के रचनात्मक प्रयोग से हिन्दी रंगमंच को नया आधार दिया है और अपनी रंगप्रतिभा में नवीनता और मौलिकता का परिचय देते हुए उन्होंने नाट्य प्रस्तुति अभिकल्पना के नये आदर्श स्थापित किये हैं। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि रंगमंच किसी का प्रभुत्व और अहंवादी दृष्टि की माँग नहीं करता और उसकी नाट्यात्मक अनुभूति मूलतः नाटककार के नाट्यलेखन, निर्देशक के निर्देशन और अभिनेताओं के अभिनय द्वारा ही सम्प्रेषित होती है।"[591] आज नाटककार और निर्देशक विभिन्न प्रसार माध्यमों के बीच रंगमंच की जीवन्त शक्ति को स्थापित करने की दृष्टि से आपसी मतभेदों को मिटाकर और अहंमन्यता को भूलकर एक-दूसरे के प्रति समझदारी, सहधर्मिता और सह-अस्तित्व के साथ नाट्य परिवेश और परिदृश्य का

[590] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 40

[591] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 52

निर्माण करने की ओर अग्रसर है। यद्यपि नाट्य चिन्तन और लेखन पर बीच-बीच में आई संवाद-शून्यता और केवल रंगकर्म पर बहस तथा टिप्पणी की प्रवृत्तियाँ साहित्य और रंगमंच के अन्तराल को बढ़ाती रही है परन्तु यह भी सन्तोषप्रद स्थिति है कि साहित्यिक जिम्मेदारी की दृष्टि से नाटककार मौलिक नाट्यलेखन से विमुख न होकर परिवर्तन और संघर्ष के रास्ते पर चल रहे हैं।

सन 60 के बाद हिन्दी रंगमंच का बहुआयामी विकास हुआ है क्योंकि आज रंगमंच की अनेक शैलियाँ और पद्धतियाँ प्रचलित हैं, रंगमंचीय गतिविधियों का विकेन्द्रीकरण हुआ है और उसका प्रचार-प्रसार शहर के प्रेक्षागृहों से लेकर छोटे कस्बों तक हो गया है। "प्रयोगधर्मी नाट्य सृजन के बाद नियमित रंगमंचीय प्रस्तुतियाँ होने लगी हैं और व्यावसायिक, अर्द्ध व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक नाट्य संस्थाएँ एवं रंग मंडलियाँ आज रंगमंचीय क्रियाकलाप की दिशा में अग्रसर हैं। रंगमंचीय अवधारणाओं और नाटक की रचना-प्रक्रिया में बदलाव आया है।"[592] हिन्दी के अधिकांश चर्चित और बहुमंचित नाटक खुले रंगमंच पर नयी शैली में प्रस्तुत हुए हैं। बादल सरकार ने जिस 'आँगन मंच' के रूप में थर्ड थियेटर की अवधारणा विकसित की और उसकी सम्पुष्टि के लिए नाटक भी लिखे, उसी स्वभाव एवं प्रकृति की प्रस्तुतियाँ नुक्कड़ नाटकों के द्वारा रास्तों, चौराहों आदि पर होने लगी हैं। "साहित्यिक नाटकों में भी रंग सम्भावनाएँ पिरोने के लिए लोकनाट्य की विविध विशिष्टताओं को सन्निहित कर शैलियों का संस्पर्श दिया गया है। कल्पनाशील और आस्थावान निर्देशकों के सहयोग से नाटककारों और रंगमंच की गतिविधियों को नयी अर्थवत्ता एवं ताजगी मिली है।"[593] इन प्रयोगधर्मी निर्देशकों ने अपनी रंग परिकल्पना और रंग प्रयोगों की सोच के माध्यम से नाट्यालेख में निहित सम्भावनाओं को उभारा है और अपनी सूझबूझ से नाट्य प्रस्तुतियों में नयापन लाया है।

आज एक ही नाटक को अनेक रंगशैलियों में प्रस्तुत किये जाने की प्रवृत्ति वस्तुतः निर्देशकीय अभिकल्पना की ओर ही संकेत है। 'कर्फ्यू' में रंगमंचीय प्रस्तुति के समय दृश्यबन्ध के रूप में एक पिंजरे की कल्पना निर्देशक ने ही प्रस्तुत की है जिससे कर्फ्यू की क्रूरता और आतंक का भाव अधिक प्रभावी हो सका है। ऐसा ही प्रयोग 'यक्ष प्रश्न' (उत्तर युद्ध) नाटक में भी किया गया है जिसमें पांडव का अभिनय करने वाला अभिनेता चरित्र अपने रोजमर्रे की वेशभूषा में अभिनय के लिए प्रस्तुत हुए और इस प्रकार इस रंग-प्रदर्शन द्वारा 'यक्ष प्रश्न' नाटक की मूल समस्या और संवेदना को आज तक विद्यमान दिखाने की कोशिश व्यंजित हो सकी है। मोहन राकेश ने

[592] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 74

[593] सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 48

श्यामानन्द जालान की निर्देशकीय सलाह पर अपने नाटकों में आवश्यक परिवर्तन किए। नरेन्द्र मोहन, किरनचन्द्र शर्मा, गोविन्द चातक, नन्दकिशोर आचार्य जैसे नाट्यकारों ने भी निर्देशकों से विचार-विमर्श के उपरान्त ही नाटकों को अन्तिम रूप दिया है और बाद में इनके नाटक अभिमंचित होकर प्रशंसित भी हुए हैं। "रंगमंचीय सक्रियता ने नाट्यकारों को दर्शकों से अपने नाटकों को जोड़ने के लिए अभिप्रेरित किया है और इसके लिए सामान्य रूप से अभिनेताओं का दर्शकों के बीच से उठकर आने, भूमिका करने की रंग युक्ति अथवा अभिनेताओं द्वारा अपने संवादों को सीधे दर्शकों को सम्बोधित करने की पद्धति अपनाई गयी है।"[594] इससे दर्शक और अभिनेता का धरातल एक हो गया है, कदाचित् नाटक और रंगमंच की दूरी भी सिमट गयी है। आज नाटक की रंगमंचीय दृष्टि का ही नहीं अपितु रंगमंच की दृष्टि का भी विकास हुआ है क्योंकि पारम्परिक नाटक परदे वाले मंच और वर्जित दृश्यों में विधि-निषेधों को सामने रखकर ही लिखे तथा प्रस्तुत किये जाते थे परन्तु अब परदे वाले नाटक बहुत कम लिखे जाते हैं और वर्जित दृश्य भी सामान्य दृश्यों की तरह दिखाये जाते हैं। अब परदे वाले मंच की जगह दृश्यबन्ध अथवा खुले रंगमंच ने ले लिया है जहाँ मंचीय उपकरणों का कोई औचित्य ही नहीं रह गया है। ऐसे नाटकों की प्रस्तुतियाँ समकालीन रंगमंच की प्रवृत्ति बन गयी हैं, उसकी विशिष्टता भी। दिल्ली के पुराने किले के खंडहर में 'अन्धायुग' अथवा 'तुगलक' नाटक का मंचन, आगरा के बाज़ार में 'आगरा बाजार' नाटक खेला जाना और नुक्कड़ों-चौराहों पर 'सिंहासन खाली है', 'बकरी' आदि जैसे लचीले शैली-शिल्प वाले नाटकों की जनवादी प्रस्तुतियाँ रंग प्रयोग के सशक्त प्रमाण हैं। इस प्रकार के प्रदर्शनों द्वारा नाटक और रंगमंच चलकर आम जनता के बीच आ गया है, जनता को नाटक देखने के लिए रंगशाला की चहारदीवारी में नहीं आना पड़ा है। यह अन्तर अपने आप में सामान्य नहीं है। "नुक्कड़ नाटक की असंख्य प्रस्तुतियों ने इस प्रवृत्ति को गहराई और विस्तार दिया है। दूसरी ओर, समकालीन हिन्दी रंगमंच निर्देशकों का भी रंगमंच बना है क्योंकि रंग प्रस्तुतियों में निर्देशकों ने अपनी सूझबूझ, अन्तर्दृष्टि तथा कल्पनाशीलता से नये आयामों को उभारा है।"[595] कोर्ट मार्शल, कलन्दर, तीसरा मचान, इला, पूर्वार्द्ध आदि नये नाटकों में निर्देशकीय परिकल्पना में रंगमंचीय दृष्टि से नाटक की मूल संवेदना और अर्थ को प्रखरता से उभारा है और सिद्ध किया है कि निर्देशकीय प्रतिभा के संयोग से रंग रचना की जीवन्तता स्थायी प्रभाव सृजित कर सकती है। नाटक और रंगमंच परस्पर अविभाज्य और अन्योन्याश्रित हैं-नाटक शब्दों के माध्यम से संवादात्मक अभिव्यक्ति मात्र न होकर अभिनेयात्मक प्रस्तुति भी है। इसलिए साहित्यिक गरिमा को बचाता हुआ और मंचीय अपेक्षाओं का सजगता निर्वहन करता हुआ आलेख ही वस्तुतः नाटक है। "नाटक ऐसी विधा है जिसकी से सर्जनात्मकता का वास्तविक निर्धारण

[594] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 29

[595] राम सागर त्रिपाठी : भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 75

रचनाकार की क्षमता पर ही निर्भर न होकर रंगमंच की अपेक्षाओं के अनुरूप उसके नाट्य होने की सार्थकता में भी है। नये नाटकों की रंग प्रस्तुतियाँ इस अन्तरसम्बन्ध का संकेत देती हैं क्योंकि समकालीन हिन्दी रंगमंच यह मानकर चल रहा है कि दृश्यरचना को कहीं भी और कभी भी प्रस्तुत जा सकता है।"[596] इसलिए जटिल नाट्य-विधान वाली रचनाएँ कम लिखी जा रही हैं। रंगमंच की भाषा में आलेख और आलेख में निहित गूढ़-संवेदना की दृश्याभिव्यक्ति किया लिए 'नृत्य नाट्य' की शैली विकसित की गयी जिसमें रूस के 'वैले नृत्य' को भी समाविष्ट किया गया। कहानियों, कविताओं और उपन्यासों के मंचावतरण की प्रवृत्तियाँ बढ़ी हैं। "पश्चिम के अनुकरण पर 'मनोशारीरिक रंगमंच' की प्रस्तुतियों में नाटककार, नाट्यालेख, निर्देशक, शब्द और दृश्यबन्ध, ध्वनि-प्रकाश व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती- यहाँ केवल भाव-भंगिमाओं का आंगिक प्रदर्शन मुख्य होता है।"[597] कविता, कहानी या नाटक को इस शैली में प्रस्तुत किया जा सकता है क्योंकि यहाँ भाषा का बन्धन न होकर अभिव्यक्ति का माध्यम केवल शरीर होता है, इसलिए इसे शरीर की भाषा का रंगमंच भी कहा जाता है।

हिन्दी रंगमंच पर रूपान्तरों और अनुवादों के द्वारा भी कविता, कहानी एवं उपन्यासों के नाट्यान्तर प्रस्तुत हुए हैं यद्यपि इसकी शुरुआत हिन्दी में मंचन योग्य नाटकों की कमी से मानी गयी जो अब निराधार और तर्कहीन हो गया है। बेगम का तकिया, राग दरबारी, बाणभट्ट की आत्मकथा, सुहाग के नूपुर, कभी न छोड़ें खेत, चन्द्रमा सिंह उर्फ चमकू, थैंक्यू मिस्टर ग्लाड, नाड़ी परीक्षा, महाभोज, बंजारा टोला, मित्रो मरजानी आदि के गम्भीर रूपान्तर हैं। मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'अन्धेरे में' और सर्वेश्वर की कविता 'कुआनो नदी' का मंचन भी हुआ है। बच्चों की उम्र और उनकी मानसिकता को ध्यान में रखते हुए बाल नाटकों का रंग प्रदर्शन हो रहा है। जिसे 'बाल रंगमंच' कहा गया है। एक पात्र द्वारा नाटक का अभिनय भी रंग प्रयोग की एक दिशा है, इसे 'एक नाटक' कहा गया है। रामबाण, तीन एकान्त, जादू बंगाल का आदि नाटकों को एक ही अभिनेता प्रस्तुत कर सकता है। इसके साथ ही देशी-विदेशी भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाएँ भी नाट्यानुवाद अथवा रूपान्तर के रूप में प्रदर्शित हो रही हैं, इस क्षेत्र में हिन्दी रंगमंच अत्यन्त उदार रहा है। समकालीन रंगमंच की बहुआयामी प्रगति का प्रभाव नाटक की समीक्षा पर भी पड़ा है-कृति समीक्षा और प्रस्तुति समीक्षा के नाम से नाट्य समीक्षा की दो दृष्टियाँ उभरीं, किन्तु जागरूक समीक्षकों ने नाट्यालेख और उसमें निहित रंग सम्भावनाओं के आधार पर रंगमंचीय दृष्टि से नाटकों को मूल्यांकित कर दृष्टि समग्रता का ही परिचय दिया है।

---

[596] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 83

[597] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 85

समकालीन हिन्दी रंगमंच की सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। मनोरंजन का एक प्रमुख साधन होने के बावजूद हिन्दी नाटक आज तक आम आदमी के जीवन का हिस्सा नहीं बन सका है और न बँगला तथा मराठी रंगमंच की तरह कोई ठोस आधार सृजित कर पाया है परन्तु कलात्मकता, प्रयोगशीलता और प्रभाव ग्रहणशीलता के सन्दर्भ में हिन्दी रंगमंच कमजोर तथा उपेक्षणीय भी नहीं है। "बहुत सारे दबावों, अन्तर्विरोधों और तनावों के वावजूद आज का नाट्यलेखन और रंगकर्म गम्भीर है। क्योंकि आस्था, समझदारी और कल्पनाशीलता के साथ उनमें उत्साह और प्रतिस्पर्द्धा का भाव भी है।"[598] दूसरी ओर, लोकशैली और पारम्परिक शैलियाँ भी रंगमंच की गति शून्यता के कारण अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही हैं। एक सार्थक नाटक के लिए कल्पनाशील निर्देशक, निर्देशकों को सक्षम और अभिनयकुशल कलाकार तथा अपेक्षित संसाधन और अन्ततः दर्शक की भागीदारी की असन्तुलित संयोग जैसी बाध्यताएँ भी जुड़ी हैं। वहीं यह भी सच है कि "हिन्दी रंगमंच का जो क्षेत्र और परिदृश्य निश्चित है, जो सुविधाएँ और मूलभूत संसाधन उपलब्ध हैं, उनकी तुलना में नाट्यलेखन और प्रकाशन की स्थिति काफी मजबूत है। कलाकारों का व्यावसायिक रंगमंच की ओर झुकाव, रंगमंच में आधुनिक तकनीकी प्रयोग, मौलिक हिन्दी नाटकों की अपेक्षा अनुवादों और रूपान्तरों की प्रस्तुति का आग्रह, नाटककार और निर्देशक के बीच बहसें और आर्थिक बदहाली जैसे संकटों से जूझता हुआ फिर भी मौलिकता की रक्षा के लिए प्रयासरत हिन्दी रंगमंच विकासोन्मुख है क्योंकि वह अपने स्वरूप में समकालीन जीवन को, कलाओं के सभी रूपों और माध्यमों के रंगमंचीय प्रभावों को अपने कलेवर में समेटे हुए है।"[599] आज के रंग नाटकों की रचना और उसकी प्रस्तुतियों से समकालीन हिन्दी रंगमंच की मुख्यधारा की दिशा और दृष्टि का आभास मिलता है किन्तु यथार्थवादी, संस्कृत, पारसी, पाश्चात्य और लोक रंगमंच के सम्मिलित प्रभावों से जो एक नया स्वरूप उभरता है, वही हिन्दी रंगमंच की निजी विशिष्टता मानी जा सकती है। प्रयोगधर्मी दृष्टि से यह हिन्दी रंगमंच के व्यापक रंगानुभव एवं प्रभाव क्षेत्र को अपनी परिधि में समेटता है, उसके बहुआयामी स्वरूप एवं विस्तार की सम्भावनाओं को रेखांकित करता है परन्तु अपने निजी व्यक्तित्व की पहचान और अस्तित्व की सार्थकता के लिए संघर्षरत उन आधारभूत कठिनाइयों की ओर भी संकेत करता है जिसने 'जानकी मंगल' के प्रदर्शन से लेकर आज तक की उसकी विकास यात्रा में बाधाएँ उत्पन्न की हैं।

इस प्रकार अल्प समय में ही हिन्दी रंगमंच ने उत्साहवर्द्धक विकास कर अपनी अर्जित उपलब्धियों की महत्ता साबित की हैं। "विभिन्न रंगशैलियों में नाट्य प्रस्तुति का प्रयास, रंगमंचीय

[598] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 125

[599] गिरीश रस्तोगी : बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 128

गतिविधियों के विकेन्द्रीकरण, विभिन्न नाट्य संस्थाओं के गठन एवं उनके द्वारा नियमित नाट्य प्रदर्शन की कोशिशें, रंगमंचीय अवधारणाओं में बदलाव, रंगमंच के प्रति रंगकर्मियों और दर्शकों के प्रति बढ़ती आसक्ति एवं अपेक्षाएँ, नाट्य प्रस्तुतियों में आस्वाद के लिए लोकमंच के तत्त्वों का विनियोग और निर्देशकों के नित नये नये कल्पनामूलक उद्भावनाओं से हिन्दी रंगमंच की दिशा और दृष्टि, स्थिति और सम्भावना, प्रकृति एवं प्रवृत्ति का सन्धान हो रहा है।"[600] इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि इस विकास प्रक्रिया में बीच-बीच में शिथिलता भी आती रही है जिसके लिए नाटककार तथा पार्श्वकर्मी और अभिनेताओं की उपेक्षा, निर्देशकों की मनमानी, दर्शकों की उत्साहहीनता, रंगकर्मियों के झूठे अहं तथा संकीर्ण स्वार्थी मनोवृत्तियाँ, वैचारिक टकराहट, गुटबाजी और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के बढ़ते प्रभाव को जिम्मेदार माना जा सकता है परन्तु जटिल अनुभव के इस जीवन्त एवं सार्थक अभिव्यक्ति माध्यम के भविष्य को लेकर निराश होने की स्थिति भी नहीं है। "आज हिन्दी रंगमंच अपनी निश्चित निज स्व दृष्टि, मौलिक पहचान और एक विशिष्ट शैली के अन्वेषण की ओर अग्रसर है जिससे परिपुष्ट काव्यात्मक और आन्तरिक यथार्थवाद की अवस्था के सृजन की आशा बँधती है।"[601] गम्भीर तथा आत्मान्वेषी, आत्मानुशासन एवं निष्ठावान नाट्यकार तथा निर्देशक के रंगकर्मी व्यक्तित्व से रंगमंचीय क्रियाकलापों में सजगता तथा सक्रियता आई है। प्रयोगों की विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ हिन्दी रंगमंच प्रौढ़ता और परिपक्वता की उस सीमा तक पहुँचने में समर्थ हो रहा है जहाँ से फिर परिवर्तन और प्रयोग की दूसरी दिशा आरम्भ हो जाती है। इसलिए तीव्रता और बदलाव की प्रक्रिया से गुजरता हुआ हिन्दी रंगमंच निश्चय ही विकास और उपलब्धियों का नया मानदंड निश्चित कर सकेगा।

भारतीय रंगमंच के इतिहास में कथावाचन, कथागायन और आख्यान की मौखिक परम्परा अति प्राचीन है। युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप इन कथाओं ने लिखित कविता एवं कहानी का रूप लिया और इन्हें लिपिबद्ध किया जाने लगा। "साहित्यकार उपन्यास अथवा कहानी का सृजन पाठकों श्रोताओं के लिए करता है। उपन्यास और कहानी के आधुनिक लिखित एवं प्रकाशित साहित्य-रूप को पाठक और श्रोता की सीमा लाँघकर सीधे दर्शकों तक लाने का प्रयास उपन्यास और कहानी के रंगमंच द्वारा किया जा रहा है।"[602] आज नये सन्दर्भों और दृश्य माध्यमों के कारण यह प्रश्न पुनः उठाया जा रहा है कि रंगमंचीय दृष्टि से, प्रयोग-प्रक्रिया से लेकर प्रस्तुति-आस्वादन

[600] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 142

[601] गिरीश रस्तोगी : बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 147

[602] राम किशोर यादव : लोक नाट्य, पृष्ठ संख्या 42

तक इन विधाओं के समायोजन का स्वरूप और इनके बीच सौन्दर्यबोध का कौन-सा सामान्य धरातल हो सकता है। "हिन्दी रंगमंच पर संगीत, नृत्य, चित्रकला, कविता, कथा-साहित्य आदि को लेकर विभिन्न प्रयोग हो रहे हैं और इन विधाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को रंगमचीय निकष पर कसते हुए।"[603] इनमें अभिनय, रंगभाषण आदि के नये रूप और उनकी मर्यादाओं को रेखांकित करने के प्रयास हो रहे हैं।

प्रवृत्ति, प्रकृति और स्वरूप की दृष्टि से कविता श्रव्य-काव्य की महत्त्वपूर्ण विधा है "जिसे आचार्यों ने 'वाक्यं रसात्मकम्' अथवा 'रमणीय अर्थ-प्रतिपादक-शब्द आदि कहकर परिभाषित किया है तथा इसकी आत्मा को जानने-समझने के लिए विभिन्न सम्प्रदाय स्थापित कर अपने आत्मा को जानने-समझने के लिए विभिन्न सम्प्रदाय स्थापित कर अपने मत प्रतिपादित किये हैं।"[604] लय, तुक, अलंकार, ध्वनि, छन्द और आकार आदि के अनुशासन में चलने वाली कविता गद्य साहित्य की समस्त विधाओं से एकदम हटकर है। इसके शब्दों से उठने वाली भाव-तरंगों का अनुभव करने वाले काव्य-रसिक पाठक सीमित होते हैं। पाठकों का एक विशाल वर्ग कविता स्वादन से वंचित रह जाता है। इस कमी को दूर करने का प्रयास कविता के रंगमंच द्वारा किया जा रहा है जिससे कविता की ऐकान्तिक संवेदना, दर्शकों के समूह-मन की संवेदना बनती है।

वस्तुतः कहानी किसी घटना या स्थिति का किया गया वर्णन है जिसमें वह वर्तमान में अतीत की सूचना बनती है। अतः कहानी मूलतः पाठ्य-साहित्य की सीमाओं में आती है। पुस्तक के पृष्ठों में समाई कहानी को पढ़ने-सुनने के संकीर्णवृत्त से निकालकर उसे सीधे दर्शकों के सामने लाना और मंचीय प्रस्तुति के माध्यम से समूह मन का अनुभव बनाना ही कहानी का रंगमंच है। इस नवीन नाट्य प्रयोग में कहानी सामूहिक अनुभव में ढलती है जिसमें दर्शक भी साझा करते हैं। "इन प्रयोगों में कविता और कहानी के ये नये रूप कथावाचकों, चारणों, किस्सागो, बैतालिकों आदि से मिन्न हो जाते हैं क्योंकि इनमें नयी संवेदना के साथ दर्शक या पाठक से संवाद स्थापित करने का प्रयास निहित है।"[605] आधुनिक दृश्य-श्रव्य माध्यम जहाँ दर्शकों को उपभोक्ता सामग्री का वाहक बनाकर उसके विचार, रुचि और अनुभूति को एक सामूहिक स्थूल ढाँचे में ढालते हुए उसकी रचनात्मक भूमिका को ही नष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं, वहाँ उपन्यास तथा कहानी के रंगमंचीय प्रयोग रचनाकार, अभिनेता और दर्शक के बीच एक नवीन सम्पर्कसूत्र स्थापित करते हैं। यह सोचना भ्रामक होगा कि नाटकीयता केवल नाटक विधा की सम्पत्ति है। यथार्थतः कला की हर विधा

[603] राम सागर त्रिपाठी : भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 45

[604] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 89

[605] गिरीश रस्तोगी : बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 185

अलग-अलग ढंग से नाटकीय होती है। यह इसलिए, क्योंकि वह अलग-अलग रूपों में दुनिया से अपने को जोड़ती है और जीवन के अन्तर्विरोधों की प्रतीति करवाते हुए उच्चतम जीवन-लक्ष्यों की ओर अग्रसर करती है।

दृश्यकाव्य एक ऐसा कला-रूप है जिसमें नाट्य प्रस्तुति और साहित्य दोनों का वजन बराबर होता है। दूसरे शब्दों में नाट्य का सम्पूर्ण संसार काव्यार्थ को प्रकाशित करने के लिए ही रचा गया है। "आज हमें भारत भर में पारम्परिक अथवा लोकनाट्यों के जो शताधिक रूप उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें से अधिकांश इसी नाट्य परम्परा से विकसित हुए हैं। आधुनिक कविता अथवा कहानी के रंगमंचीय तार भी कहीं न कहीं उसी परम्परा से जुड़ते हैं किन्तु ये उसके सम्पूर्ण समकालीन रूपान्तरण हैं।"[606] कहानी के रंगमंच के दर्शकों को कहानी पढ़ने और देखने का अनुभव एक साथ होता है। इसमें वाचिक अभिनय प्रधान और अन्य अभिनय गौण होते हैं। कहानी की रंगमंचीय प्रस्तुति भी अभिनय की प्रचलित पद्धति से भिन्न होती है। "रंगमंचीय कहानी का अभिनेता नाटक के किसी अभिनेता की तरह न तो आद्योपान्त एक भूमिका का निर्वाह करता है और न ही नाट्य-आलेख से मिलने वाली सहायताओं- दृश्यबन्ध, रंगोपकरण, वेश-भूषा, रूप-सज्जा, पार्श्व-संगीत, ध्वनि-प्रवाह आदि का उपयोग करते हैं।"[607] यहाँ कहानी और रंगमंच के मध्यवर्ती अन्तर को देखते हुए, जो है उससे अधिक की माँग की जाती है। इस प्रयत्न में कहानी के रंगमंच का अभिनेता, कहानी -सत्य का अनुभव करते हुए उस दृश्यभाषा को चुनता है जिसमें वह लेखक, निर्देशक और स्वयं की कहानी एक साथ दिखाता-सुनाता है। इस तरह कहानीकार की कहानी और अभिनेता द्वारा अभिनीत पात्र एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं। सम्पूर्ण प्रक्रिया में कहानीकार, अभिनेता और दर्शक, तीनों के 'स्व' एक-दूसरे में घुल-मिलकर साझा अनुभव बन जाते हैं।

रंगमंच का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसमें नाटक और नुक्कड़ नाटक हैं, तो उपन्यास और कहानी के मंच भी हैं। रंगमंच पर उपन्यास अथवा कहानी की प्रस्तुत ऐसे आलेखों का मंचन है जो मंच के लिए लिखे ही नहीं गये। "ये ऐसे नाट्य प्रयोग हैं जिनके लिए न तो स्वयं का कोई व्याकरण है और न ही कोई पद्धतिशास्त्र। इनकी प्रस्तुतियाँ निर्देशक और अभिनेता के विवेक तथा कौशल पर पूर्णतः निर्धारित होती हैं। इसमें दर्शकों का ध्यान अभिनेता पर केन्द्रित होता है अतः अभिनेता का दायित्व और भी बढ़ जाता है।"[608] अभिनेता का काम चुनौतीपूर्ण होने के साथ-साथ रोमांचक भी होता है उपन्यास अथवा कहानी की मंचीय प्रस्तुति, अभिनेता के अभिनय कौशल, सम्प्रेषण

[606] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 51

[607] डॉ. मनोहर काले : भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृष्ठ संख्या 71

[608] राम किशोर यादव : लोक नाट्य, पृष्ठ संख्या 12

सामर्थ्य और अभ्यास पर निर्भर करती है। वह अपने अभिनय से प्रस्तुति को सजीव अथवा निर्जीव बना सकता है। "इन रंगमंचीय प्रयोगों में मंचसज्जा का अभाव होता है अतः इसकी पूर्ति करने हेतु अभिनेता को कभी कटा-छँटा वृक्ष बनना पड़ता है, कभी खम्भा, कभी चौराहा, तो कभी-कभी कुर्सी और मेज भी बनना पड़ता है। सूत्रधार, टिप्पणीकार, चरित्र और वर्णनकर्ता के साथ-साथ यह अभिनेता मंचीय उपकरण भी होता है और कभी-कभार ध्वनि-प्रभाव देने वाला यन्त्र भी। अपरिवर्तित रंगमंचीय चित्रों और प्रतीकों को शत-प्रतिशत रूपायित करना उसके लिए चुनौती हो जाती है।"[609] वर्णनात्मक कहानी अथवा कविता में अभिनेता को वर्णन को जीवन्त बनाना होता है। ताकि दर्शकों का ध्यान लगा रहे। इस हेतु उसे बहुत से अभ्यासों, जैसे-सम्भाषण, अभिव्यक्ति, अन्तर्निहित पाठ और विराम आदि से गुजरना पड़ता है। ऐसी प्रस्तुतियों में उसकी एकमात्र सम्पत्ति उसका शरीर और वाणी ही होती है। तात्पर्य यह कि उपन्यास अथवा कहानी की मंचीय प्रस्तुति में अभिनेता स्वयं अपने को निचोड़ने की अनुभव-प्रक्रिया से गुजरता है। यदि अभिनेता इन मर्यादाओं के आगे या पीछे जाता है तो कविता अथवा कहानी की रंगमंचीय सीमाएँ टूट जाती हैं।

सीमान्तर्गत यह उल्लेखनीय है कि उपन्यास अथवा कहानी में कोई भी सार्थक कथा-प्रयोग अपने में नाटकीय हो सकता है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह मंचन के लिए भी उपयुक्त ही होगा। मंचन के लिए विषय-वस्तु का महत्त्व नहीं होता बल्कि उसका तन्तुजाल महत्त्वपूर्ण होता है। इनके मंचन में दृश्य और श्रव्य दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। मंच के आलोक में दोनों एक-दूसरे को प्रकट करते हैं। इसी के साथ मंचन में भाषा के साथ भी न्याय करना पड़ता है। रंगमंच का दर्शक पाठक की तरह, अभिनेता के मुख से उच्चरित शब्दों को मात्र सुनता ही नहीं देखता और पढ़ता भी है। वह अभिनंता के माध्यम से शब्दों को देखता है और उनमें छिपी सूक्ष्म संवेदनाओं के कम्पन का अनुभव करता है। अतः यह आवश्यक है कि कविता या कहानी के मंच का अभिनेता शब्दों की शक्ति और उनकी सामर्थ्य का ज्ञाता हो। इस हेतु पूर्णाभ्यासों में भाषा और रंगभाषण पर परिश्रम किया जाना चाहिए।

उपन्यास और कहानी के रंगमंचीय प्रयोगों में ध्वनि का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। "अभिनेयता क्रम में अभिनेता बार-बार शब्दों के पास वापस आता हुआ उन ध्वनियों को भी रेखांकित करता है जो अनुभव के सत्य का साक्षात्कार करने में मंचन का अनिवार्य अंग होती हैं और इसीलिए कहानी में निहित सूचनाओं को वर्तमान में लाने के मंचीय प्रयास में वर्णनकर्ता और

[609] डॉ. सुरेश वशिष्ठ : हिंदी नाटक और रंगमंच ब्रेख्त का प्रभाव, पृष्ठ संख्या 42

वाचक भी आता है।"[610] वास्तव में, इन मंचीय प्रस्तुतियों में संवाद, वर्णन और मौन की ध्वनियाँ परस्पर इस तरह जुड़ी रहती हैं कि का अर्थ दूसरी के बिना खुल ही नहीं पाता। इस क्रम से गुजरते हुए अभिनेता मंचीय प्रस्तुति को उसके उच्चतम सम्भावना बिन्दु पर ले जाता है। "उपन्यास और कहानी में निहित सूक्ष्मतम ध्वनियाँ मंच पर दृश्य में रूपायित होती हैं। यही रूप नाटक से अलग हटकर एक नवीन कला-रचना और कलात्मक अनुभव बनकर सामने आता है।"[611] इन उल्लेखनीय तथ्यों के प्रकाश में कविता अथवा कहानी की रंगमंचीय सीमाओं का, संक्षेप में इस प्रकार निर्धारण किया जा सकता है।

उपन्यास और कहानी के रंगमंच, मंचीय साहित्य की नयी विधाएँ हैं। इनके रंगमंच में उपन्यास और कहानी की प्रस्तुति इस तरह की जानी चाहिए कि उनका मूल रूप विकृत न हो और उनमें बिना जोड़-तोड़ किये दर्शकों को नाटक का रसास्वादन हो सके। "नाटकीय प्रस्तुति में उपन्यास अथवा कहानी का क्रमविन्यास भी परिवर्तित नहीं किया जाना चाहिए। कहानी पढ़ते समय पाठक की कल्पना कहानी को दृश्यों में बदलती रहती है किन्तु रंगमंच पर दिखाई जाने वाली कहानी में दोनों प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। यहाँ पाठक मात्र श्रोता नहीं, दर्शक भी बन जाता है।"[612] कहानी के वर्णन वाले स्थल, उन्हें मंच पर प्रस्तुत करने वाले अभिनेता से जुड़ जाते हैं। कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब मंचीय भूमिका का निर्वाह अभिनेता वर्णनात्मक भाग का वाचन भी साथ-साथ करता है और यही नहीं कथ्य के अनुसार मैं, आप, तुम, वह आदि की भूमिकाओं से होते हुए उसे कई बार अनेक पात्रों के लिए वाचन भी करना पड़ता है। कहानी के रंगमंच में वृत्तान्त कथन को हटाया अथवा निकाला नहीं जा सकता, उसे यथावत रखा जाता है और मँजे अभिनय के साथ प्रस्तुत किया जाता है। "अभिनेता द्वारा कल्पनाशील कविता और कहानी के रंगमंचीय प्रयोग अपने आप में स्वतन्त्र विधाएँ हैं और नाटक विधा से हटकर हैं। इनकी प्रस्तुतियों का स्वरूप अभिनव है अतः इनका कोई रंगमंचीय व्याकरण अभी तक प्रकाश में नहीं आया है।"[613] नाटक के नियम-कायदे इन पर लागू नहीं होते और न ही नाट्यशास्त्र की सीमाओं में इन्हें जकड़ा जा सकता है। कहानी अथवा कविता को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के निमित्त कोई नाट्यालेख तैयार नहीं किया जाता। इन प्रस्तुतियों में समस्त अभिनय अभिनेता ही करता है अतः अलग से सूत्रधार या वाचक की व्यवस्था नहीं की जाती, किन्तु आवश्यकतानुरूप एकाधिक वाचक का नियोजन किया भी जा सकता है।

---

[610] डॉ. सुरेश वशिष्ठ : हिंदी नाटक और रंगमंच ब्रेख्त का प्रभाव, पृष्ठ संख्या 56

[611] (सं) हरीशचन्द्र अग्रवाल : नाटक के सौ बरस, पृष्ठ संख्या 149

[612] (सं) हरीशचन्द्र अग्रवाल : नाटक के सौ बरस, पृष्ठ संख्या 341

[613] महेश आनंद: भारतेंदु युगीन हिंदी रंगमंच, पृष्ठ संख्या 145

उपन्यास और कहानी के रंगमंच के निर्देशक से यह अपेक्षा रहती है कि उसमें कथ्य के प्रति गहरी सूझ-बूझ हो। परिपाटी के अभाव में उसे अपने समस्त कार्य स्व-विवेक से करने होते हैं "क्योंकि नाटक का निर्देशक जहाँ नाट्य व्याकरण की ठोस भूमि पर खड़ा होता है वहीं उपन्यास और कहानी का निर्देशन निराधार होता है। निर्देशक का यह भी दायित्व है कि वह योग्य एवं कुशल अभिनेताओं चयन कर मंच पर लाये, क्योंकि कविता और कहानी के साथ न्याय करने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी अभिनेता का होती है।"[614] नाटक में अभिनेता प्रारम्भ से उसके अभिनयान्त तक एक ही भूमिका को निभाता है किन्तु कथा के रंगमंच का अभिनेता अनेक भूमिकाओं का निर्वहन करने के साथ-साथ अन्य अनेक भूमिकाएँ भी निभाता है। उसे उपन्यास या कहानी के कथन में अपनी ओर से कुछ जोड़ने अथवा उसके किसी अंश को हटाने की अनुमति भी नहीं है। अभिनेता के लिए यह भी चुनौती है कि वह कथा में छिपी नाट्य क्रियाओं को तलाशे और वृत्तान्त कथन के साथ कल्पनाशील संयोजन करते हुए उनका अभिनय करे।

उपन्यास और कहानी की रंगमंचीय मर्यादाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि ये रंगमंचीय प्रयोग नाटक के विकल्प या स्थानापन्न नहीं हैं और न ही नाटकीय स्वाद-परिवर्तन के साधन। "रंगमंच पर प्रस्तुत उपन्यास और कहानी में संवादों, विवरणों, व्याख्याओं आदि को अंगचालन तथा भावभंगिमा द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं जिसके कारण इनकी प्रस्तुति दर्शकों के लिए रुचिकर हो जाती है यदि इन प्रस्तुतियों में संगीत अथवा ध्वनियों का प्रयोग सम्मिलित किया जाये तो प्रस्तुति और भी प्रभावशाली बन सकती है।"[615] इनके लिए निर्देशकों को ऐसी कहानी चुननी चाहिए जिसमें संगीत या नृत्य के तत्त्व उपस्थित हों। संगीत अथवा नृत्य को उपन्यास के रंगमंच में एक सीमा तक लाया जाये तो एक नया आयाम स्थापित हो सकता है। रंगमंचीय विस्तार के लिए कहानी का आलेख अच्छा होना चाहिए उसमें गहरी संवेदना और दर्शकों के मनोमस्तिष्क को झकझोरने की सामर्थ्य होनी चाहिए। निर्देशक को चाहिए कि वह इन आलेखों को छोड़े जिनमें नाट्य के मूल तत्त्व उपस्थित हों और जिनका मंचन सहज हो। चुनौती तो यह है कि वह उन आलेखों को मंचित करे जिनमें कहांनी की मूलभूत विशेषताओं के साथ अभिनेता भी हो। इनमें एक ऐसा कथा नायक हो जो नाट्य तकनीकों का प्रयोग करते हुए आलेख के सभी चरित्रों के साथ उसे मंच पर प्रस्तुत कर सके। आधुनिक सन्दर्भ में हम देखते हैं कि पाठकों को रुच्यानुरूप कविता या कहानी नहीं मिलती या फिर साहित्य की इन विधाओं को उनके अनुरूप पाठक नहीं मिल पाते, अतः इन विधाओं को रंगमंच पर लाकर इनके प्रति पाठकों दर्शकों का ध्यान आकृष्ट कर साहित्य क्षितिज को विस्तार दिया जा सकता है।

---

[614] गिरीश रस्तोगी : बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 174

[615] डॉ. सुरेश वशिष्ठ : हिंदी नाटक और रंगमंच ब्रेख्त का प्रभाव, पृष्ठ संख्या 128

5.4 रंगमंचीयता की समस्या और स्वरूप

हिन्दी रंगकर्मी हिन्दी रंगमंच की वर्तमान स्थिति को निश्चित रूप से पूर्व निर्धारित नियति नहीं मानता जिस लोकप्रिय नाटक को रंगकर्मी मंच पर बार-बार खेलते रहे हों, 3 अप्रैल 1868 के दिन से प्रारम्भ हुई आधुनिक हिन्दी रंगमंच की आज तक की यात्रा को एक स्वर्णिम यात्रा तो नहीं माना जा सकता। "इस सन्दर्भ में प्रसंगवश भारतेन्दु को याद करना आवश्यक हो जाता है। भारतेन्दु एक पूर्ण रंगव्यक्तित्व थे- लेखन से लेकर अभिनय, मंच व्यवस्था, निर्देशन व रंगमंडली की व्यवस्था संचालन तक उन्होंने जिस समर्पण की भावना से कार्य करते हुए हिन्दी रंगमंच को जो एक ठोस आधार प्रदान किया, उसके बाद के कालखंड में उसकी सततता बनाये रखने वाला दूसरा व्यक्तित्व नहीं हुआ।"[616] यद्यपि भारतेन्दु का समय एक संक्रमण का समय था, मनोरंजन के साथ-साथ रंगमंच को ये शस्त्र की तरह प्रयोग कर रहे थे, जिससे कि ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ जनान्दोन एक मुख्य रूप ले रहा था। इसके साथ ही साथ उन्होंने कथ्य व शिल्प में लोकतत्त्वों का भी प्रयोग इस तरह किया, जिससे कि दर्शक वर्ग रंगमंच के अनुभव आसक्ति पूर्वक जुड़ सके और इस आसक्ति की क्रमबद्धता दर्शकों में बनी रह सके लेकिन भविष्य में दुखद यह रहा कि नाटक को मात्र साहित्य का अंग मान लिया गया, परिणामतः हिन्दी रंगमंच को मिला बोझिल और आदर्शोन्मुख नाट्य साहित्य, जिसका नाटक के तकनीकी प्रदर्शन विधा से कोई सरोकार नहीं रहा। इसके साथ ही हिन्दी पट्टी में प्रदर्शनकारी कलाओं के प्रति सामाजिक अस्वीकृति ने नाटक को पुस्तकालय की अलमारियों में कैद रखा। "केवल शैलीगत प्रयोग को लेकर लिखे गये नाटकों द्वारा भविष्य के वर्णों में रंगकर्मियों के साथ ही साथ दर्शकों को भी कुछ नहीं मिल पाया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी रंगमंच की स्थिति भविष्य में बहुत आश्वस्त नहीं कर सकी।"[617] आज हिन्दी रंगमंच अपनी अस्मिता के लिए जूझ रहा है। वह इसलिए कि अभी तक हिन्दी रंगमंच का पूर्ण व्यावसायिक स्वरूप नहीं हो पाया है और जो व्यवसाय उससे सम्बन्धित व्यवसायिकों के लिए रोज़ी-रोटी की समस्या हल न कर सके उस व्यवसाय और तत्सम्बन्धित विधा को अस्मिता से जूझना ही कहा जायेगा। इसमें कोई संशय नहीं कि कारण चाहे जो भी हो, लेकिन स्थिति गम्भीर है और इस आरोप से हम मुफ्त नहीं हो सकते। विगत एक शताब्दी से रंगमंच की व्यावसायिकता को लेकर हम वहीं के वहीं हैं। रंगमंच की प्रतिभाओं का पैसों के लिए फिल्मों में पलायन जारी है। और फिल्मों में भी अधिकांश प्रतिभाएँ स्तरीय कार्य न पाने के फलस्वरूप कुंठा का शिकार हो रही हैं। वर्तमान में हिन्दी रंगमंच के दो अलग-अलग स्वरूप को हम अस्वीकार नहीं कर सकते - एक तो सरकारी और

[616] महेश आनंद: भारतेंदु युगीन हिंदी रंगमंच, पृष्ठ संख्या 78
[617] महेश आनंद: भारतेंदु युगीन हिंदी रंगमंच, पृष्ठ संख्या 79

दूसरा मुक्त बाज़ार का। सरकारी स्वरूप ने जहाँ नाटक और रंगमंच को एक प्रकार से आश्रय दिया है, वहीं पर उसने नुकसान भी बहुत पहुँचाया है। "हिन्दी रंगमंच की जीवन्तता, स्वायतत्ता, प्रखरता तथा नये राह तलाशने और नये ख़तरे उठाने की क्षमता के धार को इसने कुन्द किया है। हम सरकारी अनुदानों व उनके रहम-ओ-करम पर ज़्यादा आश्रित रहने लगे हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि सरकारी आश्रय से एक प्रकार की मुफ़्तखोरी की संस्कृति पैदा हुई है।"[618] बजट प्राप्त और उसके येन-केन-प्रकारेण उपयोग की संस्कृति बढ़ी है क्योंकि सरकारी आश्रय पर जीवित रहने वाले संस्कृति की कोई कर ऊर्जा नहीं होती तथा न ही उसके कथ्य में अधिक बेबाकी की अपेक्षा ही आप कर सकते हैं। इस विषय में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ ऊँची पहुंच वाले लोग विभिन्न नाट्य समारोहों में सामान्य स्तर की प्रस्तुतियाँ लगवा लेते हैं, वहीं छोटे-छोटे कस्बों और नगरों के जुझारू व शीकिया रंगकर्मियों की सुविधा के लिए सरकार के द्वारा कोई भी सार्थक या गम्भीर प्रयास नहीं किया जा रहा है।

यहाँ तक कि रंगमंच को लेकर बुद्धिजीवियों, समाज के विशिष्ट जनों व साहित्यकारों द्वारा भी बहुत अपेक्षित भूमिका का निर्वहन नहीं हो पाया उन साहित्यकारों द्वारा के नाटककार भी हैं, "रंगमंच की लोकप्रियता, प्रतिबद्धता या सरकारी स्तर पर शौकिया रंगमंच को आश्रय को लेकर कभी भी सीधी आवाज नहीं उठाई गयी। समाज के द्वारा भी इस विधा को बहुत ही उपेक्षित विधा मानकर इस जमात के लोगों को तिरस्कृत किया गया।"[619] अकादमिक विद्वानों ने नाटक को अधिकांशतः एक पठनीय साहित्य मानने पर ही जोर दिया। प्राध्यापकों द्वारा भारतेन्दु की अपेक्षा प्रसाद के व्यक्तित्व और नाट्य कृतित्त्व को खूब महिमामण्डित किया गया। नाटक तो पढ़ाया गया, लेकिन इस बात को पाठ्यक्रमों में कभी नहीं रखा गया कि नाटक मात्र पढ़ने की वस्तु नहीं है, बल्कि इसका रिश्ता रंगमंच से है। रंगमंच को अकादमिक सूची से सदैव बहिष्कृत किया गया। इसका दूरगामी प्रभाव यह हुआ कि जो भी युवा पीढ़ी पढ़-लिखकर निकली, उनमें रंगकर्म के प्रति जो आस्था-समर्पण और उत्तरदायित्व होना चाहिए, वह नहीं हुआ। अन्ततः जनसामान्य के द्वारा भी इसको वह सामाजिक स्वीकृति नहीं मिली, जिस स्तर की स्वीकृति रंगमंच के लिए अपेक्षित थी।

इस मुद्दे पर बात करने के लिए प्रारम्भ में ही समाज और सरकार इन दोनों पक्षों पर एक बार भी चिन्ता व्यक्त करना थोड़ा असहज ज़रूर लगता है परन्तु इसके सत्य को नकारा नहीं जा सकता। "यह इसलिए कि सरकारी और सामाजिक तन्त्र, दोनों इस मामले में महत्त्वपूर्ण हैं कि जहाँ एक ओर

[618] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 46
[619] गिरीश रस्तोगी : बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 45

चलताऊ सांस्कृतिक नीति के कारण सरकार- आश्रयी रंगकर्म बहुत कुछ फलने-फूलने की स्थिति में नहीं रहा, नहीं दूसरी ओर रंगकर्म को सदैव सामाजिक उपेक्षा और तिरस्कार मिला।"[620] हिन्दी पट्टी में अन्य प्रदर्शनकारी विधाओं की अपेक्षा नाटकों के प्रति सरकारी रवैया बहुत ठीक नहीं रहा। रंगमंच के साथ सदैव दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता रहा है। एक गायक, संगीतकार, नर्तक किसी एक राग, विषय अथवा शैली की तैयारी करके कई सालों तक उसकी प्रस्तुतियाँ कर सकता है, जीजाबाई की एक पांडवानी-प्रसंग उनके जीवन भर के लिए प्रस्तुति हेतु तैयार सामग्री है किन्तु एक रंगमंडल, चाहे वह शौकिया हो या व्यावसायिक, को एक अन्तराल के बाद नई प्रस्तुति अवश्य करनी पड़ती है। यहाँ उद्देश्य अन्य कलाओं की आलोचना करना नहीं है, अपितु रंगमंच की तुलनात्मक स्थिति को प्रस्तुत करना है कि इसे सरकारी स्वीकृति कितनी मिली है। "सरकार की यह भूमिका होनी चाहिए कि नाट्य दलों को आर्थिक सहायता करने के साथ ही साथ उन्हें अखबार, रेडियो, टी. वी. पर सस्ते विज्ञापन की सुविधाएँ। नाट्य पत्रिकाओं को आर्थिक सहायता दें। यहाँ केवल दर्शक वर्ग, समाज और सरकार पर ही दायित्व सौंपकर मुक्त नहीं हो सकते।"[621] थियेटर को व्यावसायिक बनाने की जरूरत को गम्भीरता के साथ महसूस किया जाना चाहिए। किन्तु दुखद यह है कि इस जिम्मेदारी से रंगकर्मी ही भाग रहे हैं। व्यावसायिक रंगमंच के लिए चाहिए समर्पण और रंगसंस्था के प्रति आस्था जब तक रंगकमी एक लम्बे समय तक पूरी आस्था के साथ, एक दल के साथ प्रतिवद्ध काम नहीं करेगा शीकिया रंगमंच का व्यावसायिक स्वरूप सम्भव नहीं है। यह नहीं होना चाहिए कि रोज़ी-रोटी के नाम पर वह पूरे जीवन को होम कर दें। होम करना भी नहीं पड़ेगा, क्योंकि अगर रंगमंच व्यावसायिक होता है, तो स्वाभाविक है कि उससे संस्था को आय होगी और इस आय का भागीदार सम्बन्धित कलाकार भी होगा। व्यावसायिक थियेटर के लिए मनोरंजक और आम आदमी को पसन्द आने वाले नाटक के मंचन की आवश्यकता है। हमें दर्शक को ध्यान में रखकर नाटक लिखने और करने की जरूरत है। कहीं-न-कहीं यह भय होना चाहिए कि दर्शक जो टिकट का पैसा दे रहा है, उसकी जवाबदेही किसकी होगी, क्योंकि शौकिया थियेटर के बल पर ही आप रंगमंच का व्यावसायिक स्वरूप नहीं बना सकते हैं। "एक लम्बे समयान्तराल के बाद रंगमंचीय गतिविधियों के तीव्रतर होने और नाट्यधर्मिता तथा रंगधर्मिता जैसे चिन्तन के विकसित होने से इसे मंच सापेक्षता की स्थिति हासिल हुई है और नाटक को दर्शकों तक पहुँचाना रंगमंच का अनिवार्य धर्म माना गया है।"[622] स्पष्टतः दृश्य तत्त्वों के आधार पर दर्शकों के मन मंच पर नाटक को पूर्णतः अभिनीत कराना ही उसकी दृश्यात्मकता है और वही उसका रंगमंच भी। अतः रंगमंच

[620] डॉ. मिथलेश गुप्ता : समकालीन हिंदी नाटक रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में, पृष्ठ संख्या 61

[621] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 42

[622] गिरीश रस्तोगी : बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 16

नाट्यात्मक अनुभूति को उसी रूप में दर्शकों तक सम्प्रेषित करने का माध्यम है। इन नये नाटकों से हिन्दी रंगमंच पर इतनी उथल-पुथल हुई है कि नाटक और नाट्य समीक्षा से सम्बन्धित सारे विचारों का केन्द्र रंगमंच बन गया है और यही कारण है कि समीक्षा की दृष्टि तथा मूल्यांकन की पद्धति में भी अपेक्षित बदलाव एवं नयापन आया। "आज एक नाट्य समीक्षक को नाटक की समीक्षा करते समय उसके दोनों पात्रों पर दृष्टि रखनी पड़ती है और कहा जा सकता है कि साठोत्तर नाट्य समीक्षा में इस दायित्व के प्रति अधिक सजगता दीखती है।"[623] यदि एक ओर वह काव्य के रूप में नाट्यलेख की समीक्षा करता है तो दूसरी ओर उसमें दृश्यत्व की सम्भावनाओं को पकड़ कर उसकी रंगधर्मिता के सन्दर्भ में नाट्यालेख को रंगमंचीयता की दृष्टि से भी परखता है।

नाट्य समीक्षक नाटक की प्रभावान्विति यानि नाटक की रचना-प्रक्रिया से दर्शकों तक ऐकान्तिक लयात्मकता और गत्यात्मकता के साथ प्रत्यक्ष सम्प्रेषण, नाट्यरचना का समग्र प्रभाव और अन्ततः रचनात्मक दृष्टिकोण तथा सृजनात्मक शक्ति के आधारभूत उपादानों की रंगधर्मिता के रूप में और रंगमंचीय काव्य के रूप में उसकी दृश्य एवं काव्य की समग्र चर्चा करता है जिसमें रंगोपलब्धि की स्पष्ट एवं विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है। "नाट्यधर्मिता, रंगानुभव, रंगदृष्टि और रंगधर्मिता से जुड़ी नाट्य समीक्षा की इस नयी दृष्टि के अन्तर्गत नाट्यरचना के काव्यत्व यानि नाटककार की सृजनात्मकता एवं रचना-प्रक्रिया की स्थूल-प्रक्रिया और दृश्यत्व यानि रंगमंचीय सम्भावनाओं तथा रंग परिकल्पनाओं के एकत्र एवं समानुपातिक संयोजन पर जोर दिया गया"[624] और इस प्रकार नाटक की रचना से लेकर नाट्य प्रस्तुति तक के स्थूल सूक्ष्म तथा दृश्य-श्रव्य तत्त्वों का समायोजन रंगधर्मिता और नादयधर्मिता के परिप्रेक्ष्य में एकान्तिक रूप में तथा नाटक और रंगमंच के एकात्म एवं संश्लिष्ट स्वरूप में किया जाने लगा। इसी क्रम में अभिनय, दर्शक, रंगपरिकल्पना तथा रंग दृष्टि जैसे अनिवार्य तत्त्व भी विवेचित होते गये एवं नाट्यरचना तथा नाट्य प्रस्तुति के बीच की गहराई को मापकर उसे यथासम्भव पाटने का प्रयास किया गया। वर्तमान में रंगधर्मिता की विशिष्टता एवं रंगदृष्टि की प्रखरता ने ही नाटककार का ध्यान रंगमंचीयता की ओर खींचा है और इसलिए एक नाटककार नाट्यरचना करते समय अथवा नाटक की रचना-प्रक्रिया के दौरान उसकी रंग-परिकल्पना यानि दृश्यात्मकता को पहले महत्त्व देता है और कदाचित् नाट्य समीक्षक भी सबसे पहले नाट्यरचना में रंगमंचीय प्रस्तुति से जुड़े तत्त्वों पक्षों एवं आधारों को और इस प्रकार नाटक की नाट्यधर्मिता तथा कहीं गहरे उसकी रंगधर्मिता को महत्त्व देते हैं। "नाटक का सारा रंग-विधान उसके आलेख में रहता है यानि रंगमंच का सारा विधान नाट्यालेख में ही निहित

[623] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 65

[624] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 40

होता है जो नाट्य प्रस्तुति के समय नाटककार द्वारा दिये गये रंग-निर्देशों, निर्देशित रंग-शिल्प तथा रंग-विधान के एक साथ संयोजन से मूर्तता प्राप्त करता है।"[625] रंग-साधनों का सन्तुलित प्रयोग नाटक के बाह्य एवं आन्तरिक तत्त्वों का समायोजन रंगमंच के अन्तः रंगों का अन्वेषण, रंग-दृष्टि की नवीनता तथा रंगधर्मिता से जुड़े अन्य सभी अनिवार्य पहलू नाटक के वस्तु-विधान में एक- एक कर इस तरह संगुम्फित रहते हैं जो प्रस्तुति के समय मूर्त स्वरूप प्राप्त करते हैं। "मंचीय प्रस्तुति के समय कोई भी नाटक केवल रंग आयामों से परिपूर्ण दृश्य ही नहीं होता अपितु वहाँ नाट्यालेख भी दृश्य बन जाता है तथा आलेख में केवल काव्यत्व ही नहीं होता बल्कि उसमें दृश्यत्व की परिकल्पना भी होती है।"[626] विभिन्न रंग-निर्देशों, रंग-साधनों, रंग-सृष्टि तथा रंग- युक्तियों से सृजित नाटक का अपना आन्तरिक रंगमंच भी होता है।

रंगमंच नाट्य रचना के भीतर होता है। रंगमंच का व्यक्त रूप है नाट्य प्रस्तुति के लिए आयोजित दृश्यबन्धादि जहाँ सम्पूर्ण जीवन स्थिति को घटित होते हुए दिखाया जाता है। शिल्प-चेतना में आए बदलाव के कारण रंग-चेतना में भी बदलाव आया। अब नाटक के कथ्य को दृश्य बना सकते, उसे मूर्त अभिव्यक्ति प्रदान करने को महत्त्व दिया जाता है। इसलिए आज की रंग-संरचना को यह गौरव प्राप्त है कि यह एक ही नाटक की कई-कई भिन्न-भिन्न दृश्य व्याख्या प्रस्तुत करे। दरअसल रंगमंच, रंग-कर्म, रंग-संरचना की खोज और पहचान तो अब जाकर शुरू हुई है, जब यह महसूस किया गया कि नाटक और रंगमंच किसी वर्ग विशेष की सम्पत्ति नहीं। वह जनमानस का बिम्ब है इसलिए उसका भोक्ता जन- जन है। इस रंग-दर्शन ने 'नाटक और रंगमंच को साधारण से साधारण आदमी से जोड़ने की पहल की, नाटक को रंग-संरचना में ढालकर जन-जन तक पहुँचाने का बीड़ा उठाया।

इसलिए आज के इन नाटकों का नायक या अन्य चरित्र सामान्य जन से लिये जाते हैं, शिल्प के धरातल पर नाटक के चरित्र दर्शक दीर्घा या दर्शकों के बीच में आकर अभिनय करते हैं। "जैसे कि नाटक के अभिनेता न होकर सामान्य दर्शक हैं जो जरूरी हो उठने के कारण मंच पर आने के लिए विवश या प्रेरित हुए हो। सामान्य जन की कथा, सामान्य जन की या सामान्य दर्शकों से अभिनेताओं का उठकर आना और फिर उन्हीं में वापस जाकर रंगशाला की दीवारों से नाटक को आजादी दिलाकर जन साधारण से उसे जोड़ने के लिए रास्ते, चौराहे पर ला खड़ा करना, रात और शाम की जगह दिन-दहाड़े नाटक प्रस्तुत करना ऐसी अनेक बातें हैं"[627] जो पिछले वर्षों सामने आए

[625] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 49

[626] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 43

[627] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 85

नये नाटकों की बदली हुई चेतना और रंग संरचना का एहसास कराती हैं। रंग-रचना प्रस्तुत करने का एक आवश्यक अंग है प्रकाश। पिछले दशक के पूर्व तक के नाटकों में सामान्यतः प्रकाश का उपयोग मंचबन्ध को इस प्रकार आलोकित रखने तक सीमित था कि दर्शक क्रिया- व्यापार स्पष्टतः देख लें लेकिन "आठवें दशक के नाटकों ने प्रकाश के विभिन्न शिल्पगत अभियोजन की सम्भावनाएँ प्रस्तुत कीं। पर्दा गिराने-उठाने की जगह दृश्य-परिवर्तन के लिए मंचीय क्रिया- व्यापार को अलग-अलग धरातल में बाँटने के लिए, स्मृति दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए, किसी घटना या चरित्र विशेष के अभिनय एवं मनोभावों की ओर दर्शकों का ध्यान केन्द्रित करने के लिए, मंच पर फैतासी दृश्यों या अतिनाटकीय स्थितियों को प्रस्तुत करने के लिए प्रकाश व्यवस्था का शिल्पगत उपयोग किया गया है।"[628] इसी प्रकार ध्वनि विस्तारक यन्त्र की नयी एवं उन्नत व्यवस्था ने संवाद भाषण की परिपाटी बदल डाली है। साथ-ही-साथ विभिन्न ध्वनियों का नाटकीय क्रिया व्यापार के साथ इस प्रकार व्यंजक प्रयोग आज की रंग-संरचना के नये शिल्प में सम्भव हो गया है कि उससे सम्पूर्ण प्रदर्शन का प्रभाव निर्धारित होता है। ध्वनि एवं प्रकाश व्यवस्था यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति से सम्बद्ध है और वैज्ञानिक तकनीक से जुड़ा है तथापि इन वैज्ञानिक उपलब्धियों की जानकारी और उनके प्रयोग की सम्भावनाओं के ज्ञान ने नये नाटककार के नाट्य रचना शिल्प को इस अर्थ में प्रभावित किया है कि वे अपने शिल्प विधान में इन सब प्रयोगों के उपयोग की सम्भावनाओं के लिए स्थान और अवकाश का सायास अभियोजन कर लेते हैं। वर्तमान समय में लिखे जाने वाले नाटकों को नवीन जीवन-दृष्टि के आधार पर रंगमंचीय उपलब्धियों के कारण हिन्दी नाटक और रंगमंच के इतिहास में गरिमापूर्ण स्थान मिला है। मोहन राकेश और डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में हिन्दी नाटक और रंगमंच की नयी दिशाएँ और सम्भावनाएँ नजर आती हैं। "हिन्दी नाट्य लेखन नवीनता के आग्रह से नयी संवेदना और शिल्प प्रयोगों से रंगमंच को समृद्ध करने का काल है।"[629] पहले मोहन राकेश के बाद एक नया नाम जो तेजी से उभर कर सामने आया, वह सुरेन्द्र वर्मा का है। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में प्रसाद से मोहन राकेश तक चली आ रही ऐतिहासिकता तथा काव्यात्मक अभिव्यंजना का निर्वाह अवश्य है। किन्तु साथ ही रंगमंच के क्षेत्र में अभिनव प्रयोगों द्वारा सुरेन्द्र वर्मा नाटकों को सार्थक जीवन्तता प्रदान करते चलते हैं। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक जीवन की व्याख्या करना ही उनका उद्देश्य है।

हिन्दी रंगमंच को अभी समृद्धि की दिशा में जाना है। समृद्धि का आशय सिर्फ धन से नहीं है बल्कि उसके फैलाव और धारदार होने से भी है। इसे समझने के लिए हमें देखना होगा कि आज कि

[628] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 53
[629] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 101

स्थिति में हिन्दी रंगमंच कहाँ है। आज की स्थिति में रंगमंच का स्वरूप और रंगमंचीयता भिन्न प्रकार की है। हिन्दी रंगमंच का प्रयोग और प्रचलन निःसन्देह बड़ा सन्तोषप्रद है । "हिन्दी नाट्य प्रदर्शन बहुत जन प्रचलित हुआ। ध्वनि, प्रकाश, मंच निर्माण, मंच सज्जा, अभिनय, रंगलेपन आदि से सम्बन्धित नये प्रयोग भी यहाँ प्राप्त होते हैं। इस काल का हिन्दी रंगमंच सर्वथा आधुनिक कहा जा सकता है।"[630] समसामयिक हिन्दी रंगमंच बड़ा प्रयोगशील है। उसने देश-विदेश की नयी-पुरानी सभी कलाओं का समाहार करके अपना मौलिक रूप गठित किया है और इस दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। "आधुनिक रंगमंच में यह कलात्मक सीमा है प्रकृतिवादी दृष्टि ही उसकी रंगशाला की चरमसीमा है। जहाँ न नाटक में कथावस्तु है, न नाटक में नायक है, न जीवन की मांसलता है, न विराट द्वन्द्व है। सब कुछ जहाँ केवल 'मूड' और 'तर्क' पर आधारित हैं। रंगमंच के प्रयोगों में लोकनाट्य ध्वनिरूपक, छायां नाटक, महिला रंगमंच, सड़कों पर नाटक, बाल रंगमंच, हैपेनिंग, ऐब्सर्ड नाटक, द्विपात्रीय, त्रिपात्रीय, एकांकी अभिनय, एकालाप, भावनाट्य, मूकाभिनय, मॉक मुशायरा, कवि दरबार, फैंसी ड्रेस आदि प्रयोग यथा स्थल दर्शनीय हैं।"[631] इस कालावधि में नाट्य प्रस्तुतीकरण कई अवसरों पर देखे गये हैं। कभी-कभी संस्थाओं द्वारा आयोजित लघु नाट्य प्रदर्शन आयोजित होते हैं। सरकारी संस्थाएँ अपने नाट्य समारोह में यदा-कदा नाट्य प्रतियोगिताएँ आयोजित करती हैं और साथ ही नाट्य विचार गोष्ठी और नाट्य शिविर भी सम्पन्न होते हैं। हिन्दी रंगमंच ने इसी बीच पश्चिमी थियेटर से अनेक तत्त्व आत्मसात किए हैं। "एब्सर्ड मंच पर अनेक प्रकार की ऊटपटाँग उपहासात्मक और विडम्बनापूर्वक झाँकियाँ दिखाई जाती हैं। प्रत्येक दृश्य सन्दर्भों से कटा रहता है। उसकी तकनीक भी नितान्त अटपटी दिखाई देती है।"[632] हिन्दी रंगमंच ने इन्हें अपने मंच पर स्वीकार किया है। इस युग में हिन्दी रंगमंच की ओर कई हिन्दी संस्थाओं और कलाकारों का झुकाव बढ़ता जा रहा है। "मुम्बई की संस्था थियेटर यूनिट तो दूसरी भाषाओं के नाटक हिन्दी मंच पर प्रस्तुत करने में बहुत सक्रिय है। हिन्दी मंच पर रूपान्तर एवं अनूदित नाटकों का प्रस्तुतीकरण क्रमशः बढ़ता जा रहा है। महानगरों में दर्शक संख्या के आधिक्यवश एक नाटक की एक प्रस्तुती ही पर्याप्त नहीं होती। अतः एक ही नाटक अनेक बार प्रदर्शित किया जाता है।"[633] हिन्दी की नाट्य संस्थाओं के नाटक को शहरों में घूम-घूमकर मंचित किये जाते हैं। नुक्कड़ नाटकों के भी कई प्रदर्शन होते हैं। इस युग का एक और बड़ी देन बाल रंगमंच है। वर्तमान हिन्दी रंगमंच ने पात्र, अभिनेता और अभिनय के क्षेत्र में कई प्रयोग किये हैं। प्राचीन मंच या नाट्य कृतियों में पात्रों

[630] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 74

[631] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 36

[632] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 72

[633] (सं.) नरेन्द्र मोहन: समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 63

के नाम दिये जाते थे पर अब दिन-प्रतिदिन इसमें नयापन दिखाई दे रहा है। एक और मंच पर एक पात्रीय, द्विपात्रीय, त्रिपात्रीय आयोजन हुए हैं। कुछ संस्थाओं ने कलाकारों को वाचिक अभिनय का प्रशिक्षण प्रारम्भ कर दिया है। वस्तुतः अभिनय कला की दृष्टि से वर्तमान रंगमंच विकासोन्मुख कहा जा सकता है।

इस युग का नाट्याभिनय मुक्ताकाशी मंच बन गया है। वे दर्शकों को बुद्धिजीवी मानते हुए नाटक के सभी पक्षों का उद्घाटन कर देते हैं। इस प्रयोग ने दर्शकों पर भारी बौद्धिक दबाव डाला है। हिन्दी रंगमंच अब दर्शकों के पर्याप्त निकट आ गया है किन्तु अब भी एकाकार स्थिति सम्भव नहीं हो सकी है। मंच निर्माण की दिशा में हिन्दी रंगमंच ने सफल प्रयोग किये हैं। कुछ संस्थाओं ने मंच सज्जा का तिरस्कार कर दिया है। "आज का हिन्दी रंगमंच चटकीली बनावटी रंग सज्जा के विरुद्ध है। इस युग में यथार्थवादी रंग सज्जा पर बल दिया जाने लगा है। हर नाटक में वही ड्राइंगरूम या अन्य प्रकार के कमरे, वही फर्नीचर, वही रंगे हुए फलक, उनमें कटे हुए दरवाजे, खिड़कियाँ इत्यादि अब नाटक में लिपटवाँ परदे का स्थान फलकों ने ले लिया है। यह है नाट्यधर्मी मंच सज्जा, प्रतीक धर्मी मंच सज्जा में केवल खिड़की बताकर पूरे मकान का आभास कराया जाता है।"[634] अथवा एक पेड़ बताकर उस स्थान विशेष का बोध कराया जाता है। आज प्रायः पात्रानुकूल वेशभूषा पहनाई जाती है, भड़कीली नहीं नाट्यारम्भ, नाट्यान्त सम्बन्धी प्रयोग, प्रकाश के प्रयोग, ध्वनियों पर प्रयोग अनेक नये-नये प्रयोग मंच से सम्बन्धित किये जा रहे हैं। वस्तुत: दर्शक रंगमंच के अभिन्न अंग हैं। उनकी रुचि ही प्रयोगों को जन्म और प्रोत्साहन देती है। प्रबुद्ध दर्शक अपने युग की स्थिति विशेष अथवा घटना विशेष से प्रभावित होते हैं। इन दिनों दर्शक समीक्षा पत्र का प्रयोग अतिप्रचलित हो रहा है। यह प्रयोग एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। समसामयिक हिन्दी रंगमंच शिल्प प्रयोग स्तर और अपनी विविध कलात्मक उपलब्धियों के कारण महत्त्वपूर्ण है। इसने परिमाण तथा उत्कृष्टता दोनों दृष्टियों से अन्य विदेशी विभाषी रंगमंचों से सफल स्पर्धा की है और अपनी अनन्त सम्भावनाओं सहित यह अनुदिन प्रगति की ओर उन्मुख दिखाई देता है। निःसन्देह हिन्दी रंगमंच का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। उसकी वर्तमान स्थिति अब शोचनीय नहीं कही जा सकती है पर भविष्य की तो अनन्त सम्भावनाएँ हैं।

[634] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 74

5.5 मूल कथा और नाट्य रूपांतरण की तुलना

प्रत्येक नाटक में एक कहानी होती है और प्रत्येक कहानी में एक नाटक होता है। प्रत्येक कला अपनी मूल प्रकृति एवं परिकल्पना में नाटकीय होती है कहानी को अलग से अथवा एक नाटक के रूप रूपांतरित करने उसकी पाठक क्षमता से दर्शक क्षमता तह पहुँचती हैं। "इसलिए कि कहानी में जो नाटक रहता है, वह इतने सूक्ष्म रूप में होता है कि उसे ठोस रूप में सामने लाने के लिए उसका नाट्य रूपांतरण करना पड़ता है। इसलिए कि शुद्ध नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से कहानी एक अपूर्ण माध्यम है और उसे पूर्णता तक पहुँचाने के लिए नाट्यविधा का आश्रय लेना पड़ता है।"[635] इसलिए कि दो अलग-अलग विधाओं के शिल्प और व्याकरण के तालमेल से एक नई विधा के जन्म में नाटकीयता अंतर्निहित है। "जो नाटक कहानी में स्वयं उपस्थित है, वह वहाँ एक रूप और आकार में उपस्थित है। एक नाटक तो वही है जो कहानी की विभिन्न घटनाओं, उनके क्रम और उनके उतार-चढ़ाव में दिखाई पड़ता है। इसी से जुड़ा दूसरा नाटक कहानी की शिल्पगत संरचना में से उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रत्येक कहानीकार अपने कथ्य को अधिक-से-अधिक ग्राह्य, संप्रेषणीय एवं प्रभावकारी बनाने के लिए उसे एक विशेष ताने-बाने और बुनावट में बाँधता है ये दोनों नाटकीय तत्त्व मूलतः कहानी के आलेख में ही उपलब्ध हैं"[636] लेकिन एक तीसरा नाटक भी है जो कहानी के आलेख से बाहर अथवा अलग घटित होता है और यह प्रक्रिया कम-से-कम दो स्तरों पर चलती है- "कहानी सुनाने और सुनने वाले के बीच अथवा कहानी पढ़ने वाले और स्वयं कहानी के बीच रहता है। कहानी के जन्म की तरफ लौटें तो वह अपने मूल रूप में सुनाने और सुनने की प्रक्रिया से उत्पन्न हुई।"[637] यहाँ यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि वस्तुतः रंगमंच के जन्म का श्रेय कहानी सुनाने की परम्परा को ही जाता है।

प्रत्येक कथा साहित्य में मूलतः एक कहानी होती है भाषा भी एक जैसी होती है और विधाओं का स्वरूप भी अलग-अलग होता है, उनमें कई ऐसे तत्त्व हैं जो इन विधाओं के अलग-अलग स्वरूप को निर्धारित करते हैं लेकिन विधा बदलने से काव्य प्रभाव और आस्वाद में भी बदलाव आता है। "साहित्य की अलग-अलग विधाओं का अलग-अलग स्वरूप होता है। न केवल उनकी रचना प्रक्रिया अलग होती है बल्कि उनके तत्त्व भी अलग होते हैं।"[638] भाषा का प्रयोग भी विधा बदल जाने पर परिवर्तित हो जाता है। इसके साथ-साथ यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है

---

[635] डॉ. रमेश कुमार : भारतेंदु हरिश्चन्द्र एवं भीष्म साहनी के नाटकों का तुलनात्मक अध्याय, पृष्ठ संख्या 156

[636] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 85

[637] राम किशोर यादव : लोक नाट्य पृष्ठ, संख्या 19

[638] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 42

कि साहित्यिक विधाओं का स्वरूप, समय और के अनुसार बदलता रहता है। विधाओं में आदान-प्रदान की प्रक्रिया चलती रहती है। कहानी का नाटक में रूपांतरण करने के लिए सबसे पहले कहानी और नाटक में वैविध्य तथा समानताओं को समझना आवश्यक है। इसके लिए हमें नाटक की विशेषताओं को समझना होगा। जहाँ कहानी का संबंध लेखक और पाठक से जुड़ता है वहीं नाटक लेखक, निर्देशक, पात्र, दर्शक, श्रोता एवं अन्य लोगों को एक-दूसरे से जोड़ता है। चूँकि दृश्य का स्मृतियों से गहरा संबंध होता है इसलिए नाटक एवं फ़िल्म को लोग देर तक याद रखते हैं।

कहानी कही जाती है या पढ़ी जाती है। नाटक मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। "नाटक को मंच पर अभिनेता अभिनय द्वारा प्रस्तुत करते हैं। मंच सज्जा होती है, संगीत होता है, प्रकाश व्यवस्था होती है। समानता यह होती है कि कहानी और नाटक दोनों में एक कहानी होती है, पात्र होते हैं, परिवेश होता है, कहानी का क्रमिक विकास होता है, संवाद होते हैं, द्वंद्व होता है, चरम उत्कर्ष होता है।"[639] इस तरह हम देखते हैं कि नाटक और कहानी की आत्मा के कुछ मूल तत्त्व एक ही हैं। यह अवश्य है कि कुछ मूल तत्त्व जैसे द्वंद्व नाटक में जितना और जिस मात्रा में आवश्यक है उतना संभवतः कहानी में नहीं है। कहानी को नाटक में रूपांतरित करने के लिए सबसे पहले कहानी की विस्तृत कथावस्तु को समय और स्थान के आधार पर विभाजित किया जाता है। हम जानते हैं कि कथावस्तु उन घटनाओं का लेखा-जोखा है जो कहानी में घटती है। हम यह भी जानते हैं कि प्रत्येक घटना किसी स्थान पर किसी समय में घटती है। ऐसा भी संभव है कि घटना स्थान तथा समयविहीन हो। कहानी की कथावस्तु और कथानक को सामने रख कर एक एक घटना को चुन कर किया रूपान्तरण किया जाता है।

अपनी सोच, स्वप्न किसी व्यक्ति के साथ सांझा करना कहानी कहलाता है। "उसी कहानी को जब कुछ कलाकार मिलकर किसी रंगमंच पर अपने आव-भाव व गुणों के साथ श्रोताओं के सामने दर्शाऐं, तो उसे नाटक कहते हैं। हमेशा नाटक कहानी से जुड़ा रहता है। कहानी के नाट्य रूपांतरण का एक दृश्य की कथावस्तु, कथानकद्ध को सामने रखकर एक-एक घटना को चुन-चुनकर निकाला जाता है और उसके आधार पर दृश्य बनता है तात्पर्य यह कि यदि एक घटना, एक स्थान और एक समय में घट रही है तो वह एक दृश्य होगा।"[640] स्थान और समय के आधार पर कहानी का विभाजन करके दृश्यों को लिखा जाता है। जिसमें कालान्तर अभिनटन का तत्त्व जुड़ता गया अर्थात कहानी सुनाते-सुनात दिखाने में परिवर्तित होती चली गई। यह सुनाना-सुनना एक

[639] डॉ. सुरेश वशिष्ठ : हिंदी नाटक और रंगमंच ब्रेख्त का प्रभाव, पृष्ठ संख्या 56

[640] राम किशोर यादव : लोक नाट्य पृष्ठ, संख्या 53

सामूहिक प्रक्रिया थी, जिसमें पूरे जन-समुदाय की हिस्सेदारी होती थी। भले ही कहानी सुनाने वाला एक व्यक्ति रहा हो लेकिन यह निश्चित है कि उसे सुनने वाले सदा से संख्या में एकाधिक रहे हैं। "देश के अलग-अलग प्रान्तों में आज भी न जाने कितनी कथावाचन एवं श्रवण की शैलियाँ वर्तमान हैं, चाहे वह मध्य प्रदेश में पंडवानी हो, महाराष्ट्र में कीर्तन हो, मणिपुर में लाई हरोबा हो, राजस्थान में बातपोश, पाबू जी का पढ़, गुजरात में आख्यान और बुंदेलखंड में आल्हा ऊदल हो।"[641] बहुत दूर न जाएँ तो आज भी घरों-परिवारों में रात में नाना-नानी या दादा-दादी जैसे बड़े-बूढ़े लोगों से कहानी सुनने की परंपरा मौजूद है, बेशक संयुक्त परिवार की प्रथाएँ धीरे-धीरे हशिये पर आती चली गई हैं।

अभी तक आदिकाल से लेकर आज तक कहानी सुनाने की जितनी भी शैलियों और परंपराओं का ज़िक्र किया गया है, वे सभी कहानी के मौखिक आलेख पर आधारित हैं। "यहाँ कहानी पहले से लिखी हुई अथवा मुद्रित नहीं है। यह भी नितांत संभव है कि सुनाने वाला उसी क्षण कहानी की आशु-रचना कर रहा हो, जब वह उसे सुनाने की प्रक्रिया से गुज़र रहा है, यदि कथ्य पहले से जाना-पहचाना नहीं है लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि कहानी का एक अपना नाटकीय और रंगमंचीय संसार यहाँ भी साकार होने लगता है।"[642] सबसे पहले तो वाचक की जीवंत उपस्थिति, उसकी आवाज़, वाचनशैली, अंग-संचालन, हाव-भाव और कभी-कभी कथा के बहाव के साथ अचानक उठकर खड़े हो जाना, नृत्य करने लगना अथवा अभिनटन की स्थिति तक पहुँच जाना अर्थात् वह जो कुछ सुना रहा है, "उसे दिखाने की स्थिति तक ले जाना श्रोताओं के सामने कुछ भी ठोस दृश्य में न होते हुए भी क्या वे उस दृश्य-संसार को नहीं देख रहे हैं, अनुभूत नहीं कर रहे हैं और अपनी तात्कालिक प्रतिक्रियाओं के माध्यम से उन बेशुमार पात्रों और घटनाओं के साथ एक अंतरंग संबंध स्थापित नहीं कर रहे हैं? यही वह नाटकीयता है, जो बहुत संभव है, स्वयं कहानी में बहुत दूर तक मौजूद न हो लेकिन सुनाने वाले की अपनी कला और सुनने वाले की अपनी ग्राह्यता एवं कल्पना पर निर्भर करती है।"[643] इसी अनुभव का एक बिलकुल दूसरा रूप तब आकार ग्रहण करता है, जब कहानी लिखित और प्रकाशित रूप में पाठक को उपलब्ध है। बेशक, यहाँ पहले की तुलना में अनुभव-प्रक्रिया ठीक विपरीत है, क्योंकि जहाँ पहली प्रक्रिया एक समूह को अपने साथ लेकर चलती है, वहाँ दूसरी प्रक्रिया मात्र एक पाठक तक सिमटकर रह गई है। यहाँ तक कि लेखक रचयिता या वाचक की जीवंत उपस्थिति भी यहाँ नदारद है। बोले जाने वाले शब्दों के

[641] डॉ. सुरेश वशिष्ठ : हिंदी नाटक और रंगमंच ब्रेख्त का प्रभाव, पृष्ठ संख्या 85

[642] डॉ. रघुवर दयाल वाष्णेय: भारतीय रंगमंच उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या 41

[643] देवेन्द्र राज अंकुर: पहला रंग, पृष्ठ संख्या 96

स्थान पर पाठक अपने एकांत में उनकी ख़ामोश उपस्थिति को अपनी आँखों से पढ़ रहा है और शायद अपने भीतर में सुन भी रहा हो। लेकिन कहानी का दृश्यजगत यहाँ भी साकार होता है, चाहे वह उस अकेले पाठक के लिए हो। इसी प्रक्रिया को एक अलग रूप में लाया जाए, जहाँ या तो लेखक स्वयं अपनी कहानी पढ़कर सुना रहा हो या उसी कहानी को कोई दूसरा पढ़कर सुनाए तो वह अनुभव मौखिक कहानी के सामूहिक श्रवण और प्रकाशित कहानी के एकांत पढ़ने के दो छोरों के बीच एक तीसरा विकल्प होगा।

संक्षेप में, अब तक के विवेचन से यह पूरी तरह से स्पष्ट और प्रमाणित हो जाता है कि "कहानी की नाटकीयता उसके अपने मूल आलेख में से ही पकड़ी जा सकती है, उसके लिए कहानी के फार्म को तोड़-मरोड़कर नाटक में परिवर्तित करने की क़तई ज़रूरत नहीं है।"[644] चूँकि आज हमारा सरोकार मुख्य रूप से कहानी के उस आधुनिक आलेख से है, जो हमारे सामने प्रकाशित शब्द के रूप में उपस्थित है, तो उसी को केंद्र में रखकर चर्चा को आगे बढ़ाया जाए। इस प्रकार "यह प्रक्रिया कहानी के साथ अब तक जुड़े अनुभवों से आगे की कड़ी तो है ही, कहीं-न-कहीं उन सबसे बिलकुल अलग भी है और यह अलगाव, नयापन और वैभिन्न पैदा होता है वाचक या लेखक के स्थान पर अभिनेता के आगमन से, जो इससे पूर्व कथावाचन की किसी शैली और परम्परा में नहीं हुआ और न ही शायद वहाँ उसकी कोई आवश्यकता भी थी।"[645] अभिनेता के आने के बाद कहानी मुख्यतः अभिनटन हो गई, वाचन मात्र नहीं रही। इस बात को रेखांकित किया जाना चाहिए कि कहानी जैसी विधा अपने मुद्रित रूप में जहाँ बिलकुल एकांतिक विधा बनकर रह गई थी, वहाँ अभिनेता के हस्तक्षेप से वह पुनः एक सामूहिक अनुभव में तब्दील हो गई और सबसे बड़ी बात यह कि कहानी ने इस यात्रा को स्वयं अपनी शर्तों पर तय और पूरा किया और स्वयं अपने भीतर से दर्शकों के लिए एक रंगमंचीय संसार को जीवित किया। नाट्यरूपान्तरण उतना ही प्राचीन है जितना कि साहित्य। दरअसल "नाट्यरूपान्तरण साहित्य को और उसके द्वारा वांछित संदेश को प्रसार करने में सक्षम है। इसे पहचान विद्वानों ने प्राचीन काल से ही साहित्यिक विधाओं का नाट्यरूपान्तरण आरम्भ कर दिया था।"[646] पहला नाटक अमृत मंथन माना जाता है उसमें भी साहित्य का नाट्यरूपान्तरण ही द्रष्टव्य है प्राचीन धार्मिक तथा लोक नाटक आदि भी इसी बात के प्रमाण हैं यह कहा जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगी कि नाटक से प्रभावित होकर सिनेमा रेडियो तथा दूरदर्शन आदि की प्रसिद्धि है उन्हें कार्यक्रम प्रमुखतः नाट्यरूपान्तरण के ही अगले चरण हैं उपर्युक्त

[644] डॉ. सुरेश वशिष्ठ : हिंदी नाटक और रंगमंच ब्रेख्त का प्रभाव, पृष्ठ संख्या 38

[645] राम सागर त्रिपाठी : भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 84

[646] राम किशोर यादव : लोक नाट्य पृष्ठ, संख्या 86

तीनों माध्यमों ने साहित्य के सहारे ही अपनी साख बनायी है। सारे साहित्य को इस मीडिया ने नाटक के रूप में ही रूपान्तरित किया हैं अगर केवल रूपान्तरण की बात करें तो अनुवाद भी एक प्रकार से रूपान्तरण ही है अनुवाद के माध्यम से भी भाषा साहित्य संपन्न हुए हैं और यह रूपान्तरण भारत में प्राचीनकाल से होता आया है।

आधुनिक काल में नाट्यरूपान्तरण की प्राचीन परम्परा को कुछ बदलकर प्रस्तुत किया गया है जिसे कहानी का रंगमंच नाम दिया गया है। "जैसे प्राचीनकाल में रामलीला तथा रासलीला आदि का उद्देश्य साहित्य को मंचीय स्तर पर प्रकट करना तथा तत् द्वारा सामाजिक स्थिति और गतियों का अनुशासन करना था।"[647] उसी उद्देश्य को लेकर आज भी नाटक चल रहा है, चाहे उसमें मनोरंजन का अंश कुछ अधिक क्यों न जुड़ गया हो। प्राचीनकाल में महाकाव्यों के सार मात्र को मंच पर प्रस्तुत किया जाता था या किसी एक घटना को लेकर ही उसका नाट्यरूपान्तरण किया जाता था। इस प्रकार के नाट्यरूपान्तरण आज भी होते हैं। क्योंकि मंच की अपनी समय सीमा होती है। "निर्मल वर्मा की कहानियाँ धूप का एक टुकड़ा, डेढ़ इंच ऊपर तथा वीकएण्ड तीन कहानियों को लेकर देवेन्द्रराज अंकुर जी ने 'तीन एकान्त' शीर्षक से प्रस्तुत किया। इसमें कुछ शब्दों आदि परिवर्तन के अपवादों को छोड़कर कहानी को हू-ब-बू प्रस्तुत किया गया है। ऐसी बात प्राचीनकाल में दिखाई नहीं देती है।"[648] अतः इसे नई शुरूआत नाम दें तो गलत न होगा। यह आरम्भ एक नई परम्परा को स्थापित करने वाला है। इससे नई पद्धतियाँ नई अवधारणाएँ और नये रूपान्तरण की योजनाएँ बनने की संभावनाएँ अधिक दिखाई दे रही हैं। इसी दृष्टि से तीन कहानियों के मंचन का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

[647] पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 49

[648] डॉ. पवन कुमार मिश्र : हिंदी नाटक और रंगमंच, पृष्ठ संख्या 51

उपसंहार

नाटक रंगमंच के लिए होता है किन्तु रंगमंच से भी पहले वह नाटक नाटककार का होता है, जो अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से उसकी रचना ही नहीं करता वरन रचना करते हुए उसे अपने मानस पर अभिनीत होते भी देखता है। वस्तुतः वह नाट्यकृति की अवधारणा अथवा सर्जना की प्रक्रिया में ही उसके प्रस्तुतीकरण के पूरे ढाँचे की भी कल्पना करता है और इस प्रकार रंगधर्मिता में भी वह रंगकर्मियों का पूरी तरह समभागी होता है किन्तु नाट्यकृति को जब रंगमंच पर लाने की बात उठती है तो कई बार रंगमंच नाटक से पीछे छूट जाता है अथवा नाटक की परिकल्पना स्वयं रंगमंच के दायरे में नहीं आ पाती है। किसी नाटक का लिखित रूप पाठक के मन में गम्भीर उत्तेजना ला सकता है किन्तु दर्शक की पूर्ण प्रशंसा का विषय नाटक का वैभवशाली संगठन है। नाटककार किसी भी उपन्यासकार की भाँति परिवेश के प्रति मुक्त है, परन्तु उसका वास्तविक कार्य क्षेत्र मंच की दृष्टि से केवल कार्य और शब्दों तक ही सीमित है। नाटक बिना रंगसज्जा और रंगदीपों के तो दर्शाया जा सकता है किन्तु जीवित कलाकारों के अभाव में इसका प्रस्तुतीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि पात्रों के माध्यम से ही लेखकीय कार्य की अभिव्यक्ति सम्भव है। नाटक के लिखित और अभिनीत रूप में अन्तर है। सामान्य आख्याय की अपेक्षा लिखित नाटक का रसास्वादन अधिक जिम्मेदारी की माँग करता है। यदि नाटक का काल्पनिक मनः संवेदन करना है, तो अभिनीत कृति जैसा पूर्ण प्रभाव और आनन्द लेने के लिए पाठक को एक साथ पात्र, निदेशक, रंगसाधक एवं प्रकाशवाहक की भी परिकल्पना करनी होगी। नाटक को ऐसी सजग सामाजिक कला माना गया है, जिसमें नाटककार और दर्शक का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। यह नाटक का मूल कार्य, जिसकी स्थिति पात्रों में स्वीकार की गयी है, पात्र क्रियाओं द्वारा जिसे प्रस्तुत करते हैं, वही नाटक है। इस प्रकार नाटक केवल दर्शन नहीं कारण कार्य युक्त क्रियात्मक दर्शन है भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टिकोणों को मिलाकर कहा जा सकता है कि नाटक अभिनय द्वारा जीवन के यथार्थ को रंगमंच पर प्रस्तुत करने वाली ऐसी संवेदनशील विधा है, जो अपने संरचनात्मक ढाँचे में अन्य विधाओं से अलग है।

भारतीय रंगमंच, साहित्य और अन्य कलाओं की अंतर्निर्भरता, अंतर्द्वंद्व तथा पारस्परिक संबंधों के अनेक पहलुओं को लेकर आज कई तरह से संवाद जारी है देखा जाए तो भारतीय रंगमंच अपनी प्रकृति में थिएटर है, जिसमें साहित्य, रूपंकर और प्रदर्शनकारी कलाएँ समाविष्ट हैं। कहा जा सकता है कि संश्लेषण तो उसकी बुनियाद में है। रंगमंच का उद्देश्य अन्य कलारूपों को अपने में विलीन करना नहीं, बल्कि उन्हें रूपांतरित करते हुए उनकी विशिष्टताओं को एक नए रूप में सँवारना और नई पहचान देना है इसीलिए इसमें विभिन्न कलाओं के पारस्परिक संबंधों और

प्रभावों की नई दिशाओं और संभावनाओं के संकेत मिलते हैं। भारतीय रंगमंच में संस्कृत की समृद्ध शास्त्रीय नाट्य परंपरा रही है यह भी सच है कि रंगमंच के प्रारम्भिक दौर के बारे में हमारी निश्चित जानकारी बहुत कम है। फिर भी इतना तो बेहिचक कहा ही जा सकता है कि भारत में नाट्यात्मक कार्य की शुरूआत आदिम अनुष्ठानों या उत्सवों आदि से ही हुई। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, विश्वामित्र-नंदी, इन्द्र-अदिति आदि अनेक सूक्त-संवाद मूलक हैं जो किसी-न-किसी प्रकार के अनुकरण या नाटकीय संयोजन का आभास देते हैं।

भरतमुनि को भारतीय नाट्यकला का मूल प्रवर्तक और प्रस्तोता मान जाता है। यहाँ तक कि उनके रचित नाट्यशास्त्र को 'पंचमवेद' की संज्ञा दी गयी अपने नाट्यशास्त्र में उन्होंने विस्तार से नाट्य-रचना, नाट्य मंडप, अभिनय, गीत-संगीत और नाट्य-प्रस्तुति आदि का विवेचन किया है। उनके पूर्ववर्ती काल में रंगमंच पूरी तरह विकसित हो चुका था, इसके प्रमाण तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं किन्तु संस्कृत- नाटकों के इस समृद्ध युग के बाद रंगमंच की परंपरा टूटती प्रतीत होती है, इसके बाद लगभग एक पूरी सहस्राब्दी में भारतीय भाषाओं में नाटक न के बराबर दिखाई पड़ते हैं। जो भी हैं वे संस्कृत-नाटकों की अनुकृति मात्र हैं, सबसे से पहले उन्नीसवीं शताब्दी में जब भारतीय संस्कृति का पश्चिमी संस्कृति से जो साक्षात्कार हुआ उसने हमारे जीवन के सभी पक्षों को बुनियादी तौर से प्रभावित किया है। खासकर भारतीय रंगमंच का तो रूप, दिशा, गति सब कुछ बदल दिया। हालांकि भारतीय रंगमंच पहले से भी कई स्तरों पर प्रभावित होते रहे थे पर पहले के ढाई-तीन हजार वर्ष में हमारा रंगमंच अपनी ही जीवन- दृष्टि के अनुरूप, अपनी संस्कृति के विभिन्न पक्षों के आधार पर और अपनी सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों के दबाव में नये रूप ग्रहण करता रहा था जिसमें सबसे बड़ी बात थी कि उसमें कोई आत्म-विभाजन न था, उसका मूल रूप और सौंदर्य-बोध संस्कृत-रंगमंच के चरण में पूरे देश में और मध्ययुगीन पारम्परिक रंगमंच के चरण में विभिन्न भाषा क्षेत्रों में सारे जनसमुदाय के लिए लगभग एक जैसा था, भले ही शहरों और गाँवों में उसकी सूक्ष्मता, जटिलता और पद्धतियों में अंतर रहता हो। मगर पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से जो नया रंगमंच हमारे देश में उभरा वह इन सभी बातों में भिन्न था क्योंकि उसने एक ऐसे रंगमंच के अनुकरण में रूप ग्रहण किया था जिसके जीवन-दृष्टि और सौंदर्य-बोध दोनों मूलतः भिन्न थे। भारतीय चिंतन जहाँ नाटक और रंगमंच का उद्देश्य मनुष्य की विभिन्न स्थितियों, अवस्थाओं और भावों के चित्रण द्वारा अंततः आनंद और रस की सृष्टि था वहीं पश्चिमी नाटक का उद्देश्य जीवन को संघर्षमूलक दिखाना और उस संघर्ष के विभिन्न रूपों को उद्घाटित करना था यानी उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिमी नाटक और रंगमंच से भारतीय रंगमंच का जो परिचय हुआ वह भारतीय नाटक और रंगमंच से हर बातों में भिन्न था। बीसवीं सदी में भारत को स्वाधीनता मिलने के बाद हमारे यहाँ रंगमंच के स्वरूप और

रंगकर्मियों के उद्देश्य में काफी परिवर्तन आया पाँचवाँ और छठा दशक आधुनिक भारतीय रंगमंच के विकास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। इस काल में भारतीय रंगमंच में जहाँ पश्चिमी रंगमंच के श्रेष्ठ नाटककारों के नाटक हिन्दी में अनुवाद होने लगे वहीं रंगमंच पर कई प्रयोग भी किए गए देश के प्रमुख नगरों, महानगरों में भारतीय रंगमंच के निर्माण की ओर लोगों का ध्यान गया।

रंगमंच को बढ़ाने के लिए हम नाट्य रूपान्तरण को उसकी अगली कड़ी मान सकते हैं। जब एक नाटककार नाटक लिखता है तो उसके सामने मंच, दर्शक, संगीत, कोष्ठक, प्रवेश, प्रकाश, मंच सज्जा इत्यादि सारी चीजें उसके मष्तिष्क में रहती है लेकिन जब कथाकार किसी कथा की रचना करता है जब उसके सामने केवल पाठक होता है। रचनाकार यह नहीं सोचता कि जो वह लिख रहा है पाठक उसका मन में कैसा चित्रण करेगा लेकिन नाटककार सामने यह चुनौती हमेशा से रहती है। नाट्य रूपान्तरण प्राचीन समय से हो रहा है, जिसमें पौराणिक कथाओं, रामलीला और रासलीला इत्यादि के विषय में बताया जा चुका है। आज के समय में हिंदी साहित्य में लिखी जा रही प्रत्येक विधा का रूपान्तरण मंच के लिए किया जा रहा है जिससे उसकी पाठक क्षमता को दर्शक दीर्घा में बदला जा सके। देखी हुई चीजें अधिक देर तक याद रहती है। इस कारण हमें फ़िल्में अथवा देखे हुए नाटक और देखी हुई घटना का वर्णन आसानी से कर लेते हैं। जिन रचनाकारों की कहानियों और उपन्यासों के विषय में लिखा गया है उनमें से कई नाटककार भी हैं, इस कारण उनकी रचनाओं में नाटकीय तत्व मौजूद हैं। प्रेमचंद, भीष्म साहनी, अमरकांत, उषा प्रियंवदा, फणीश्वरनाथ रेणु, हजारीप्रसाद द्विवेदी, मन्नू भंडारी, श्रीलाल शुक्ल, काशीनाथ सिंह, निर्मल वर्मा आदि की रचनाओं में संकलनत्र मौजूद रहता है। जिस कारण इसे कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपान्तरण में परिवर्तित करना अन्य कहानियों के मुकाबले कम चुनौतीपूर्णकार्य है। नाटक के मंचन में कई बार कहानी के मूल क्राफ्ट को बदला भी जाता है लेकिन उसकी संवेदना बरक़रार रखी जाती है। इनकी कई कहानियों का नाट्य रूपान्तरण और मंचन हो चुका है।

सदर्भ ग्रन्थ एवं सहायक ग्रन्थ सूची

- डॉ. नर्वदेश्वर राय : हिंदी नाट्यशास्त्र का स्वरुप, बिहार ग्रन्थ कुटीर प्रकाशन, संस्करण 1993
- लक्ष्मीनारायण लाल : रंगभूमि भारतीय नाट्य सौन्दर्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, संस्करण 1989
- सं. डॉ. जयदेव तनेजा : नाट्य विमर्श मोहन राकेश, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, संस्करण 2003
- प्रो. ए. अच्युतन : नाट्य अनुवाद एवं भारतीय रंगमंच, प्रकाशन शब्द सेतु, संस्करण 2006
- डॉ. महेश्वर प्रसाद सिंह : संस्कृत रूपक और प्राकृत (एक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन) आदित्य बुक सेंटर दिल्ली और वाराणसी, संस्करण 1997
- देवेन्द्र राज अंकुर : सातवाँ रंग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2010
- डॉ. देवेन्द्र कुमार गुप्ता : हिंदी नाट्य शिल्प : बदलती रंग दृष्टी, पियूष प्रकाशन, संस्करण 2005
- जयदेव तनेजा : हिंदी रंगकर्म दशा और दिशा, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1988
- इंद्रनाथ मदान : हिंदी नाटक और रंगमंच पहचान और परख, तक्षशिला प्रकाशन, संस्करण 1988
- जयदेव तनेजा : नई रंग चेतना ओर हिंदी नाटककार, तक्षशिला प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 1994
- संपादक सोमनाथ शुक्ला : आज का नाटक, दिवेश प्रकाशन सुलतानपुर, संस्करण 1992
- निर्मल वर्मा : मेरी प्रिय कहानियां, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1990
- निर्मल वर्मा : तीन एकांत (कहानियों का नाट्य रूपांतरण) राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1990
- दिनेश खन्ना : कथा कोलाज़ (भाग 1-2), राष्टीय नाट्य विद्यालय, संस्करण 1994
- नेमिचंद्र जैन : रंग दर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 1983
- सं. डॉ. विनय : समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, भारतीय भाषा प्रकाशन, संस्करण 1981
- अभिव्यक्ति और माध्यम : एन. सी. ई. आर. टी. दिल्ली (कक्षा 11-12) संस्करण 2006
- संपादन महेश आनंद : कहानी का रंगमंच, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2001
- डॉ. करन सिंह उत्वाल : कहानी का रंगमंच और नाट्य रूपांतरण, जवाहर पुस्तकालय मथुरा, संस्करण 2008
- सं. प्रेम सिंह, सुषमा आर्य : रंग प्रक्रिया के विविध आयाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 2007
- सं डॉ. धीरेन्द्र शुक्ल : हिंदी नाट्य परिदृश्य, प्रकाशन संस्थान, संस्करण 2016

- डॉ. मिथिलेश गुप्ता : समकालीन हिंदी नाटक रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में, भावना प्रकाशन, संस्करण 2004
- संपादक महेश आनंद : कहानी का रंगमंच, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2001
- सुप्रिया पाठक : रंगमंच एवं स्त्री, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2018
- डॉ. देवेन्द्र स्वामी : आधुनिक नाटक दृष्टि एवं शिल्प, भावना प्रकाशन, संस्करण 2006
- सत्यदेव त्रिपाठी : हिंदी रंगमंच समकालीन विमर्श, अनन्य प्रकाशन, संस्करण 2017
- अवधेश चन्द्रगुप्त : स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक विचार तत्व, नीरज बुक सेंटर, संस्करण 1984
- ए.आर. देसाई : (अनु.) वंदनामित्र : भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, संस्करण 1978
- कालिकाप्रसाद (सं.) : बृहत् हिंदी कोश, छठा संस्करण, ज्ञान मंडल लि. विक्रम भवन, वाराणसी
- कृपाशंकर सिंह : हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी- हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता और अंग्रेज़ी राज, प्रासंगिक प्रकाशन, संस्करण 1992
- के. दामोदरन (अनु.) जी. श्रीधरन : भारतीय चिंतन परंपरा, पीपुल्स पब्लिशिंग, संस्करण 1979
- किरणचंद्र वर्मा : हिंदी नाटक में विद्रोह की परंपरा, विचार प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1991
- कुसुम कुमार : हिंदी नाटक चिंतन, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1977
- कुँवर चंद्र प्रकाश सिंह : हिंदी नाटक साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, भारतीय ग्रंथ भंडार, संस्करण 1964
- कमलिनी मेहता : हिंदी नाटक और यथार्थवाद, नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण 1968
- कमल सूर्यवंशी : नाटककार डॉ. रामकुमार वर्मा, विकास प्रकाशन, संस्करण 1989
- कमला प्रसाद, राजेंद्र अरुण : नाटक की इबारत, म.प्र.सा. सम्मेलन, भोपाल, संस्करण 1983
- गणेशदत्त गौड़ : आधुनिक हिंदी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, सरस्वती पुस्तक सदन, संस्करण 1965
- गोविंद चातक : आधुनिक हिंदी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, तक्षशिला प्रकाशन, संस्करण 1982
- गुलाबराय : हिंदी नाट्य विमर्श, मेहरचंद लक्ष्मणदास, लाहौर, संस्करण 1940
- गोपीनाथ तिवारी : भारतेंदुकालीन नाटक साहित्य, हिंदी भवन, जालंधर, संस्करण 1959
- गजानन सुर्वे : स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक का सांस्कृतिक अध्ययन, साहित्य रत्नालय, संस्करण 1982

- गिरीश रस्तोगी : समकालीन हिंदी नाटककार, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1982
- गिरीश रस्तोगी : हिंदी नाट्य सिद्धांत और विवेचन, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1967
- गिरिराज शर्मा 'गुंजन' : हिंदी नाटक मूल्य संक्रमण, संघी प्रकाशन, संस्करण 1978
- चन्द्रशेखर : लक्ष्मीनारायण लाल की रंगयात्रा, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1979
- चंदूलाल दुबे : हिंदी नाटक का रूपविधान और वस्तुविकास, दिल्ली पुस्तक सदन, 1987
- देवेन्द्र राज अंकुर (संपादक) : दृश्यालेख, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, संस्करण 2009
- नेमिचंद्र जैन (संपादक) : नए हिंदी लघु नाटक - राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, संस्करण 2016
- कपिला वात्स्यायन : अनुवाद बदीउज्जमा, पारम्परिक भारतीय रंगमंच अनंत धाराएँ, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, संस्करण 2015
- डॉ. दशरथ ओझा : आज का हिन्दी नाटक, राजपाल एंड सन्स, संस्करण 1984
- जयदेव तनेजा: आज के हिन्दी रंगनाटक: परिवेश और साहित्य परिदृश्य, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1980
- नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक, भारती भाषा प्रकाशन, संस्करण 1979
- नरनारायण राय : आधुनिक हिन्दी नाट्यालोचन : नयी भूमिका, वाणी प्रकाशन, संस्करण 1979
- सावित्री स्वरूप : नव्य हिन्दी नाटक, अभिनव प्रकाशन, संस्करण 1976
- सं. डॉ. विश्वभावन देवलिया : नाट्य प्रशिक्षण: स्वरूप और दिशाएँ, संस्करण 1993
- डॉ. कमलिनी मेहता : नाटक और यथार्थवाद, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, संस्करण 1968
- डॉ. लक्ष्मी नारायण भारद्वाज : नाटक परंपरा और परिवेश, के.एल. पचौरी प्रकाशन, संस्करण 1988
- नरनारायण राय : नाट्य रचना विधान और आलोचना के प्रतिमान, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, संस्करण 1980
- ओम प्रकाश शर्मा 'प्रकाश' : नाटकीय तत्व : व्याख्या और व्याप्ति,, पाण्डुलिपि प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 1987
- रामशोभित प्रसाद सिंह : नाटक समालोचना संदर्भ,, जानकी प्रकाशन, संस्करण 1979
- डॉ. चन्द्र : नाट्य चिन्तन: नये संदर्भ, सा.र. कानपुर, संस्करण 1987
- नेमिचन्द्र जैन : बदलते परिवेश, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1968
- शिवकुमार : भारत के लोकनाट्य, मधुर वाणी प्रकाशन, संस्करण 1980

- रीतारानी पालीवाल : रंगमंच : नया परिदृश्य, लिपि प्रकाशन, संस्करण 1980
- वीरेन्द्र नारायण : रंगकर्म, आलेख प्रकाशन, संस्करण 1979
- डॉ. महेन्द्र भानावत : लोकनाट्य परम्परा और प्रवृतियाँ, बाफना प्रकाशन, संस्करण 1971
- रामजन्म शर्मा : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 1985
- रीता कुमार : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक, वि.भू. प्रकाशन, संस्करण 1980
- सुन्दर लाल कथूरिया : समसामयिक हिन्दी नाटक: बहुआयामी व्यक्तित्व, साहित्कार प्रकाशन, संस्करण 1980
- नरेन्द्र नाथ त्रिपाठी : साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में स्त्री-पुरुष संबंध, सारस्वत प्रकाशन, संस्करण 1985
- डॉ. मान्धाता ओझा : हिन्दी समस्या नाटक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, संस्करण1968
- डॉ. विनय कुमार : हिन्दी के समस्या नाटक, नीलाभ प्रकाशन, संस्करण 1968
- हिन्दी नाटक और रंगमंच : पहचान और परख, इन्द्रनाथ मदान, लिपि प्रकाशन, संस्करण 1972
- ज्ञानसिंह मान : हिन्दी काव्य नाटकों में नाटकीयता का स्वरूप, क्लासिकल पब्लिकेशन्स, संस्करण 1980
- सिद्धनाथ कुमार: हिन्दी पद्य नाटक: सिद्धांत और इतिहास, आलोक प्रकाशन, संस्करण 1979
- शिव शंकर कटारे: हिन्दी गीति नाट्य: सिद्धांत और समीक्षा, प्रगति प्रकाशन संस्करण 1979
- डा. दशरथ राय ओझा : हिन्दी नाटक कोष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, संस्करण 1975
- डॉ. रमेश गौतम : हिन्दी के प्रतीक नाटक, नचिकेता प्रकाशन, संस्करण 1980
- परमानन्द श्रीवास्तव : हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया, ग्रन्थम् रामबाग, संस्करण 1965
- डॉ. रामकुमार गुप्त : हिन्दी नाटक के प्रमुख हस्ताक्षर, जवाहर पुस्तकालय मथुरा, संस्करण 1980
- डॉ. चन्द्रशेखर : हिन्दी नाटक और लक्षमी नारायण लाल की रंगयात्रा, प्रवीण प्रकाशन, संस्करण 1979
- सं. पुष्पपाल सिंह : हिन्दी साहित्य: आठवां दशक, सूर्य प्रकाशन, संस्करण1984
- रेखा अवस्थी : राग दरबारी आलोचना की फांस, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2014

पत्रिकाएं

- वागर्थ : संपादक - एकान्त श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी, मई 2013
- समीक्षा : संपादक - सत्यकाम, अंक जनवरी मार्च 2018, वर्ष 50 अंक 4
- अनभै सांचा : जनवरी जून 2018, सम्पादक - द्वारका प्रसाद चारुमित्र
- समकालीन भारतीय साहित्य : संपादक मंडल विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चंद्रशेखर कम्बार, के. श्रीनिवासराव, वर्ष 38 अंक 194, नवम्बर दिसम्बर 2017
- नुक्कड़ : जन नाट्य मंच - खंड 5 अंक 14-15, जनवरी जून 2002
- साहित्य सेतु : संपादक डॉ. पी. सत्ति रेड्डी, आन्ध्र प्रदेश हिंदी अकादमी, वर्ष 1, अंक 3 अप्रैल जून 2015
- अकार : संपादक - गिरिराज किशोर, अप्रैल- जुलाई 2009
- वाक् : संपादक - सुधीश पचौरी, अंक 14, जनवरी- मार्च 2013
- वागर्थ : संपादक - एकान्त श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी, अंक 246, जनवरी 2016
- नटरंग : संपादक - अशोक वाजपेयी और रश्मि वायपेयी, खंड 22, अंक 89-90, जुलाई दिसम्बर 2011
- नया पथ : संपादक - मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, वर्ष 29 अंक 1, अक्टूबर-मार्च 2015
- अलाव : संपादक - राजकुमार कृषक, अंक 42, मई अगस्त 2014
- समकालीन भारतीय साहित्य : संपादक मंडल विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चंद्रशेखर कम्बार, के. श्रीनिवासराव, वर्ष 38 अंक 194, मई-जून 2014